आत्म-निरीक्षण

[एक आत्मकथा]

गोविन्ददास

१९५८

प्रकाशक

भारतीय विश्व-प्रकाशन

फव्वारा—दिल्ली

गोविन्ददास ग्रन्थावली खण्ड ४ और ५

आत्म-निरीक्षण (तीन भाग)

प्रयत्न (भाग १)
प्राप्त्याशा (भाग २)
नियताप्ति (भाग ३)

मुख्य वितरक

भारती साहित्य मन्दिर

(एस० चन्द एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध)

आसफअली रोड	नई दिल्ली
फव्वारा	दिल्ली
माई हीरां गेट	जालन्धर
लालबाग	लखनऊ

मूल्य ८)

मुद्रक—रसिक प्रिंटर्स, ५ सन्त नगर, करौल बाग, नई दिल्ली-५

तीसरा भाग

नियताप्ति

तीसरे भाग की सूची

पृष्ठ

तीसरे भाग की सूची

जेल में निर्धारित कार्यक्रम का आरम्भ

जेल से निकलते ही मैंने जेल में निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार राजनैतिक काम आरम्भ किया।

पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र का विरोध कर एक नये राजनैतिक दल के निर्माण का अर्थ था अब तक जिनके साथ काम किया था उनमें से अधिकांश को छोड़ उन लोगों के साथ काम करना जो अब तक हमारे विरोधी रहे थे। चूँकि मैं जबलपुर में रहता हूँ और जबलपुर महाकोशल की राजधानी है अतः सर्वप्रथम जबलपुर में ही इस नये दल का संगठन करना था। जबलपुर में हमारे विरोधियों का एक दल संगठित था ही। इसके प्रमुख लोगों में थे--श्री भवानीप्रसादजी तिवारी, श्री सवाईमलजी जैन, श्री गुलाबचन्दजी गुप्त, श्री गणेशप्रसादजी नायक आदि। कुछ ऐसे लोग भी थे जो किसी दल विशेष में न थे, पर जिनसे मेरा व्यक्तिगत सम्पर्क था और जो मिश्रजी से कम अप्रसन्न न थे। इनमें थे मुख्य—श्री लक्ष्मणसिंहजी चौहान, श्रीमती सुभद्राकुमारीजी चौहान, श्री काशीप्रसादजी पाण्डे आदि। कुछ ऐसे भी लोग थे जिनके लिए मिश्रजी और मैं दोनों ही समान थे, पर जो मेरे मतानुसार मिश्रजी से मेरी ओर खींचे जा सकते थे। इनमें मुख्य थे श्री कुंजीलालजी दुबे, श्री व्योहार राजेन्द्रसिंहजी आदि। मैंने इन सबसे अपना सम्पर्क बढ़ाना आरम्भ किया और जबलपुर में यह करने के बाद यही कार्य सारे प्रान्त में करना शुरू कर दिया। प्रान्त में भी इस प्रकार के कुछ लोग मिल ही गये, परन्तु जबलपुर की अपेक्षा बहुत ही कम। प्रान्त में अधिकांश लोग ऐसे जान पड़े जो मिश्रजी के और मेरे किसी प्रकार के भी झगड़े को प्रान्त का सबसे महान् दुर्भाग्य मानते थे और यदि इस प्रकार का कोई झगड़ा होवे ही तो उसमें सर्वथा तटस्थ रहना चाहते थे।

जबलपुर से जो दैनिक पत्र निकालने का मैं जेल से निर्णय करके आया था वह पत्र मैंने नागपुर के "नवभारत" के मालिक रामगोपालजी की शराकत

में निकालना तय किया। रामगोपालजी इस क्षेत्र में सफल व्यक्ति माने जाते थे और श्री ब्रिजलालजी बीयाणी के परम मित्रों में से एक थे। रामगोपालजी और हम लोगों के सहयोग के बाद मैंने सरकार से कागज का 'कोटा' प्राप्त किया जिसके बिना उस समय कोई पत्र न निकल सकता था। इसके पश्चात् इस पत्र के प्रकाशन के लिए एक लिमिटेड कम्पनी बनायी, जिसकी मैनेजिंग एजेन्सी श्री रामगोपालजी और मेरे छोटे पुत्र जगमोहनदास को दी गयी। इस सारे प्रयत्न के फलस्वरूप आगे चलकर "जयहिन्द" नामक दैनिक पत्र जबलपुर से निकला।

जो दो दूसरी बातें मैं जेल से तय करके आया था—सन् ४२ की सरकारी ज्यादतियों की जाँच और शहीदों के स्मारक का निर्माण, उनमें से पहली बात मैंने तत्काल आरम्भ कर दी और दूसरी किसी योग्य अवसर की प्रतीक्षा में आगे बढ़ा दी। सरकारी ज्यादतियों की जाँच के लिए प्रान्त में जहाँ-जहाँ घोर दमन हुआ था वहाँ का मैंने दौरा किया।

इस प्रकार जब मेरा कार्य आरम्भ हो कुछ रूप ले रहा था, उसी समय शुक्लजी, मिश्रजी, बीयाणीजी आदि भी जेल से छूटे।

मिश्रजी को जेल में ही यह मालूम हो गया था कि मैं उनसे अप्रसन्न हूँ। जेल से निकलने के बाद अन्य लोगों ने भी उनसे मेरी अप्रसन्नता का हाल कहा। मैंने सुना कि जिसने भी उन्हें मेरी अप्रसन्नता का यह वृत्त कहा उससे उन्होंने एक ही बात कही—"बाबू साहब का और मेरा झगड़ा हो ही नहीं सकता, इसकी कल्पना भी असम्भव है, और यदि वे मुझसे नाराज हैं तो मैं इस प्रान्त को छोड़कर चला जाऊँगा।" मुझसे मिश्रजी ने इस विषय में बहुत दिनों तक कोई बात नहीं की, पर मेरी पत्नी और मेरी पुत्री रत्नकुमारी से उन्होंने अनेक बार इसकी चर्चा की और कहा कि "हम लोगों के लिए, प्रान्त के लिए इस झगड़े से अधिक बुरी बात नहीं हो सकती और यदि मैं बुरा भी हूँ तो भी बाबू साहब एक दिन देख लेंगे कि उनके नये साथी मुझसे भी कितने अधिक बुरे हैं।" मेरी पत्नी, रत्नकुमारी और मेरा सारा कुटुम्ब इस झगड़े को किसी भी प्रकार समाप्त कराना चाहता था, परन्तु मेरा मन मिश्रजी से फट गया था और फटे हुए मन के सम्बन्ध में एक पुरानी उक्ति है ही—

मन मोती अरु दूध रस इन को यही सुभाव।
फाटे से ये ना मिलें कोटिन करो उपाव॥

मिश्रजी से मेरे मनमुटाव का हाल सारे प्रान्त को मालूम होने में कोई बहुत समय नहीं लगा। प्रान्त में इस सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें भी शुरू हुईं। प्रान्त के हितचिन्तक प्रान्त के लिए इससे अधिक दुर्भाग्य की और कोई बात न मानते थे। मिश्रजी के और मेरे शुभचिन्तक इसका किसी न किसी प्रकार अन्त कराना चाहते थे। हम दोनों के शत्रु इसे अधिक से अधिक प्रोत्साहन दे हम दोनों के नाश के इच्छुक थे। मिश्रजी के शत्रु मिश्रजी को मेरे सामने काले से काले रूप में रख उनके प्रति मेरे मनमुटाव को तीव्र से तीव्र करने का प्रयत्न कर रहे थे। मेरे शत्रु मिश्रजी को उभारने का अवश्य प्रयत्न करते थे पर ऐसे लोगों को वे एक ही बात कहते थ—"बाबू साहब का और मेरा झगड़ा हो ही नहीं सकता, इसकी कल्पना भी असम्भव है, और यदि वे मुझसे नाराज़ हैं तो मैं इस प्रान्त को छोड़कर चला जाऊँगा।"

देश में इस समय बड़ी-बड़ी राजनैतिक हलचलें चल रही थीं। हमारा प्रान्त भी उनसे अछूता न था। इन सब हलचलों के साथ मिश्रजी के और मेरे इस प्रकरण ने प्रान्त के राजनैतिक वायुमण्डल को और क्षुब्ध कर दिया था।

हमारे प्रान्त के ऐसे क्षुब्ध वायुमण्डल में कटनी में महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। अन्य प्रान्तों के सदृश हमारे प्रान्त में भी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के जिन सदस्यों ने सन् ४२ के आन्दोलन में भाग नहीं लिया था उनके स्थान पर प्रान्तीय कमेटी नये सदस्यों का चुनाव करने वाली थी और धारासभाओं के आगामी चुनावों में उम्मीदवारों के चुनाव के लिए एक उपसमिति बनानेवाली थी।

मैंने त्रिपुरी कांग्रेस के पश्चात् प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया था अत: अन्य कई व्यक्तियों के साथ मैं भी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का सदस्य चुन लिया गया। यह चुनाव निर्विरोध हुआ। लगभग ७ वर्ष के बाद मैं पुन: प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में आया।

सदस्यों के इस चुनाव के पश्चात् प्रान्तीय कार्यकारिणी की ओर से यह

प्रस्ताव रखा गया कि धारासभाओं के उम्मीदवारों के चुनाव के लिए कोई पृथक् कमेटी न बनाकर यह काम प्रान्तीय कार्यकारिणी को ही सौंप दिया जाय। इस प्रस्ताव पर श्री सवाईमलजी जैन ने एक संशोधन रखा कि इन उम्मीदवारों के चुनाव के लिए प्रान्तीय कमेटी सिंगिल ट्रान्सफरएबिल वोट से एक समिति चुन दे।

प्रान्तीय कार्यकारिणी इस प्रकार का प्रस्ताव उपस्थित करने वाली है और श्री सवाईमल जैन उस पर इस तरह का संशोधन रखने वाले हैं इस पर कई दिनों से चर्चा चल रही थी। मैं इस समय संशोधन के पक्ष वाले समुदाय के साथ था अतः इस चर्चा में मैंने भी भाग लिया। अब तक इस विषय के पक्ष-विपक्ष में जो चर्चाएँ हुई थीं उनसे जान पड़ता था कि प्रान्तीय कार्यकारिणी के प्रस्ताव और इस संशोधन दोनों की स्थिति संदिग्ध है और दोनों में से किसी के भी स्वीकृत होने की सम्भावना है।

जब प्रान्तीय कमेटी में प्रान्तीय कार्यकारिणी के प्रस्ताव और श्री सवाईमलजी जैन के संशोधन पर बहस हुई उस समय मैंने बड़े जोरदार शब्दों में श्री सवाईमल के संशोधन का समर्थन किया। बहस के अन्त में जब मत लिये गये तब मुझे यह देखकर जीवन के सबसे बड़े आश्चर्यों में से एक आश्चर्य हुआ कि प्रान्तीय समिति में उपस्थित लगभग ६० सदस्यों में से श्री जैन के संशोधन के पक्ष में केवल ८ सदस्यों ने अपने मत दिये, शेष सदस्य प्रान्तीय कार्यकारिणी के प्रस्ताव के पक्ष में थे। जीवन के सबसे बड़े आश्चर्यों का एक यह आश्चर्य मुझे इसलिए मालूम हुआ कि प्रान्तीय कार्यकारिणी के प्रस्ताव के पक्ष में हाथ उठाने वालों में से अनेक ऐसे सदस्य भी थे जिन्होंने मेरे सामने श्री जैन के संशोधन के पक्ष में मत देना केवल स्वीकार ही न किया था, पर उसके पक्ष में बड़ी-बड़ी जोरदार दलीलें दी थीं। इन सदस्यों के नाम लिखने की उत्कट इच्छा होते हुए भी मैं इस लोभ का संवरण करना ही उचित समझता हूँ। इस घटना से मैं केवल स्तब्ध ही न रह गया, पर इस घटना ने मेरी आँखें भी खोल दीं।

मिश्रजी से संघर्ष न हो समझौता हो गया

बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। सृष्टि की रचना ही कुछ ऐसी है कि बड़े से बड़े और छोटे से छोटे हर कार्य के पीछे प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न एक या अनेक कारण होते हैं। ये कारण प्रायः दिख जाते हैं, पर अनेक बार नहीं भी दिखते। कभी जो कारण दिखते हैं वे उस कार्य के यथार्थ कारण नहीं होते, और सच्चे कारण कोई दूसरे ही होते हैं।

पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र का और मेरा मनमुटाव बिना किसी कारण के आपसे आप नहीं हो गया था। मैं इस विषय में उन्हें अनेक बातों के लिए दोषी ठहरा सकता हूँ और वे मुझे। इस मनमुटाव के प्रत्यक्ष जो कारण कहे जा सकते हैं उनसे भी यथार्थ कारण भिन्न थे। मिश्रजी का और मेरा जो सम्बन्ध था वह बड़ा गहरा सम्बन्ध था और ऊपर से दिखने वाले कारणों से इस मनमुटाव का सच्चा रहस्य समझ में नहीं आ सकता। मिश्रजी का और मेरा जैसा गहरा सम्बन्ध था उसे देखते हुए इस मनमुटाव का यथार्थ कारण जानने के लिए भी कुछ गहराई में ही उतरना होगा।

सन् १९२१ में जब मिश्रजी कालेज छोड़कर असहयोग में सम्मिलित हुए और जब मैं असहयोगी हुआ, उस समय हम एक दूसरे को जानते भी न थे। मिश्रजी की प्रेरणा मुझे इस क्षेत्र में लायी या मेरी प्रेरणा मिश्रजी को, ऐसी कोई बात नहीं हुई। पर इसके बाद ही हम दोनों एक दूसरे से मिले और धीरे-धीरे हमारा सम्बन्ध इतना घनिष्ठ होगया जैसा बहुत कम देखने में आता है। यह सम्बन्ध दो ऐसे व्यक्तियों के बीच हुआ जो देश-भक्ति की भावनाओं से प्रेरित होकर कांग्रेस के क्षेत्र में ऐसे समय आये थे जब इस क्षेत्र में वाह-वाही के एक प्रलोभन को छोड़ अन्य कोई प्रलोभन न था। पर देश-भक्ति की भावनाएँ हम दोनों को समीप लाने के सिवा हमारे आगे के बढ़ने वाले सम्बन्ध में मुख्य नहीं गौण होगयीं और आगे हमारा जो सम्बन्ध बढ़ा उसकी नींव हुई व्यक्तिगत स्नेह जो शनैः शनैः इतना बढ़ा कि हमारे दो शरीर रहते हुए भी

हम एक विचित्र प्रकार के आत्म-सम्मिलन का अनुभव करने लगे। वैसी मानसिक दशा में हम में से कौन किस स्थान पर है, किसे ऊँची जगह प्राप्त है और किसे नीची, कौन आगे है और कौन पीछे, ये भावनाएँ ही मन में न उठती थीं। पर ज्योंही मिश्रजी मंत्री हुए त्योंही उस आत्म सम्मिलन के बीच न जाने कैसे मुझे एक परदा नजर पड़ने लगा, इतना ही नहीं हुआ, हमारा जो सम्बन्ध स्नेह की नींव पर खड़ा था, उस नींव में कहीं न कहीं से दरार पड़ गयी है—ऐसा जान पड़ने लगा। यह परदा दिनोंदिन सघन होता गया और इस दरार की भी कोई मरम्मत न हुई।

इस प्रकार हमारे सम्बन्ध का अलौकिक स्तर खिसक गया था और इस अलौकिक स्तर के खिसक जाने के बाद हमारे सम्बन्ध का जो स्तर लौकिक हो गया था उसमें अनेक ऐसे प्रसंग उठ खड़े हुए थे, जिन्होंने हमारे बीच में मन-मुटाव पैदा कर दिया था, कम से कम मेरा मन फाड़ दिया था। मिश्रजी मुझ से झगड़ा न करना चाहते थे ऐसा उन्होंने एक नहीं अगणित बार एक व्यक्ति से नहीं न जाने कितने लोगों से कहा था, फिर भी मैं झगड़े पर क्यों उतारू था, यहाँ यह प्रश्न भी उठता है। कारण स्पष्ट था। मैं अपने को आसुरी सम्पत्ति का व्यक्ति मानने को चाहे कभी भी तैयार न होऊँ और अपने को चाहे दैवी सम्पत्ति का ही जीव मानूँ, पर मैं मानव हूँ, देवता नहीं। मानव में जो कम-जोरियाँ होती हैं उन सबसे रहित मैं अपने को महा मानव भी नहीं मानता। मानव हृदय की सबसे ऊँची निर्बलता लोकेषणा से अब तक भी मैं पिण्ड न छुड़ा पाया था। इस समय के कांग्रेसवादियों में अपने प्रान्त का मैं सबसे पुराना कांग्रेसवादी था और सन् २० में कांग्रेस में आने के बाद आज तक एक दिन को भी मैंने कांग्रेस को न छोड़ा था। मेरे प्रान्त में कांग्रेस के काम में जितना कष्ट मुझे भोगना पड़ा था उतना किसी को नहीं। और यह सब होते हुए आज मेरा कांग्रेस में कोई स्थान न रह गया था। मुझे ऐसा जान पड़ता था जैसे मुझे दूध की मक्खी के सदृश निकालकर फेंक दिया गया हो और इस प्रकार के षड्यंत्र की रचना की जा रही हो, जिससे मैं कहीं से भी कांग्रेस में पुनः प्रवेश न कर पाऊँ। मिश्रजी के हाथ में आज प्रान्त की सारी राजनीति थी। मिश्रजी के और मेरे शिथिल होते हुए सम्बन्ध में भी मैंने व्यक्तिगत सत्याग्रह

के समय कलकत्ते से लौटकर उनसे कहा था कि मैं फिर से प्रान्तीय और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का सदस्य होना चाहता हूँ, पर उन्होंने मेरी इस छोटी सी माँग के लिए भी उँगली तक न हिलायी थी। अतः अपना स्थान पुनः बनाने के लिए मैंने मिश्रजी का विरोध करने की ठानी। मैंने उनके लिए जो कुछ किया था उस स्मृति ने मुझे और क्रुद्ध कर दिया और लोगों से उनके इस कथन का कि "यदि बाबू साहब मुझसे नाराज़ हैं तो मैं इस प्रान्त को छोड़ कर चला जाऊँगा" मैंने उल्टा ही अर्थ निकाला। उनका यह कथन मुझे मेरे प्रति उनकी सद्भावना के बदले इस बात का द्योतक जान पड़ा कि उन्हें यह खयाल हो रहा है कि उन्होंने यदि मुझसे झगड़ा किया तो लोग उन्हीं को बुरा कह यह कहेंगे कि जिसने उनके लिए सब कुछ किया उस तक से ये लड़ते हैं अतः ऐसी स्थिति को मिश्रजी बचाना चाहते हैं और अभी भी वे अपनी राजनैतिक स्थिति को मजबूत करने के लिए मेरा उपयोग करना चाहते हैं। मिश्रजी को देखते ही आजकल बार-बार मेरे मन में स्वीडिन के साहित्यिक स्ट्रिन्डबर्ग का एक कथन याद आता था—

"कृतघ्न व्यक्ति पृथ्वी का सबसे बड़ा भार है।"

पर कटनी की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठक के बाद मेरे मन में एकाएक उठा कि मैं मिश्रजी का विरोध उन्हीं की शक्ति पर करने चला हूँ जो एक साधारण से प्रस्ताव पर मेरा साथ इसलिए न दे सके कि धारासभाओं का चुनाव समीप था और सबको अपनी-अपनी सीट की चिन्ता थी। यह तो वही मसल हुई न कि कोई कहे—"चढ़ जा बेटा सूली पर, राम तेरा भला करेगा।" मिश्रजी ने मेरी पत्नी और रत्नकुमारी से अनेक बार कहा था—"यदि मैं बुरा भी हूँ तो भी बाबू साहब एक दिन देख लेंगे कि उनके नये साथी मुझ से भी कितने अधिक बुरे हैं।" मुझे इस बात पर एकाएक महान् हर्ष हुआ कि वह "एक दिन" देरी से न आकर इतना शीघ्र आगया। जब मैंने कुछ अधिक सतर्कता के साथ अपने इन नये साथियों का विवेचन आरम्भ किया तब मुझे कितनी निराशा हुई। और इन साथियों से जब मैंने मिश्रजी का मिलान आरम्भ किया तब वह किसी प्रकार भी न किया जा सका। मिश्रजी के अनेक गुणों के पासंग में भी मेरे ये नवीन साथी न बैठते थे। फिर मेरे मन में यह उठे बिना

न रहा कि यदि मिश्रजी के मन में मेरे साथ झगड़ा करते समय यह खयाल उठता है कि लोग उन्हें क्या कहेंगे तो मैंने जिस व्यक्ति के लिए इतना किया है, उससे यदि मैंने झगड़ा किया तो लोग मुझे भी महान् मूर्ख के अतिरिक्त और किसी विशेषण से विभूषित करने वाले नहीं हैं। मेरे मन में यह आये बिना भी न रहा कि यदि मैं यह भी मानता हूँ कि मैंने उनके लिए सब कुछ किया और वे मेरे लिए कुछ करने को तैयार नहीं तो इसमें भी मेरा ही दोष है, क्योंकि मैंने यह सब क्यों किया उनके लिए ? यदि उनके आगे बढ़ाने में मैंने अपनी शक्ति खर्च की जिसके कारण मैं अपनी शक्ति का अपने लिए उपयोग न कर सका तो इसमें भी तो मेरा ही दोष है। फिर जब मैंने उनके लिए कुछ किया था तब क्या यह सोचकर किया था कि आगे चलकर वे भी बदले में मेरे लिए कुछ करेंगे। इस भावना से तो मैं वह सब उनके लिए कर ही न सकता था जो मैं कर सका। एलनर रूज़वैल्ट ने एक स्थान पर लिखा है—"हर प्रकार के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि तुम क्या पाते हो, पर यह है कि तुम क्या देते हो।" मुझे जान पड़ा कि जीवन के इस संध्याकाल में अब नये व्यक्तियों के तजुर्बे करने की अपेक्षा जिनके साथ इतना समय बीता है उन्हीं के संग रहना कहीं श्रेयस्कर है।

समझौते की इस मानसिक अवस्था में आने पर पुराने प्रेम ने भी कुछ प्रेरणा दी। इस लौकिक स्तर से उठकर वह पुराना अलौकिक स्तर तो हमारे सम्बन्ध में न आ सका, पर समझौते में कोई अड़चन न रही और समझौते की इस स्थिति को लाने में सहायता केवल एक व्यक्ति दे सका वह थीं मेरी धर्मपत्नी।

सन् १९४६ के चुनाव और उसके बाद की धारासभाएँ

सन् ३४ में चुनी हुई केन्द्रीय असेम्बली और सन् ३६-३७ में चुनी हुई प्रान्तीय विधान सभाएँ अभी भी चली जा रही थीं। भारतीय संविधान में परिवर्त्तन नहीं हुआ था, यद्यपि छोटे-मोटे नहीं, परन्तु अब तो बड़े-बड़े परिवर्त्तनों की केवल बात ही नहीं चल रही थी, पर उनकी स्पष्ट संभावना ही दिख रही थी। केन्द्र में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की बात थी और प्रान्तों में पुनः मन्त्रिमण्डलों की। ऐसी अवस्था में सन् ४६ के आरम्भ में भारत के पुराने संविधान के अनुसार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय चुनाव कर दिये जाना उचित जाना पड़ा।

चुनाव हुए, परन्तु सारे चुनाव प्रायः निर्विरोध ही हो गये। केन्द्रीय धारा-सभा में कांग्रेसवादी फिर से करीब-करीब उतनी ही संख्या में पहुँचे जितनी संख्या में सन् २३, २६ और ३४ के चुनावों में पहुँचे थे। बंगाल, पंजाब और सिन्ध को छोड़कर शेष प्रान्तों में भी कांग्रेसवादियों का बहुमत पहुँचा और इन सब प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बन गये। स्मरण रहे इन मन्त्रिमण्डलों ने युद्ध के उद्देश्य सरकार द्वारा स्पष्ट न किये जाने के कारण अपने-अपने पदों से स्तीफे दे दिये थे और तभी से इन प्रान्तों में गवर्नरों का शासन चल रहा था। बंगाल, पंजाब और सिन्ध में मुस्लिम लीग के मन्त्रिमण्डल अभी भी चल रहे थे। इन चुनावों में फिर से इन प्रान्तों में मुस्लिम लीग दल की ही विजय हुई और फिर से लीग के ही मन्त्रिमण्डल संगठित न हुए। हमारे प्रान्त का कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल सन् ४६ की २४ अप्रैल को बना।

मेरा चुनाव फिर से केन्द्रीय धारासभा में ही हुआ और इस बार भी मैं निर्विरोध चुना गया। केन्द्रीय असेम्बली में इस बार श्री भूलाभाई देसाई को नहीं आने दिया गया था, श्री सत्यमूर्ति का देहान्त हो चुका था अतः कांग्रेस दल

का नेतृत्व कौन करे यह प्रश्न उठा। इसके लिए दो उम्मीदवार थे—श्री शरतचन्द्र बोस और श्री आसफअली। काफी कशमकश थी और जान पड़ता था कि सर्वमत से चुनाव न हो पायेगा। परन्तु गान्धीजी मौजूद थे अतः यह संघर्ष न हो पाया। श्री शरत् बाबू दल के नेता और आसफअली उपनेता निर्विरोध चुन लिये गये, और मैं फिर से कोषाध्यक्ष हुआ। मुख्य सचेतक के चुनाव में पुराने मुख्य सचेतक सरदार जोगेन्द्रसिंह और श्री सत्यनारायणसिंह में बड़ा संघर्ष चला और जब मामला नहीं निपट पाया तब मुख्य सचेतक दल के नेता नामजद कर दें यह तय हुआ। श्री शरतबाबू ने श्री सत्यनारायणसिंह को मुख्य सचेतक नियुक्त कर दिया।

नयी असेम्बली को बैठते ही अपने अध्यक्ष का चुनाव करना था। इस बार श्री मावलंकर इसीलिए बम्बई से केन्द्र में आये थे, परन्तु उनका चुनाव सरल चुनाव सिद्ध न हुआ। उनके विरुद्ध श्री कावसजी जहाँगीर खड़े हुए। श्री जिन्ना फिर से केन्द्रीय असेम्बली में आ गये थे और वे तथा उनका दल कावसजी का समर्थन कर रहा था। सरकारी पक्ष के सदस्यों को यद्यपि मत-दान की स्वतन्त्रता थी, परन्तु सरकारी पक्ष के अधिकांश सदस्यों का समर्थन कावसजी को ही प्राप्त था। चुनाव के पहले दो दिन तक बड़ी कशमकश, बड़ी दौड़-धूप चली। चूँकि मैं अब कांग्रेस दल का केन्द्रीय धारा सभा में सबसे पुराना सदस्य था और इस पुरानेपन के कारण वहाँ के समस्त सदस्यों में से मेरा शायद लोगों से सबसे अधिक सम्बन्ध था इसलिए इस चुनाव का सबसे अधिक भार मुझ पर रखा गया। श्री मावलंकर की केवल दो वोटों से जीत हुई और मुझे इस बात का कम हर्ष नहीं कि इस जीत में कदाचित् मेरा सब से प्रधान हाथ था।

इस बार केन्द्रीय धारासभा के आरम्भ में काम रोको प्रस्तावों की बाढ़ सी आ गयी। श्री मावलंकर ने इन प्रस्तावों को पेश करने की अनुमति भी खूब दी।

तीन विषयों पर मेरे काम रोको प्रस्ताव थे—दक्षिण अफ्रिका की रंग-भेद नीति के विषय में भारत सरकार की अकर्मण्यता पर, पूर्वी अफ्रिका के भारतीयों के हक के सम्बन्ध में भी भारत सरकार की अकर्मण्यता पर और श्री

भारतीय मजदूर स्याम और बर्मा की "डेथ रेलवे" पर काम करने के लिए मलाया और बर्मा से जापानियों द्वारा ले जाये गये थे उस विषय में भी भारत सरकार की अकर्मण्यता पर। अन्तिम प्रस्ताव पेश करने की इजाजत नहीं मिली, पर पहला और दूसरा प्रस्ताव ता० ४ और ५ फरवरी १९४६ को पेश हुए और पास भी हो गये।

पहले काम रोको प्रस्ताव पर मनोरंजक घटना घटित हो गयी। दक्षिण अफ्रिका के सम्बन्ध में भारतीय सरकार की नीति को अंग्रेजी में मैंने "Imbecile attitude" कहा था याने नपुंसक नीति। श्री एम० आर० मसानी जल्दी से मेरे पास आये और बोले आपने गलत शब्द का उपयोग कर डाला है। यह शब्द संज्ञा है विशेषण नहीं और आपका बड़ा मजाक उड़ेगा। मेरी अंग्रेजी तो बुरी नहीं है, पर आखिर अंग्रेजी मेरी मातृभाषा तो है नहीं। ऐसे स्थानों पर हरेक को मूर्ख बनाने का प्रयत्न किया जाता है अतः मुझे पसीना सा आगया। मैं तुरन्त पुस्तकालय में कोष देखने पहुँचा। सौभाग्य से यह शब्द संज्ञा और सर्वनाम दोनों में प्रयुक्त होता था। सबसे बड़ा कोष लेकर मैं अपनी सीट पर बैठ गया। भूलाभाई के समय से ही मेरी सीट प्रथम पंक्ति में थी।

श्री मसानी का कथन ठीक निकला। एक सज्जन मेरा मजाक उड़ाने खड़े हुए ही, पर जब मैंने उत्तर में वह भारी-भरकम कोष उन महाशय के सामने खोला तब हँसी का ठहाका लगा उन पर। मेरा मजाक न उड़, उड़ गया उनका मजाक।

केन्द्रीय धारासभा के इस प्रथम अधिवेशन में एक प्रस्ताव को और बहुत अधिक महत्त्व मिला। यह था आजाद हिन्द फौज के कैदियों की रिहाई के लिए। यह प्रस्ताव श्री गोविन्द मालवीय ने रखा था। उस समय आजाद हिन्द फौज के कैदियों का प्रश्न बड़ा ज्वलन्त प्रश्न था।

इस प्रकार कायदे-कानून के अनुसार केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं के काम तो आरम्भ हुए, परन्तु आगे आने वाले राजनैतिक परिवर्तनों की ओर सबका ध्यान रहने के कारण कुछ दिन बाद इन सभाओं पर किसी का विशेष ध्यान न रहा। हाँ, आगे चलकर इनका महत्त्व अवश्य बढ़ा, क्योंकि केन्द्र में जो पहली राष्ट्रीय सरकार संगठित हुई वह इसी केन्द्रीय असेम्बली में बैठी तथा

भारतीय संविधान सभा के प्रतिनिधियों का चुनाव इन्हीं प्रान्तीय विधान सभाओं ने किया।

चूँकि मैं इस समय केन्द्रीय धारासभा में कांग्रेस दल का सबसे पुराना सदस्य था इसलिए इस समय मेरे काम को शायद कुछ अधिक महत्त्व से देखा जाता था।

श्री जिन्ना को छोड़कर, श्री मावलंकर की कुशल अध्यक्षता के अतिरिक्त राष्ट्रीय सरकार की स्थापना तक इस बार केन्द्रीय असेम्बली में कोई ऐसा विशेष व्यक्तित्व न था जिसका उल्लेख किया जाय। जहाँ तक विशेषता वाले व्यक्तित्वों का सम्बन्ध है वहाँ तक तो यह असेम्बली सन् २३, २६ और ३४ की असेम्बलियों की अपेक्षा बहुत नीचे दरजे की जान पड़ती थी।

सन् ४६ में यह केन्द्रीय धारासभा चुनी गयी थी और यह ४७ के अन्त तक चली।

सन् ४६ के दो सितम्बर को केन्द्र में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार बनी। इसके बाद संविधान सभा का चुनाव हुआ। संविधान सभा में संविधान बनाने का कार्य आरम्भ हुआ ता० ९ दिसम्बर सन् ४६ को। संविधान सभा के काम शुरू होने के बाद एक वर्ष तक यह धारासभा चलती रही, परन्तु १५ अगस्त सन् ४७ को स्वराज्य प्राप्त होने तथा पाकिस्तान बनने के कारण यह सभा कुछ अटपटी सी हो गयी थी। साथ ही संविधान बनाने के सिवा कुछ कानून बनाने की तथा बजट पास कराने की भी जरूरत रहती ही थी अतः संविधान सभा का ही एक और रूप बनाया गया। जिसका नाम रखा गया कानून बनाने वाली संविधान सभा (Constituent Assembly Legislative)। संविधान सभा के अध्यक्ष थे डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद। इसके अध्यक्ष ता० १७ नवम्बर ४७ को श्री मावलंकर फिर चुने गये। सदस्य वे ही रहे जो संविधान सभा के सदस्य थे। इसका पहला अधिवेशन हुआ ता० १७ नवम्बर से १२ दिसम्बर सन् ४७ तक।

दरमियानी रेलवे और जनरल बजट पेश हुआ, कुछ कानून बने। प्रश्न उत्तर चले। इसी धारासभा में नवम्बर सन् ४७ को हिन्दी में पहले-पहल मेरा भाषण हुआ। यद्यपि तब भी वह नियम कि जो अंग्रेजी जानते हैं उन्हें

अंग्रेजी में ही भाषण करना चाहिए वैसा का वैसा मौजूद था, पर श्री मावलंकर ने घोषणा की कि बदली हुई परिस्थितियों में वे उस नियम का सख्ती से पालन न करेंगे। कितना आनन्द हुआ मुझे हिन्दी में भाषण देने में! सन् २३ से सन् ४७ तक २४ वर्ष तक जब जब भी मैं केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं में रहा मुझे सदा अंग्रेजी में ही बोलना पड़ा और यद्यपि मेरे इन अंग्रेजी भाषणों की प्रशंसा कम नहीं हुई, पर मुझ पर तो वह एक बोझा ही रहा था। मुझे वह प्रशंसा भी गुलामी का चिह्न जान पड़ती थी। इसके बाद मैं इन सभाओं में सदा हिन्दी में ही बोला। इसके पश्चात् मेरे अंग्रेजी के भाषण केवल विदेशों में ही हुए और वहाँ भी इसलिए जिससे श्रोता उन्हें समझ सकें। भविष्य में विदेशों में भी मैं भारत की राष्ट्रभाषा में ही बोलने की बात सोचता हूँ। दुभाषिये उनका अनुवाद करें।

ता० ३ दिसम्बर ४७ को मैंने इस सभा में अपना गोरक्षा वाला विधेयक उपस्थित किया। अस्थायी राष्ट्रीय सरकार के निर्माण के बाद मैंने वैदेशिक नीति पर और भी अधिक दिलचस्पी लेना आरम्भ किया था। यह अब तक चल रहा है। इसी कारण मैं विदेशों को भी भेजा जाता रहा हूँ जहाँ मेरा काम सफल माना गया है। यह सभा चली ६ अक्टूबर १९४९ तक।

पिताजी का स्वर्गारोहण

मुझे जेल से छूटे लगभग एक वर्ष हो चुका था। मेरी रिहाई के बाद पिताजी की बड़ी इच्छा थी कि मैं किसी प्रकार भी कुछ दिन बँधकर उनके पास रहूँ। मेरा गोपाल बाग में रहना भी अब उन्हें और अधिक कष्ट देने लगा था और इस सम्बन्ध में मेरी अप्रसन्नता के भय से वे कुछ स्पष्ट तो न कहते थे पर घुमा-फिराकर सदा ही कुछ न कुछ कह दिया करते थे। मुझे आज इस बात पर बड़ा पश्चाताप है कि जेल से निकल आने पर भी सार्वजनिक जीवन में मैं ऐसा व्यस्त हो गया कि पिताजी की उनके पास बँधकर कुछ समय रहने की उनकी इच्छा मैं पूरी न कर सका।

पिताजी अत्यधिक प्रखर स्वभाव के थे यह मैं पहले लिख चुका हूँ। एक समय उनका कैसा शाही जीवन रहा था इसका भी उल्लेख किया जा चुका है। इन वर्षों में उन्हें आर्थिक दृष्टि से जो महान् कष्ट रहा था उसका वर्णन भी पिछले कई अध्यायों में आया है। मैंने जेल से छूटने के पश्चात् देखा कि पिताजी में कई परिवर्त्तन हुए हैं। उनका प्रखर स्वभाव एकदम शान्त हो गया था, आजकल वे किसी से एक कटु शब्द भी न कहते थे। उनका शाही जीवन तो कभी का समाप्त हो गया था, पर उसी के साथ इन वर्षों में उन्हें जो आर्थिक चिन्ताएँ रही थीं उनसे भी उनकी निवृत्ति हो गयी थी। यद्यपि गाँव और जमीन की बिक्री उन्हें कभी भी पसन्द न आयी थी और हमारे डेरी फार्म में जो दूध बेचा जाता था उस पर भी वे अप्रसन्न थे, परन्तु इस बात से उन्हें बड़ा सन्तोष था कि हमारा घर कोई चालीस वर्ष के पश्चात् कर्ज से मुक्त हो गया है और उनकी पौत्री रत्नकुमारी तथा उनके दोनों पौत्र मनमोहनदास और जगमोहनदास फिर से राजा गोकुलदासजी के घराने को ऐसी स्थिति में ले आये हैं, जिससे अब घर की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचने की संभावना नहीं रही है, साथ ही इतनी आमदनी भी हो गयी है कि घर के सम्मान के सदृश घर का खर्च भी चल सकता है। घर की यह आर्थिक उन्नति बिना किसी ऐसे

रोजगार-धन्धे के होने के कारण, जिससे चोर बाजार या किसी भी प्रकार की किंचित् भी अनैतिकता हो, उन्हें अत्यधिक सन्तोष था। एक बात और थी उनकी स्वाभाविक अन्तःकरण की शुद्धता और उदारता अब और बढ़ गयी थी। पोप ने एक जगह लिखा है—"अनेक व्यक्ति दुनिया में बुद्धिमत्ता के कार्य कर सके हैं, चालाकी के तो उनसे भी बहुत, अधिक पर उदारता के कार्य गिनती के व्यक्तियों ने ही किये हैं।"

पिताजी अन्तिम कोटि में आते थे। अब वे सच्चे अर्थ में "रिटायर्ड" भी थे और इस "रिटायरमेन्ट" में उनकी मनोदशा अत्यधिक धार्मिक हो गयी थी। उन्हें हमारे कुटुम्ब के श्री गोपाललालजी के मन्दिर में सदा ही निष्ठा रही थी, पर अब तो उन्होंने अपना सारा समय ही भगवद्सेवा में दे दिया था। वे मन्दिर के छहों दर्शन करने का प्रयत्न करते। हर उत्सव में आद्योपान्त मन्दिर में ही रहते। नित्य हरि कथा श्रवण करते और स्वयं शुक सागर का पाठ करते। कोई भी नयी वस्तु आती, चाहे वह पुष्प की कोटि की हो, या साग-भाजी और फल की कोटि की, वे उसकी तलाश में रहते और उसे ले मन्दिर में भेजते। कमल के गुलाबी और श्वेत पुष्प, चैती गुलाब और बैसाख का मोगरा, भादों का पीला चंपा और शरद ऋतु के आरम्भ की चमेली, हरे चने, मटर, सन्तरे, आम, खरबूजे न जाने क्या-क्या समय-समय पर लेते रहते और ठाकुरजी की सेवा में भेजते रहते। वल्लभी संप्रदाय में जिसे परम भगवदीय की संज्ञा दी गयी है वे उसी संज्ञा के हो गये थे। और इतने पर भी चूँकि पहले कभी वे मदिरापान कर चुके थे, वेश्या गमन कर चुके थे, इसलिए मन्दिर में भीतर की सेवा में स्नान न कर बाहर रहकर ही सारी सेवा करते। "मैं पतितन सिर नामी" वाली उनकी मनोवृत्ति बन गयी थी। सदा कहा करते—"मैं पापी हूँ, मैं दुष्ट हूँ, न जाने मेरा उद्धार कैसे होगा।" जिसे भगवान के सामने की अत्यधिक दीन वृत्ति कहते हैं वह वृत्ति उनमें आ गयी थी। उन्हें देख भगवद्गीता में की हुई भगवान की यह घोषणा स्मरण आये बिना न रहती—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक।
साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स:।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

और इस मनोवृत्ति में पिताजी आजकल कभी-कभी कुछ ऐसे प्रश्न पूछा करते या कुछ ऐसे उद्गार प्रकट किया करते जिनसे मृत्यु का सम्बन्ध रहता। मुझे इस सम्बन्ध के तीन प्रसंग स्मरण हैं।

एक बार जब वे शुकसागर पढ़ रहे थे, उस समय मैं पहुँच गया। मुझे देख शुकसागर पढ़ना बन्द कर उन्होंने मुझ से पूछा—"भीष्म पितामह बाण शैया पर उत्तरायण सूरज के लिए क्यों पड़े रहे? क्या जो आदमी दक्षिणायन सूरज में मरता है उसे अच्छी गति नहीं मिलती?"

मुझे इस उत्तरायण और दक्षिणायन सूर्य की मृत्यु के मरने वाले का सद्गति में कोई भी अन्तर पड़ता होगा, इसका जरा भी विश्वास न था। मैंने उन्हें तत्काल उत्तर दिया—"यह प्राचीन काल का एक भ्रम है। मैं इसे मानने को तैयार नहीं कि जो दक्षिणायन सूर्य में मरता है उसकी सद्गति नहीं होती।"

पिताजी कुछ विचार में पड़ गये और विचारते-विचारते बोले—"मैं समझता हूँ, बाबू, तुम इस मामले को समझे नहीं हो। इस पर कभी बम्बई वाले गोकुलनाथजी महाराज से पूछेंगे।"

वल्लभ संप्रदाय के आचार्यों में इस समय श्री गोकुलनाथजी महाराज का बड़ा ऊँचा स्थान था। पिताजी का महाराज श्री बड़ा निकट का संपर्क था। महाराज के वे बड़े कृपापात्र थे और उनका महाराज श्री पर अखण्ड विश्वास था।

आश्विन के महीने में जब पिताजी मेरे पितामह का श्राद्ध कर रहे थे उस समय उन्होंने मृत्यु से ही सम्बन्ध रखनेवाला एक ऐसा ही प्रश्न हमारे कुल के पुरोहितजी से पूछा—"महाराज, हिन्दुओं के धरम के सब काम सबेरे होते हैं, फिर सराद दोपहर को क्यों होता है?"

पिताजी के इस प्रश्न का पुरोहितजी तत्काल उत्तर न दे सके और उन्होंने उत्तर के लिए दूसरे दिन तक का समय माँगा। मैं भी इस उत्तर को सुनना चाहता था अतः दूसरे दिन पुरोहितजी के आगमन के समय मैं भी राजा

गोकुलदास महल में पहुँच गया। पिताजी पुरोहितजी की उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहे थे। पुरोहितजी ठीक समय आये और उन्होंने कहा—"शास्त्र में यह उल्लेख है कि बारह बजे मध्याह्न के एक घड़ी अर्थात् २४ मिनिट पहले से लेकर एक घड़ी बाद तक पितृलोक के द्वार खुले रहते हैं अतः श्राद्ध-तर्पण आदि इसी समय होता है।"

पुरोहितजी का यह उत्तर सुन पिताजी ने एक बड़ा ही विचित्र प्रश्न फिर पूछा—"तो इसका क्या यह मतलब भी निकाला जा सकता है कि अगर कोई बारह बजने को २४ मिनिट से लेकर बारह बजकर २४ मिनिट तक मरे तो उसे पितृलोक के दरवाजे खुले मिलेंगे ?"

पुरोहितजी इसका कोई समुचित उत्तर न दे सके, उन्होंने इतना ही कह दिया—"आप ऐसा मान सकते हैं।"

एक दिन पिताजी जब मन्दिर में दर्शन कर रहे थे उस समय उन्होंने सुना कि हमारे एक बहुत पुराने बल्ला नामक नौकर की मृत्यु हो गयी है। उस दिन एकादशी थी। वह संवाद सुनते ही पिताजी जल्दी-जल्दी माताजी के पास आये और कुछ अचरज भरे स्वर में उन्होंने माताजी से कहा—"देखो तो उस बल्ला ढीमर को एकादशी मिली है।"

इस वर्ष वैशाख के महीने में ग्वालियर में माहेश्वरी महासभा का अधिवेशन था। मैं इस अधिवेशन में ग्वालियर गया हुआ था। ग्वालियर से लौट कर मैं कुछ अन्य स्थानों को जारहा था, पर मुझे एकाएक पिताजी की बीमारी की खबर मिली और मैं तत्काल जबलपुर लौटा।

पिताजी को बहुत तेज बुखार आकर निमोनिया हो गया था और मेरी बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही थी। मैं जबलपुर पहुँचा तीसरे पहर डाक-गाड़ी से, पर जबलपुर वालों को उसके पहले प्रातःकाल की गाड़ी से मेरे आने की आशा थी। जब मैं सबेरे की गाड़ी से नहीं पहुँचा तब मैंने तीसरे पहर पहुँचकर सुना कि, पिताजी ने माताजी से कहा था—"इस वक्त बाबू जेल में नहीं है। पैरोल पर छूटकर आना उनके सिद्धान्त के खिलाफ था, पर अब उन्हें किस चीज ने रोक रखा है। मेरे निमोनिया का हाल सुनकर भी वे नहीं आये।"

माताजी ने उन्हें जो उत्तर दिया था वह भी मुझे मालूम हो गया। उन्होंने कहा था—"उन्हें खबर नहीं पहुँची होगी, आपकी ऐसी बीमारी की खबर सुनकर वे हजार, लाख नहीं, करोड़ काम छोड़कर आयेंगे।"

माताजी की बात सर्वथा सत्य थी। पिताजी की बीमारी की खबर पाते ही मैं पहली गाड़ी से चला था और जिस गाड़ी से जबलपुर पहुँचा उससे पहले किसी गाड़ी से पहुँच ही न सकता था।

जब मैं पिताजी के कमरे में पहुँचा उस समय बुखार की तेजी के कारण वे कुछ तन्द्रा में थे। मैंने पहुँचते ही उनके चरण छुए और पूछा—"आपकी तबियत कैसी है ?"

पर उन्होंने न मुझे आशीर्वाद दिया और न मेरे प्रश्न का कोई उत्तर। मैंने समझा मेरे आने में शायद कुछ विलम्ब हो गया, इसलिए वे अप्रसन्न हैं। मैं चुपचाप बैठ गया। कमरे में सारे कुटुम्बी उपस्थित थे। माताजी पिताजी के सिरहाने बैठी हुई थीं। सारे वायुमण्डल में चिन्ता और निराशा का साम्राज्य था।

थोड़ी ही देर में पिताजी की तन्द्रा भंग हुई यह कहते हुए—"डाकगाड़ी आ गयी ? बाबू आये ?"

मैं पास ही बैठा हुआ था। मैंने खड़े हो तत्काल कहा—"हाँ, मैं आ गया हूँ। आपकी तबियत ?"

"तुम आ गये ; अब मुझे कोई फिकर नहीं।"

मैं ता० ७ मई को जबलपुर पहुँचा था। पिताजी ५ मई को बीमार हुए थे। ६ मई को निमोनिया का निदान हुआ था और यह निदान होते ही हर तीसरे घण्टे उन्हें पेंसलीन का इंजक्शन दिया जा रहा था। निमोनिया के अन्य सारे उपचार भी चल रहे थे, पर अब तक कोई लाभ न पहुँच रहा था। निमोनिया का निदान होते ही तत्काल मैं बुलवाया गया था।

ता० ८ के प्रातःकाल एकाएक पिताजी की नब्ज चली गयी, और तापमान १०४ डिग्री से घटकर एकदम ९७ डिग्री हो गया। हम लोगों ने समझा कि कदाचित् उनका अन्त समय समीप है, पर फौरन हेमगर्भ, चन्द्रोदय आदि की आयुर्वेदिक मात्राएँ दी गयीं। पेंसलीन का तो असर न हो रहा था, पर इन

मात्राओं का असर हुआ। नब्ज़ ठीक हो गयी और तापमान लगभग ६६ डिग्री पर आ गया। अब पेट में आयुर्वेदिक दवाएँ दी जाने लगीं पर इंजक्शन पैंसलीन के चलते रहे। उस दिन अर्थात् ता० ८ की दोपहर को पिताजी की तबियत बहुत अच्छी जान पड़ी। डाक्टरों ने कहा पैंसलीन दवा नहीं जादू है, निमोनिया की एक मात्र औषधि और निमोनिया पर पैंसलीन असर न करे यह असम्भव बात है। वैद्य बोले हेमगर्भ और चन्द्रोदय कफ को गला रहे हैं, दोषों का शमन हो रहा है। सारे चिन्ताकुल और निराश वायुमण्डल में एकाएक स्फूर्ति और आशा फैल गयी। पर पिताजी उसी मुद्रा में थे जिसमें उन्होंने कहा था—"तुम आ गये ; अब मुझे कोई फिकर नहीं।"

तीसरे पहर उन्होंने सब लोगों को अपने कमरे से हटा मुझसे कहा—"बाबू, तुम्हारा झगड़ा मुझसे था···"

मैंने जल्दी से उनकी बात काटकर कहा—"यह आप क्या कह रहे हैं, क्या पिता पुत्र में कभी कोई झगड़ा हो सकता है।"

"मेरी पूरी बात सुन लो," वे जल्दी से बोले "जरूर तुम्हारा झगड़ा मुझ से था, क्योंकि मैं ब्रिटिश गवर्मेण्ट की तरफ था। सरकारी आदमी था। पर मेरे बाद तो अब इस घर में कोई अंग्रेज सरकार का आदमी न रहेगा न ? इतने पर भी तुम गोपाल बाग में ही रहोगे, अपनी माँ के पास आकर घर में न रहोगे ?"

पिताजी के स्वर से करुणा का समुद्र सा उमड़ रहा था। मैं रोने लगा, यद्यपि मुझे विश्वास था कि वे अच्छे हो रहे हैं। पर उनके कथन का मैं कोई उत्तर न दे सका।

मुझे निरुत्तर देख वे फिर बोले, आज उनके स्वर में ही करुणा थी, नेत्रों में नीर नहीं—"मुझे जवाब दो, तुमसे अगर घर लौट कर रहने का वचन पा जाऊँगा तो और सुख से मर सकूँगा।"

मेरे आँसू न रुकते थे, पर जो वचन वे चाहते थे वह भी मैं न दे पाता था।

जब उन्होंने बार-बार कहा कि "बोलो···बोलो, तुम बोलते क्यों नहीं हो।" तब चारों तरफ से साहस बटोर मैं इतना ही कह सका—"आप तो अच्छे हो रहे

हैं, पर इस सम्बन्ध में मुझे गान्धीजी से पूछना होगा।" अपनी छाती पर पत्थर नहीं पहाड़ रखकर मैंने पिताजी को यह छोटा सा उत्तर दिया था। इस छोटे से वाक्य को कहने में मुझे जितनी मेहनत पड़ी थी वह कभी बड़े-से-बड़े भाषण देने में भी नहीं और इस उत्तर को देने में मैंने साहस का चाहे कितना ही बड़ा काम क्यों न किया हो, सिद्धान्त का चाहे कितना ही पालन क्यों न किया हो, पर यह उत्तर...यह रूखा-सूखा उत्तर...मृत्यु-शैया पर पड़े हुए पिता को उसके इकलौते पुत्र का यह उत्तर सारी मानवी भावनाओं के विपरीत किसी अत्यधिक शुष्क और कभी न पसीजने वाले पाषाण-हृदय व्यक्ति के ही मुख से निकल सकता था, जो मैं कदापि न था। इसी के परिमार्जन के लिए कदाचित् मेरे चौधारे आँसू बह रहे थे।

मेरा यह उत्तर सुन अत्यधिक निराश स्वर से पिताजी ने इतना ही कहा—"अच्छा गान्धीजी से पूछ लेना।" और यह कह वे लेट गये।

मैं चाहता था कि उस कमरे में इस समय जल्दी से जल्दी कुछ लोग आ जायँ। पिताजी के लेटते ही मैं तत्काल बाहर गया और मेरी माताजी आदि को बुला लाया। पिताजी की मृत्यु के कुछ समय बाद जब मैंने गान्धीजी से पिताजी की इस अन्तिम इच्छा का हाल बताया तब गान्धीजी ने मुझे फिर से राजा गोकुलदास महल में रहने की केवल अनुमति ही नहीं, एक प्रकार से आज्ञा दी, जिसके अनुसार लगभग १४ वर्ष के बाद मैं पुनः वहाँ रहने लगा, पर पिताजी को मृत्यु के पहले मैं इस विषय में संतुष्ट न कर सका, इसका मुझे जितना पश्चात्ताप है उतना कदाचित् जीवन में किसी बात का नहीं।

ता० ८ की रात को भी पिताजी की तबीयत ठीक रही और ता० ९ के दोपहर तक भी कोई बिगाड़ न हुआ। पर ता० ९ को लगभग १ बजे दिन से उनका बुखार फिर बढ़ने लगा और सन्ध्या तक फिर १०४ डिग्री हो गया। पेंसलीन के इंजक्शन और हेमगर्भ तथा चन्द्रोदय की मात्राएँ चल रही थीं, पर अब न पेंसलीन के जादू का असर हो रहा था और न हेमगर्भ और चन्द्रोदय की मात्राएँ दोषों का शमन कर रही थीं। ता० ९ को अर्ध रात्रि के बाद पिताजी के स्वास्थ्य में सन्निपात के सारे लक्षण दिखायी पड़ने लगे। अब उन्हें पूरा होश भी न रहा और नब्ज़ भी घर छोड़ने लगी। डाक्टर और वैद्यों

की राय थी कि किसी क्षण कुछ भी हो सकता है। फिर से चिन्ता और निराशा का साम्राज्य फैला, इस बार की निराशा तो पूर्ण निराशा थी। एक ओर भगवद्गीता का पाठ आरम्भ हुआ और दूसरी ओर श्रीमद्भागवत का।

ता० १० का प्रातःकाल आया। ता० १० को दिन भर वही हालत रही और ता० १० की रात को तो उन्हें अत्यधिक कष्ट रहा। अब उन्हें जरा भी होश न था। किसी को भी यह आशा न थी कि ता० १० की रात निकलेगी। हम लोग सभी चकित थे कि इस प्रकार समय निकल कैसे रहा है।

उस समय तारीखें और तिथियाँ साथ-साथ चल रही थीं। ता० ११ मई का प्रातःकाल वैशाख शुक्ल ११ का प्रातःकाल था। प्रातःकाल जब स्थिति और नाजुक हुई तब हमने उन्हें पलंग से भूमि पर उतारा, और भूमि पर उतारते ही यह क्या हुआ ? पिताजी को एकाएक होश आ गया। नब्ज़ का पता न था। खून का दवाब ४० तक उतर आया था और ऐसी हालत में वे होश में आकर कहते हैं—"अब मेरी तबियत ठीक है। मुझे बिठा दो।" फिर से वैद्यों ने नब्ज़ देखी और डाक्टरों ने दिल की धड़कन तथा खून का दबाव। डाक्टर और वैद्य सब एक मत थे कि उनके जाने में बहुत विलम्ब नहीं। पर हमने उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें तकिये लगाकर बैठा अवश्य दिया। बैठ कर चारों ओर देखते हुए उन्होंने श्रीनाथजी का वह चित्र मँगवाया जो हाल ही में उन्होंने श्री नाथद्वारे से बनवाया था और उस चित्र को अपने सामने अपने इतने सन्निकट रखने को कहा, जिससे उनका दाहना हाथ उस चित्र के चरणों तक पहुँच सके। जब वह चित्र जहाँ वे चाहते थे वहाँ रख दिया गया तब उस चित्र को एकटक देखते हुए उन्होंने बार-बार उस चित्र के चरणों को अपने हाथ से स्पर्श कर उस हाथ को अपने हृदय से लगाना आरम्भ किया। एक ओर भगवद्गीता और दूसरी ओर श्रीमद्भागवत का पाठ हो ही रहा था अब राम धुन भी आरम्भ हुई। उसी समय उनके हाथ से दान-पुण्य भी कराये गये जो अन्त समय होते हैं—जैसे—अष्ट महादान, गोदान इत्यादि। जब दो प्रत्यक्ष गोदान हो चुके तब उन्होंने एक प्रत्यक्ष गोदान की और आज्ञा दी।

पिताजी के इस प्रकार बैठने का संवाद नगर भर में फैल गया और सैकड़ों नहीं हजारों मनुष्य राजा गोकुलदास महल में उमड़ पड़े। छोटे-छोटे

समुदायों में लोग पिताजी के कमरे के बाहर के चौक में लाये जाते और एक समुदाय के दर्शन करने के पश्चात् तत्काल दूसरा समुदाय पहुँचता। कैसा दृश्य था वह ! आह ! मृत्यु के हर क्षण समीप ः ाते हुए पिताजी पूरे होश-हवास में भगवान के दर्शन कर रहे थे, क्षण-क्षण पर भगवान के चरण स्पर्श कर रहे थे ! गीता तथा भागवत का पाठ हो रहा था और राम धुन का उच्च स्वर से उच्चारण ! हजारों की संख्या में जनसमुदाय उनके दर्शन के लिए आ और जा रहा था !

पिताजी उस अवस्था में कोई एक पहर बैठे रहे। बारह बजकर सोलह मिनिट पर उन्होंने भगवद्गति प्राप्त की। सूर्य उत्तरायण में थे, तिथि थी मोहनी एकादशी और समय था मध्याह्न। इस प्रकार की इच्छित मृत्यु देखी और सुनी ही नहीं, पढ़ी तक न थी।

पिताजी की मृत्यु का यह संवाद जब नगर में फैला, किसी को हड़ताल करने के लिए कहने की आवश्यकता न पड़ी। उस दिन शहर की एक दूकान भी खुली न रही। उनके शव के विमान के साथ हजारों का समुदाय था और उसमें सभी समाजों और जातियों के लोग सम्मिलित थे।

पिताजी की मृत्यु यद्यपि ७५ वर्ष की पूर्ण आयु में हुई थी तथापि राजा गोकुलदास महल को शोक-समुद्र ने निमग्न कर दिया। माताजी की कारुणिक मूर्ति देख छाती फटती थी। उनका एक विश्वास था कि वे मेरे पिताजी के सामने जायँगी, पिताजी उनके सामने नहीं। उनके इस विश्वास के नष्ट होने से उनका शरीर भी नष्टप्राय हो गया।

पिताजी की मृत्यु की मुझ पर प्रतिक्रिया

खाना-पीना तथा मौज करना जिनके जीवन का ध्येय है, और जो यह जानते हैं कि सफल जीवन का अर्थ इतना ही है, उन्हें यदि हम छोड़ दें तो जो एक दूसरे स्तर पर जीवन-यापन करना चाहते हैं उनकी दृष्टि से जीवन का ध्येय है आत्म-सम्मान और आत्म-कल्याण। मैं समझता हूँ इन दो व्यापक शब्दों में इस स्तर के सभी प्रकार के मानवों का जीवन आजाता है चाहे वे धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक किसी भी क्षेत्र में काम करने वाले क्यों न हों। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि भक्तों और मुमुक्षों के जीवन का जो उद्देश्य भगवत् प्राप्ति है वह भी आत्म-कल्याण के अन्तर्गत ही है। पिताजी की मृत्यु तक मेरा मत था कि आत्म-सम्मान और आत्म-कल्याण दोनों के लिए सार्वजनिक जीवन ही सबसे बड़ा साधन है। परन्तु कभी-कभी कोई ऐसी घटना घटित हो जाती है और उस घटना का मन पर अचानक ऐसा प्रभाव पड़ता है कि जीवन भर के विचार स्रोत का मार्ग ही बदल जाता है और वर्षों नहीं युगों से वरन् सारे जीवन भर मनुष्य जो कुछ सोचता रहता है उससे ठीक विपरीत दिशा में उसकी विचारधारा बहने लगती है। पिताजी के अन्तिम जीवन और मृत्यु के समय मैंने जो कुछ देखा उसका मुझ पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि अब तक मैं जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ सोचता था, मेरी विचारधारा ने उससे सर्वथा भिन्न मार्ग पकड़ा। मैं सोचने लगा कि क्या सचमुच सार्वजनिक जीवन ही आत्म-सम्मान और आत्म-कल्याण का एकमात्र तथा सर्वप्रधान साधन है? पिताजी ने जीवन भर कभी भी एक दिन क्या एक क्षण के लिए भी सार्वजनिक जीवन में प्रवेश न किया था। उनका युवावस्था का जीवन चाहे कैसा ही क्यों न रहा हो, पर अन्तिम जीवन कुछ ऐसा हो गया कि मरते-मरते उन्होंने जीवन के इन दोनों ध्येयों को प्राप्त कर लिया। वे विदेशी सरकार के हितैषी थे, उसी सरकार के पदवीधारी। उन दिनों ऐसे आदमियों की जैसी मिट्टी पलीत होती थी वह देश भर में रोज का ही नजारा था, पर उनके विदेशी

सरकार के हितैषी और उसी सरकार के पदवीधारी होते हुए भी उनका उस समय जबलपुर में सबसे अधिक सम्मान था। वे कभी इस देश के सबसे बड़े धनवानों में से एक थे और बाद में उनका धन कम हो गया था, इतना ही नहीं, वे कर्जदार हो गये थे, उन पर नालिशें हुई थीं, कुड़कियाँ हुई थीं, पर इतने पर भी उनके सम्मान में जरा भी क्षति न पहुँची थी। और आत्म-कल्याण के विषय में तो पूछना ही क्या था? वल्लभ सम्प्रदाय के इस समय के सबसे महान् आचार्य श्री गोकुलनाथजी महाराज ने जब उनकी मृत्यु का यह सारा वृत्त सुना तब उन्होंने कहा कि पिताजी को भक्ति मार्ग का मोक्ष प्राप्त हुआ है। पिताजी का जीवन सार्वजनिक न रहते हुए भी उन्होंने जीवन के ये सर्वोत्कृष्ट ध्येय आत्म-सम्मान और आत्म-कल्याण को कैसे प्राप्त किया, मैं बार-बार सोचने लगा। एकाएक मुझे इसका रहस्य समझ में आया। फ्रांसीसी प्रसिद्ध साहित्यकार रोमा रोलाँ ने एक स्थान पर लिखा है—"सच्चाई बुद्धिमत्ता और सौन्दर्य के सदृश ही एक अतुलित दैवी देन है।" पिताजी को निसर्ग से यह देन मिली थी। रोमा रोलाँ इसी विषय पर आगे लिखते हैं—"सच्चे रहने की इच्छामात्र यथेष्ट नहीं; सच्चे रह सकने की शक्ति होना आवश्यक है।" पिताजी में यह क्षमता थी। फिर पिताजी के अन्तिम जीवन में स्वार्थ जैसी कोई वस्तु न रह गयी थी और उन्होंने अपने को भगवत चरणारविन्दों में नितान्त शुद्ध अन्तःकरण से अर्पित कर दिया था। जिस सार्वजनिक जीवन को मैं आत्म-सम्मान और आत्म-कल्याण का सबसे बड़ा साधन मानता था क्या उसमें स्वार्थपरता नहीं रहती? सार्वजनिक जीवन के क्षेत्रों में काम करने वालों में क्या सभी का अन्तःकरण शुद्ध रहता है? सार्वजनिक जीवन में बड़े से बड़े स्वार्थी भी दृष्टिगोचर होते हैं और शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्तियों के विपरीत अनेक नरपिशाच भी। मैं यह नहीं कहता कि सारे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता स्वार्थी और अशुद्ध अन्तःकरण के रहते हैं, परन्तु ऐसे नहीं रहते, यह नहीं कहा जा सकता। यदि कोई व्यक्ति सच्चा निःस्वार्थी है और यदि उसका अन्तःकरण नितान्त शुद्ध है तो वह सार्वजनिक जीवन में हो या न हो, उसके द्वारा ऐसे कार्य होते हैं कि उसे जीवन के ये दोनों ध्येय आत्म-सम्मान और आत्म-कल्याण प्राप्त हो जाते हैं। पिताजी के इस अन्तिम जीवन के कौनसे कार्य थे—सबसे पहला

भगवद्-सेवा और उसके बाद बिना किसी बदले की भावना के सबको भगवान का रूप मान जिनकी वे जितनी भी भलाई कर सकें उतनी भलाई करना। स्वार्थ से रहित होने से उनके द्वारा परार्थ होता था और नितान्त शुद्ध अन्तःकरण से अपने को भगवान के अर्पण कर देने के कारण उन्होंने परमार्थ भी प्राप्त कर लिया।

पिताजी के अन्तिम जीवन और उनकी मृत्यु की मुझ पर कुछ ऐसी प्रतिक्रिया हुई कि जिस लोकेषणा का मैं मूलोच्छेदन न कर पाया था उसकी जड़ अब सूखती-सी जान पड़ी और भगवान के विषय में जो मैं संशयात्मा हो गया था यह सन्देह भी निवृत्त होता दिखने लगा। इन्हीं दिनों मैंने चीन के प्रसिद्ध धर्म-प्रवर्तक लाओटसी का एक कथन पढ़ा। इस कथन का भी मेरे मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे एक स्थान पर कहते हैं—"जो अपना प्रकाश जानने पर भी अंधकार में रहता है वही संसार का सच्चा आदर्श व्यक्ति है।" इस प्रकार का मानव कोई मनुष्य हो सके तो पूछना ही क्या, पर खेद तो इस बात का है कि आयर्लेण्ड के एक प्रसिद्ध साहित्यिक जेम्स स्टीफेन्स के शब्दों में "यह सचमुच ही एक कारुणिक बात है कि संसार में मानव सदा मानव नहीं रह पाता।"

सार्वजनिक जीवन में मैं अभी भी हूँ, पर मेरी विचारधारा सर्वथा भिन्न हो गयी है और अनेक बार तो सब कुछ छोड़ शास्त्रोक्त संन्यास लेने की बात मेरे मन में उठती है। इस नयी वृत्ति के बाद सार्वजनिक जीवन के षड्यन्त्र मुझे कितने घृणित जान पड़ते हैं और सार्वजनिक जीवन से प्राप्त स्थान और पद कितने छोटे! प्रसिद्ध फ्रांसीसी साहित्यिक श्री अनातोले फ्रांस ने एक स्थान पर लिखा है—"जीवित रहना ही परिवर्तित होना है। हमारे लिखित विचारों का भावी जीवन भी इस नियम के प्रतिकूल नहीं हो सकता। वे इसी शर्त पर जीवित रहते हैं कि जब उनका प्रादुर्भाव हुआ उस काल के बाद उनमें भी परिवर्तन होता गया। भविष्य में यदि हमारी किसी बात की भी सराहना हुई तो वह आज जो कुछ हममें है उससे सर्वथा भिन्न होगी।"

मैं फिर प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष

तीसरी बार की जेल-यात्रा से लौटकर मैंने सन् १९३४ में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति पद से त्याग-पत्र दे दिया था। इस घटना को बारह वर्ष का पूरा एक युग बीत गया था। इस बीच संसार, देश और हमारे प्रान्त में न जाने कितनी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हो चुकी थीं, परन्तु १९३४ के बाद अब तक देश या प्रान्त के कांग्रेस कार्य संचालन के सूत्र मेरे हाथ में नहीं रहे थे। यद्यपि मेरे प्रान्तीय कांग्रेस के सभापतित्व छोड़ने के पश्चात् कांग्रेस का अधिवेशन त्रिपुरी में हुआ था, और उसकी स्वागत समिति का मैं अध्यक्ष था, परन्तु वह कार्य था केवल कांग्रेस के उस अधिवेशन से सम्बन्ध रखने वाला। उसके बाद मैंने कुछ समय के लिए सार्वजनिक जीवन से अवकाश ग्रहण कर लिया था और यद्यपि सन् ४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह तथा सन् ४२ के स्वातन्त्र्य संग्राम में मैंने पूरा भाग लिया था तथापि वह भाग लेना सम्बन्ध रखता था केवल इन दोनों आन्दोलनों से। प्रान्त का कांग्रेस कार्य संचालन मेरे हाथों में सन् ३४ के बाद फिर से सन् ४६ में ही आया।

पिताजी की मृत्यु को केवल ५ दिन हुए थे। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का नया सभापति मैं होऊँ इसकी चर्चा बहुत दिन से चल रही थी। सन् ४२ के जेल जीवन में भी इस विषय में बातें चली थीं। एक ओर भवानीप्रसादजी तिवारी का दल और दूसरी ओर द्वारकाप्रसादजी मिश्र का दल दोनों ही मेरा समर्थन कर रहे थे। इस समय प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष ठाकुर छेदीलालजी थे और उन्होंने फिर से अपने न खड़े होने का ऐलान-सा कर दिया था। अतः ऐसा जान पड़ता था कि इस पद पर मेरा चुनाव निर्विरोध हो जायगा। परन्तु जिस दिन चुनाव था उसी दिन एकाएक परिस्थिति बदली और जो उस समय मेरे सबसे बड़े समर्थकों में एक थे वही ठाकुर निरंजनसिंह मेरे विरुद्ध खड़े हो गये।

एक तो सभी पक्षों से मेरे समर्थन और निर्विरोध चुनाव की चर्चा थी,

दूसरे पिताजी की मृत्यु को इतने कम दिन हुए थे और उनके क्रियाकर्म में मैं लगा हुआ था। अतः इस चुनाव के लिए मैंने कोई तैयारी ही न की थी। मेरे पक्ष के कई सदस्य अनुपस्थित थे। ऐसी परिस्थिति में चुनाव के दिन निरंजनसिंह का इस प्रकार खड़े होना मुझे विश्वासघात-सा जान पड़ा। जो कुछ हो, पं० रविशंकरजी शुक्ल तथा पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र ने मेरे पक्ष में अपना पूरा जोर लगाया। सूतक होते हुए भी मुझे प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में जाना पड़ा। जब मैं वहाँ गया तब मुझे मालूम पड़ा कि विरोधी पक्ष ने भीतर ही भीतर अपनी पूरीं तैयारी की थी। अपने पक्ष के हर सदस्य को वे लाये थे और पिताजी की बीमारी तथा मृत्यु के कारण जो मैं इस ओर ध्यान देने में सर्वथा असमर्थ रहा था, उसका भी लाभ उठाया गया था। इस दल द्वारा मेरे समर्थन की जो बात की जा रही थी वह भी हमें धोखे में रखने के लिए ही। जिस विश्वासघात शब्द का मैंने ऊपर उपयोग किया है उसका स्पष्ट नजारा था। पर यह सब होने पर भी, हमारे पक्ष के कई सदस्यों के अनुपस्थित रहने पर भी, ६ वोटों के बहुमत से मेरी जीत हो गयी।

पिताजी की मृत्यु की जो प्रतिक्रिया मुझ पर हुई थी और इस समय मैं जिस मानसिक अवस्था में था उसके कारण मुझे इस चुनाव में जरा भी महत्त्व दृष्टिगोचर न हुआ। हाँ, जब मैं खड़ा हुआ ही था तब जीतने के लिए जिन बातों को करने की आवश्यकता थी वे तो करनी ही पड़ीं। पिताजी की मृत्यु को इतना थोड़ा समय व्यतीत होने पर मेरा कमेटी की बैठक में जाना भी कोई उपयुक्त बात न थी पर वह भी इसीलिए करना पड़ा कि जीतने के लिए वह भी एक आवश्यक बात मानी गयी।

मेरे इस चुनाव से मुझे यद्यपि कोई खास बात महसूस न हुई पर जिन्होंने मेरा विरोध कर यहाँ तक कहना आरम्भ किया था कि "Now or Never" वे अत्यधिक हताश हो गये।

सन् ४६ से अब सन् ५५ तक अर्थात् लगातार नौ वर्षों से मैं ही प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का सभापति चला आता हूँ। सन् ४६ के बाद इन ९ वर्षों में ६ बार इस पद का चुनाव हुआ और ५ बार मैं निर्विरोध चुना गया। एक बार जब सन् ५० में मेरे विरुद्ध श्री काशीप्रसादजी पाण्डे खड़े हुए तब इसलिए

कि उस बार अखिल भारतीय चुनाव का झगड़ा टण्डनजी, कृपलानीजी और श्री देव में चल रहा था। हमारे प्रान्त में भी इस झगड़े के कारण दो दल हो गये थे और पाण्डेजी उस दल की ओर से खड़े किये गये जो कृपलानीजी का समर्थन कर रहा था। सन् ५० के इस चुनाव में मुझे १०१ और पाण्डेजी को १९ वोट मिले थे।

जिस प्रकार सन् २९ से ३४ तक मेरे सभापतित्व के पहले काल में सत्याग्रह आन्दोलनों के कारण प्रान्त में बड़ी जागृति रहीं, उसी प्रकार स्वराज्य प्राप्ति, संविधान निर्माण, स्वतन्त्र भारत के बालिग मताधिकार पर पहले आम चुनावों और भूदान आदि के कारण मेरे इस काल के सभापतित्व में भी। फिर मैं अकर्मण्य और आलसी तो जीवन में कभी रहा ही नहीं अतः दोनों बार ही प्रान्त में खूब दौरे और कार्य होता रहा। गत चुनावों में तो मैंने लगातार तीन महीने तक प्रान्त में कोई सात हजार मील का दौरा किया। भूदान के सिलसिले में भी काफी दौरे हुए। इस बीच प्रान्तीय राजनैतिक परिषद् के भी मेरे ही सभापतित्व में दो अधिवेशन हुए। एक रायगढ़ में और दूसरा सागर में, जो काफी सफल माने गये।

इस प्रकार यद्यपि मेरा सभापतित्व काल प्रान्त में बहुत सफल माना जाता है और मुझे प्रान्त के सभी कांग्रेसवादियों का पूरा सहयोग प्राप्त है फिर भी मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि संस्था के हित की दृष्टि से इन पदों के पदाधिकारियों में परिवर्त्तन होते रहना चाहिए, जिससे ये पद किसी की बपौती के सदृश न हो जायँ। मेरी बड़ी इच्छा है कि मेरे प्रान्त में भी नये-नये कर्मण्य सभापति आवें।

फिर एक बात इन नौ वर्षों में और हुई। यद्यपि मैं अपने को किसी दल का न मानता था, पर हरेक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता के कुछ लोग पक्ष में होते हैं और कुछ विरोधी। जो एक पक्ष के लोग होते हैं उनका एक दल बन ही जाता है। अतः मैं जिस दल का माना जाता था उसके विरोधी दल के लोग धीरे-धीरे कांग्रेस संगठन से पृथक् होते गये, पहले कुछ लोग समाजवादी दल में मिले। टण्डनजी और कृपलानीजी के संघर्ष के पश्चात् कृपलानीजी और किदवई साहब के कांग्रेस से निकलने के बाद हमारे प्रान्त में कुछ लोग और कांग्रेस

संगठन से निकले। जवाहरलालजी के कांग्रेस सभापति होने और श्री किदवई के वापस कांग्रेस में आने के बाद इनमें से कुछ व्यक्ति कांग्रेस में लौट आये, पर कुछ चुनाव के पूर्व ही फिर इसलिए निकल गये कि चुनाव के अवसर पर उनका सौदा नहीं पटा।

आज महाकोशल के कांग्रेस संगठन में भिन्न-भिन्न दल नहीं हैं, पर इसके बावजूद भी यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि कांग्रेस संगठन धीरे-धीरे कमजोर ही होता जा रहा है। इसके कई कारण हो सकते हैं, पर प्रधान कारण हैं—सरकार के प्रति अनेक कार्यों से असन्तोष, भिन्न-भिन्न संगठित दल न होने पर भी कांग्रेसवादियों के परस्पर वैयक्तिक झगड़े और कांग्रेसवादियों की कोई भी विधायक कार्य न करने की प्रवृत्ति तथा अकर्मण्यता।

मेरा यह सभापतित्व काल सफल माना जाने पर भी और मेरे अकर्मण्य न रह निरन्तर कार्य करते रहने पर भी कांग्रेस की गिरती हुई इस स्थिति को मैं नहीं रोक पा रहा हूँ।

हमारे प्रान्त में कांग्रेस संगठन की जो अवस्था है वही दशा कांग्रेस संगठन की समूचे देश में है और नेहरूजी के सदृश महान् व्यक्ति भी इस स्थिति को नहीं सुधार पा रहे हैं। हमारे प्रान्त में जहाँ कांग्रेस संगठन और सरकार का पूरा सहयोग है तथा कांग्रेस संगठन में भिन्न-भिन्न दल नहीं वहाँ जब यह हाल है तब ऐसे प्रान्तों में जहाँ सरकार और कांग्रेस संगठन का पूरा सहयोग नहीं तथा कांग्रेस संगठन में भिन्न-भिन्न दल हैं वहाँ तो और भी बुरी अवस्था है।

यह भी शायद एक कारण है कि मैं राजनीति से अधिकाधिक ऊबता जाता हूँ और अब प्रान्तीय कांग्रेस के सभापतित्व से किसी तरह अपना पिण्ड छुड़ाना चहता हूँ।

पिताजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् एक और आघात

हमारे कौटुम्बिक श्री गोपाललालजी के मन्दिर का जिक्र पिछले कई अध्यायों में आया है।

पिताजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् इस मन्दिर के ट्रस्ट का मैं भी एक ट्रस्टी हो गया। इस पद पर आते ही मैंने अपनी चिरकाल की एक इच्छा पूर्ण करने का प्रयत्न किया। यह इच्छा थी मन्दिर में हरिजनों का प्रवेश। मेरे यह प्रश्न उठाते ही ट्रस्टियों और हमारे कुटुम्ब में एक तहलका-सा मच गया।

ता० १८ मार्च सन् ४७ को मैंने ट्रस्टियों की बैठक में एक जाप्ते का प्रस्ताव रखा कि मन्दिर के द्वार हरिजनों के लिए खोल दिये जायँ। उस समय ट्रस्टियों का मत हुआ कि यद्यपि यह प्रस्ताव हमारे मन्दिर के लिए "असामयिक" और "असंगत" है तथापि हरिजन प्रवेश का कार्य "प्रगतिशील" होने के कारण ट्रस्टियों को इस प्रश्न से "सहानुभूति" है अतः इस सम्बन्ध में वल्लभकुल संप्रदाय के नाथद्वारे तथा काशी के मन्दिरों से "पथ-प्रदर्शन" लिया जाय और तब कोई "अन्तिम निर्णय" किया जाय।

लगभग चार महीने तक इस "पथ-प्रदर्शन" के लिए नाना प्रकार की कार्यवाहियाँ की गयीं पर जब कोई स्पष्ट पथ-प्रदर्शन न मिला तब ता० ३ जुलाई सन् ४७ को फिर ट्रस्टियों की एक बैठक हुई जिसमें मैंने नीचे लिखा प्रस्ताव पेश किया—

"ता० १८-३-४७ की ट्रस्टियों की मीटिंग के बाद की सारी कार्यवाही देखने के पश्चात् भी मन्दिर के ट्रस्टी निश्चय करते हैं कि वर्त्तमान समय को देखते हुए हरिजनों को मन्दिर प्रवेश करने दिया जाय।"

इस प्रस्ताव के विरुद्ध मेरे भतीजे नरसिंहदास ने, जो हमारे कुटुम्ब के वल्लभदासजी की शाखा की ओर से मन्दिर के एक ट्रस्टी थे, एक लम्बा प्रस्ताव रखा जिसका आशय यह था कि चूँकि मन्दिर का ट्रस्ट आम ट्रस्ट न

होकर एक प्राइवेट ट्रस्ट है, जिसके अनुसार मन्दिर में सेवा करने का अधिकार केवल कुटुम्ब के लोगों को है और इसीलिए मन्दिर में हमारे कुटुम्बियों के सिवा किसी की पूजा तक नहीं ली जाती और चूंकि वल्लभकुल सम्प्रदाय के प्रधान श्रीनाथद्वारे, काशी आदि के मन्दिर भी अब तक हरिजनों के लिए नहीं खुले हैं इसलिए "इस मामले में अस्वाभाविक जल्दबाजी से काम लेना संकट उपस्थित करना है जो सर्वथा अनुपयुक्त है।"

दो घण्टे तक मेरे और नरसिंहदासजी के इस प्रस्ताव पर खूब गरमा-गरम बहस हुई। नरसिंहदास ने अपने इस मत के पक्ष में कि यह ट्रस्ट प्राइवेट ट्रस्ट है न जाने कितने वकीलों की राय एकत्रित की थी जिन में मध्य प्रदेश के एडवोकेट जनरल श्री शेवड़े की भी राय थी। जब बहस के बाद दोनों प्रस्तावों पर राय ली गयी तब मेरे प्रस्ताव के पक्ष में केवल मेरा मत था और शेष चार ट्रस्टियों के मत थे नरसिंहदासजी के प्रस्ताव के पक्ष में।

ट्रस्टियों और मेरे कुटुम्ब का तहलका तो इस निर्णय से शान्त हो गया, पर अब मेरे मन में तहलका मचा। मन्दिर के सम्बन्ध में क्या-क्या याद आया मुझे और इन संस्मरणों के साथ मेरे कुटुम्ब के और मेरे सतत रहे हुए मत-भेदों और संघर्षों के भी कितने प्रकरण स्मरण आये।

अन्त में मैंने मन्दिर के ट्रस्टी पद से स्तीफा देने का निर्णय किया। मेरा यह निर्णय मेरे जीवन के बड़े से बड़े आघातों में एक आघात था इसीलिए मेरे इस त्याग-पत्र में मेरे हृदय की कितनी भावनाएँ फूट-सी पड़ीं। जो कुछ मैंने लिखा है उसमें यह छोटा-सा त्याग-पत्र अपना एक स्थान रखता है। यह त्याग-पत्र परिशिष्ट २ में उद्धृत है।

इस प्रकार की श्री गोपाललालजी के मन्दिर के ट्रस्टी पद से त्यागपत्र दे कर मैंने इस विषय का सारा हाल गान्धीजी को लिखकर उस त्याग-पत्र की एक प्रतिलिपि उन्हें भेज दी। बापू ने मेरे पत्र का जो उत्तर मुझे भेजा वह नीचे उद्धृत किया जाता है।

११-७-४७
न० दि०

चि० गोविन्ददास,

तुम्हारा खत और तुम्हारा बहुत लम्बा निवेदन मिला। निवेदन पढ़ने का समय कहाँ? आवश्यकता भी कहाँ? एक ऐसा मन्दिर खुलने से क्या? वहाँ की परिस्थिति भी जाननी चाहिए इसलिए जो स्वतन्त्र रूप से उचित समझा जाय वही करो।

बापू के
आशीर्वाद

गान्धीजी के इस पत्र को पढ़कर मैं विचार में पड़ गया। पत्र से ध्वनित होता था कि हरिजनों के लिए मन्दिर खोलने के सबसे प्रथम और सबसे बड़े हिमायती बापू ने भी इस विषय को परिस्थिति पर ही छोड़ा और कहा—"एक ऐसा मन्दिर खुलने से क्या?"

मन्दिर से मेरा शैशवकाल से ही जो सम्बन्ध रहा था उसके कारण ट्रस्टी पद से स्तीफा देने से मुझे बड़ा भारी आघात लगा था। तो क्या मैंने जल्दी में स्तीफा देकर कोई गलती की थी? क्या मुझे ट्रस्टी की हैसियत से मन्दिर की सेवा करते हुए ही प्रयत्न करते रहना चाहिए था कि आगे-पीछे मन्दिर को हरिजनों के लिए खुलवाना?

अनेक वर्ष बीत जाने पर भी अब तक यह मन्दिर हरिजनों के लिए नहीं खुल पाया है और मैं अब तक इसका निर्णय भी नहीं कर पाया हूँ कि मैंने ट्रस्टी पद से स्तीफा देकर उचित बात की थी या नहीं।

खंडवे में माताजी की धर्मशाला में श्री लक्ष्मीनारायण के मन्दिर की प्रतिष्ठा

मध्य प्रान्त के निभाड़ जिले में खंडवा नगर उस जिले की राजधानी है। छोटा सा नगर है, परन्तु मध्य भारत और राजस्थान जाने का जंकशन स्टेशन होने एवं व्यापार का एक छोटा सा केन्द्र होने के कारण नगर बहुत बड़ा न होने पर भी वहाँ बड़ी चहल-पहल रहती है।

मेरी माताजी इस नगर की थीं। उनके पिता और मेरे नाना रघुनाथदासजी बिरला अपने समय के इस नगर के सबसे बड़े व्यापारी थे।

मध्य भारत और राजस्थान का जंकशन स्टेशन होने के कारण यहाँ से सैकड़ों ही यात्री रोज रेल में चढ़ते-उतरते हैं। मुसाफिरों के ठहरने की यहाँ कोई अच्छी जगह न थी। अतः माताजी का जन्म-स्थान होने के कारण पिताजी ने कोई तीन लाख रुपया लगाकर स्टेशन के ठीक सामने एक सुन्दर, विशाल और भव्य धर्मशाला बनवायीं थी। सन् १९२४ में यह धर्मशाला बनकर तैयार हुई थी और इसका उद्घाटन मध्य प्रदेश के उस समय के गवर्नर सर फ्रेंक स्लाइ ने किया था। इन बातों का उल्लेख शायद पहले भी हो चुका है। धर्मशाला का प्रबन्ध ट्रस्टियों द्वारा होता है और यह माना जाता है कि इतनी सुन्दर, विशाल और भव्य धर्मशाला देश में शायद इनी-गिनी होंगी। साथ ही इस धर्मशाला का जैसा प्रबन्ध है और इसके कारण यात्रियों को जितनी सुविधाएँ, ऐसा सुप्रबन्ध और यात्रियों को ऐसा आराम भी इस देश की शायद कम धर्मशालाओं में होगा। वर्ष भर में इस धर्मशाला में लगभग डेढ़ लाख यात्री ठहरते हैं, हिन्दू, मुसलमान, हरिजन हर जाति और हर धर्म के तथा समाज में हर तबके के। जवाहरलालजी नेहरू के सदृश व्यक्ति भी इस धर्मशाला में ठहर चुके हैं और उन्होंने यहाँ के प्रबन्ध की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इस धर्मशाला को देखकर मुझे अनेक बार सैम्युअल जॉन्सन का निम्नलिखित कथन याद आ जाता है—"मनुष्य ने अब तक ऐसी कोई वस्तु नहीं बनायी

जिसके द्वारा एक अच्छी धर्मशाला से अधिक सुख की उत्पत्ति होती हो।"

पिताजी के उदारता के अनेक कार्य हुए, परन्तु उनमें सर्वश्रेष्ठ मैं इस धर्मशाला को मानता हूँ।

इस धर्मशाला की अन्य विशेषताओं के सिवा एक विशेषता है इसका बड़ा भारी चौक। खंडवे के सदृश व्यापारी नगर में स्टेशन के सामने इतने बड़े घेरे का चौक एक अद्भुत-सी चीज है। इस चौक के एक सिरे पर पिताजी श्री लक्ष्मीनारायण का एक छोटा सा मन्दिर बनवा गये थे और उस मन्दिर में प्रतिष्ठित करने के लिए जयपुर से श्री लक्ष्मीनारायणजी की एक सुन्दर मूर्ति रखवा गये थे। बहुत अधिक इच्छा रहने पर भी इस मन्दिर की प्रतिष्ठा पिताजी अपने जीवन-काल में न करा सके।

पिताजी के देहावसान के पश्चात् मैं इस धर्मशाला का एक ट्रस्टी हुआ। जबलपुर के श्री गोपाललालजी के मन्दिर का भी पिताजी की मृत्यु के पश्चात् मैं ट्रस्टी हुआ था। परन्तु उस मन्दिर में हरिजन-प्रवेश के प्रश्न पर जो बखेड़ा खड़ा हो गया था उसके कारण मुझे वहाँ के ट्रस्टी पद से स्तीफा देना पड़ा था। उसका विवरण इसके पहले के अध्याय में आ चुका है।

खंडवे की इस धर्मशाला में सब धर्मों तथा जातियों के लोग ठहरते थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। श्री गोपाललालजी के मन्दिर में मैं जो न करा सका था उसे ही यहाँ कराने का अर्थात् हरिजनों के इस मन्दिर में प्रवेश कराने का ही मैंने निश्चय नहीं किया पर एक और ऐसी बात की जैसी शायद देश में अन्य किसी स्थान पर नहीं हुई थी। यह थी श्री लक्ष्मीनारायण की मूर्ति के साथ समस्त धर्मों के ग्रन्थों की भी प्रतिष्ठा। इस प्रतिष्ठा के कार्य के लिए मैंने सन्त विनोबाजी से प्रार्थना की। विनोबाजी की मुझ पर कृपा थी ही। हरिजनों के लिए मन्दिर खुला रहेगा और सब धर्मों के ग्रन्थों की प्रतिष्ठा यह एक नया कार्य यहाँ होगा, यह सुन विनोबाजी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। सन् १६२४ में जिस धर्मशाला का उद्‌घाटन मध्य प्रदेश के विदेशी गवर्नर सर फ्रेंक स्लाइ ने किया था उसी के मन्दिर की प्रतिष्ठा सन्त विनोबा कर रहे थे। यह था समय का परिवर्त्तन!

ता० ६ मई १६४८ को मन्दिर की प्रतिष्ठा का यह आयोजन हुआ। विनोबाजी उसी दिन प्रातःकाल खंडवा पधारे और प्रान्त के कितने लोग

आये इस समारोह में सम्मिलित होने को। आयोजन बहुत ही सफल हुआ। धर्मशाला का आँगन, जिसमें लगभग दस हजार मनुष्य सरलता से बैठ सकते हैं, भीड़ से खचाखच भरा हुआ था। विनोबाजी का भाषण बड़ा ही मार्मिक हुआ। उन्होंने उस भाषण में जो कुछ कहा था उसकी कुछ बातें मुझे सदा ही याद आ जाया करती हैं। विनोबाजी ने कहा कि वैदिक धर्म सदा सब धर्मों को एक दृष्टि से देखता आया है और इस मन्दिर में श्री लक्ष्मीनारायण की मूर्ति के साथ सब धर्मों के ग्रंथों की प्रतिष्ठा वैदिक धर्म के मत का प्रत्यक्ष प्रतिपादन है। फिर उन्होंने निरीश्वरवादियों से कहा कि यदि ईश्वरवादी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सके तो निरीश्वरवादी भी ईश्वर नहीं है यह कहाँ सिद्ध कर सके ? फिर वे बोले आजकल कहा जाता है कि जन-सेवा ही मुख्य वस्तु है, ईश्वर-सेवा तो ढकोसला। जन-सेवा महत्त्व की नहीं यह मेरा कहना नहीं है। उसके लिए तो भगवान स्वयं अवतार लेते हैं पर बिना ईश्वर की सेवा के सच्चा सन्तोष नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य जिसकी सेवा करना चाहता है उसे पूर्ण देखना चाहता है। जब यह पूर्णता मनुष्य में नहीं मिलती तब उसे पूर्ण सन्तोष नहीं होता। वह पूर्णता ईश्वर में मिल सकती है अतः ईश्वर-सेवा से ही पूर्ण सन्तोष मिल सकता है। मूर्ति पूजा के समर्थन में उन्होंने एक नयी तर्क दी। उन्होंने कहा कि इस आक्षेप का कि जब ईश्वर सब में व्याप्त है तब मूर्ति पूजा क्यों, यह उत्तर है कि बिजली भी सब जगह व्याप्त रहती है पर वह प्रकट वहीं होती है जहाँ बटन दबाया जाता है। इसी प्रकार ईश्वर के सर्वत्र व्याप्त होने पर भी मूर्ति में ईश्वर का उसी प्रकार आविर्भाव होता है जिस प्रकार बटन दबाने से बिजली के लट्टू (बल्ब) में प्रकाश का।

ईश्वर की महिमा का वर्णन करते हुए भाषण के बीच में कंठ गद्गद् हो जाने के कारण जिस तरह दो बार विनोबाजी को रुकना पड़ा था और उस समय जिस प्रकार अधिकांश उपस्थित जनों के नेत्र सजल हो गये थे, वह दृश्य आज भी मुझे जैसा का तैसा याद है।

अपने स्वागत-भाषण में विनोबाजी, अन्य बाहर से आये हुए मेहमानों और नगर तथा जिले की जनता का स्वागत करते हुए मैंने धर्मशाला का इतिहास बताया था एवं भरे हुए हृदय से पिताजी की स्तुति की थी। पिताजी की स्तुति में मैं शायद उससे अधिक और कुछ न कह सकता था। मैंने भी

उस समय जो कुछ कहा था उसके कई अंश मुझे आज भी याद आ जाते हैं, विशेषकर पिताजी के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ कहा था वह अंश। पिताजी के विषय में मैंने कहा था—"सन् १९२० से ही पिताजी का और मेरा तीव्र मत-भेद रहा था, परन्तु इतने पर भी मैं आज यह कहे बिना नहीं रह सकता कि देश के विभिन्न भागों में निरन्तर पर्यटन करते रहने पर और सम्पन्न-से-सम्पन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आने पर भी कम-से-कम मैंने अब तक उतना उदार व्यक्ति नहीं देखा।" आगे चलकर मैंने यह और कहा—"आज उनके सम्बन्ध में यह सब कहते हुए मैं उसी गर्व का अनुभव कर रहा हूँ जिसका अनुभव पं० जवाहरलालजी ने उस समय किया होगा जब उन्होंने अपने आत्म-चरित्र में पं० मोतीलालजी के लिए निम्नलिखित वाक्यों को लिखा होगा—'उनमें व्यक्तित्व का बल था और बादशाहियत की मात्रा थी।··· जिस किसी समाज में वे जा बैठते उसके केन्द्र वही बन जाते।···उन्हें इस बात का भान रहता था कि उनका मिजाज शाही था।···इस संकीर्णता और कमजोरी से भरी दुनिया में उनकी शाहीयाना हस्ती की बार-बार याद आती है। मैं अपने चारों तरफ उनकी-सी अजीब ताकत और उनकी-सी शान-शौकत को खोजता हूँ लेकिन बेकार।···उनकी शान सिंहों और राजाओं जैसी ही थी'।"

प्रान्त के सार्वजनिक जीवन में वह आयोजन अपना एक विशेष स्थान रखता है। कितने समय तक उसकी चर्चा होती रही और आज भी कितने बार हो जाती है। विनोबाजी भी उसका अनेक बार जिक्र करते हैं।

खंडवा की उस धर्मशाला का खर्च चलता है उस धर्मशाला में बनी हुई दूकानों के किराये से। ऐसे अच्छे मौके पर यह धर्मशाला बनी है कि इन दूकानों का खूब किराया आता है। सभी खर्च चलने के सिवा हर वर्ष कुछ बचत भी हो जाती है। बचत की इस रकम से धर्मशाला के पास एक खासा कोष भी जमा हो गया है। मन्दिर की प्रतिष्ठा के बाद से ही मेरा विचार है कि इस कोष से सब धर्म के ग्रन्थों का एक अच्छा पुस्तकालय इस मन्दिर के साथ खोला जाय और सब धर्मों के समन्वय पर खोज के साथ कुछ ग्रन्थ निर्माण का कार्य हो। धर्मशाला के अन्य ट्रस्टी भी मेरी राय का समर्थन कर चुके हैं। देखें यह कार्य कब तक हो पाता है।

सन् ३९ के युद्ध से स्वतन्त्रता तक की घटनाओं पर एक दृष्टि

पहली सितम्बर १९३९ को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण करके यूरोप में दूसरे विश्वव्यापी महायुद्ध का सूत्रपात किया। वैसे तो इस महायुद्ध का तात्कालिक कारण जर्मनी की यह माँग थी कि डेन्जिग जर्मनी से मिला दिया जाय, किन्तु इस महायुद्ध और इससे पहले उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के युद्धों का कारण प्रधानतया यह प्रश्न था कि यूरोप और पृथ्वी में जर्मन राष्ट्र का क्या स्थान हो। जर्मन राष्ट्र यूरोप के मध्यवर्ती भाग में बसा हुआ है। उसकी जनसंख्या ८ करोड़ के लगभग है। यूरोप में रूसियों के अतिरिक्त और ऐसा कोई राष्ट्र या जाति नहीं है जिसकी जनसंख्या इतनी अधिक हो। फ्रांसीसियों की जनसंख्या ४ करोड़ के लगभग है और अतालियों की जनसंख्या ४॥ करोड़ है। इंग्लैंड वालों की जनसंख्या भी लगभग ४॥ करोड़ ही है। यूरोप की अन्य किसी जाति की जनसंख्या २ करोड़ से अधिक नहीं है। अतः रूस को छोड़कर शेष यूरोप में जनसंख्या की दृष्टि से जर्मनों का प्रथम स्थान है। औद्योगिक दृष्टि से तो बीसवीं शताब्दी में रूस सहित यूरोप की सब जातियों में जर्मनी का प्रथम स्थान हो गया था। वही सबसे अधिक लोहा बनाता था और उसका रसायनिक उद्योग तो संसार में सबसे बढ़ा-चढ़ा था। शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से जर्मनों ने बड़ी प्रगति की थी। इस कारण वहाँ प्रतिदिन नये-नये वैज्ञानिक यन्त्रों का भी आविष्कार हो रहा था। भौगोलिक दृष्टि से भी जर्मनी की स्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण है। वह यूरोप के मध्य में स्थित है। इस कारण उसके लिए यह सम्भव है कि इच्छानुकूल पूर्व या पश्चिम के देशों पर आक्रमण कर सके तथा उन्हें परस्पर सहायता करने से रोक सके। सामरिक दृष्टि भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक शताब्दियों तक जर्मनी के लोग पूर्वी यूरोप की जातियों से संघर्ष करते रहे। एक दृष्टि से वे यूरोपीय सभ्यता के दिक्पाल थे। वहाँ के वासियों में अत्यन्त प्राचीन सैनिक गुण एवं युद्ध

परम्पराएँ बनी हुई हैं। अतः इन सब बातों के कारण जर्मन जाति का यूरोप में प्रधान राजनैतिक स्थान होना चाहिए।

किन्तु दुर्भाग्यवश जर्मन जाति सोलहवीं शताब्दी में अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बट गयी थी। इस कारण वह उसके पश्चात् यूरोप की अन्य जातियों की अपेक्षा अपना उचित राजनैतिक स्थान कई शताब्दियों तक न पा सकी। कई बार वह अन्य यूरोपीय जातियों द्वारा पददलित हुई पर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जर्मन जाति के पर्याप्त बड़े भाग को बिस्मार्क ने अपनी चातुरी से पुनः एक साम्राज्य में बाँध दिया। ऐसा होने के पश्चात् यह बात स्वाभाविक ही थी कि जर्मन जाति इस बात का प्रयास करे कि यूरोप की राजनीति में उसका वही स्थान हो जो नियति ने उसके लिए रख दिया है। मैं कह चुका हूँ कि आर्थिक और जनसंख्या की दृष्टि से वह रूस को छोड़कर यूरोप की अन्य सब जातियों में सर्वप्रथम स्थान रखती है। अतः जर्मनी ने यह प्रयास किया कि राजनैतिक क्षेत्र में भी उसका स्थान सर्वप्रथम हो और यूरोप की अन्य जातियाँ उसके असर में रहें। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी तक यूरोप में अंग्रेज, फ्रांसीसी और रूसी ये तीन जातियाँ यूरोप ही नहीं पृथ्वी भर में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजनैतिक स्थान प्राप्त कर चुकी थीं। इन तीन जातियों में से एक भी इस बात के लिए तैयार न थी कि उनके मुकाबले में जर्मनी का राजनैतिक महत्त्व बढ़े। अतः जर्मनी की यह महत्त्वाकांक्षा कि अपनी आर्थिक तथा जनसंख्या की शक्ति के अनुरूप ही राजनैतिक महत्त्व पा ले, इन तीन जातियों के अपने हितों को यथावत बनाये रखने के प्रयास से टकराने लगी। यह अनिवार्य-सा हो गया कि जब तक जर्मनों को अपना उचित राजनैतिक स्थान प्राप्त न हो जाय तब तक उनका इन तीन जातियों से निरन्तर प्रकट या प्रच्छन्न संघर्ष होता रहे। यूरोप का प्रथम महायुद्ध इसी आन्तरिक संघर्ष के कारण हुआ था और यूरोप का यह दूसरा महायुद्ध भी इसी कारण से आरम्भ हुआ। जर्मनी में हिटलर का इतना आदरपूर्ण स्थान इसी कारण हो गया था कि वह इसी ऐतिहासिक राष्ट्रीय प्रेरणा का जीवित प्रतीक था।

जर्मनी की इस ऐतिहासिक प्रेरणा ने इस युद्ध में जो उग्र रूप धारण

किया उसका कारण यह न था कि अन्य जातियों की अपेक्षा जर्मन लोग अधिक बर्बर, क्रूर या हृदयहीन हैं। जो लोग जर्मन लोगों पर ये दोष मढ़ते हैं वे संगीत में जर्मनों ने जो प्रगति की है उसे भूल जाते हैं। वही जाति संगीत में अधिक प्रगति करती है जो अत्यन्त भावुक तथा सहृदय होती है। इसके अतिरिक्त जर्मनों ने किसी अन्य यूरोपीय जाति से सभ्यता में कम प्रगति नहीं की है। अतः पिछले युद्ध में एवं उससे पूर्व जर्मन लोग जिस नृशंसता के अपराधी बने वह उनके प्राकृतिक स्वभाव के कारण नहीं था। उसका कारण अधिकतर यही था कि यूरोप में ऐसी दो प्रवृत्तियाँ फैल रही थीं जो जर्मनी की इस ऐतिहासिक प्रेरणा के लिए अत्यन्त हानिकर थीं। एक प्रेरणा वह थी जिसके यहूदी लोग ऐतिहासिक प्रतीक हैं, दूसरी वह है जिसके साम्यवादी लोग प्रतीक हैं।

मानव इतिहास में यहूदी ही ऐसी जाति दिखायी पड़ती है जिसने अन्य बातों की अपेक्षा व्यापार का ही सहारा लिया है। इस कथन से मेरा यह आशय नहीं है कि यहूदी लोग केवल धन के ही उपासक एवं पुजारी हैं और उन्हें किसी अन्य बात की ममता नहीं है, किन्तु दुर्भाग्यवश अत्यन्त सुदूर अतीतकाल में यहूदी अपनी जन्मभूमि से निकाल बाहर किये गये थे और तब से वे पृथ्वी के देश-विदेश में जीवन-यापन का प्रयास करते रहे हैं। बंजारों के ही समान वे भी प्रव्रजनशील हो गये। उन्होंने अपने जीवन-यापन का साधन व्यापार या साहूकारी बनाया। इस प्रकार वे लोग व्यापारिक साहूकारे और औद्योगिक क्षेत्र में सर्वप्रमुख बन गये। उन्हीं के हाथ में इनके सूत्र आ गये और उन्हीं के इशारों पर इस क्षेत्र में पृथ्वी भर के ये काम चलने लगे। अतः यह स्वाभाविक ही है कि यहूदियों के बारे में लोगों के मन में यह विश्वास घर कर जाय कि वे व्यापार के पुजारी हैं और किसी अन्य बात को कोई महत्त्व प्रदान नहीं करते। अनेक यहूदियों के कार्यकलाप से यह विचार पुष्ट भी होता है। अनेक यहूदी उद्योगपति अपने आर्थिक लाभ की अपेक्षा देश-प्रेम, धर्म-प्रवृत्ति इत्यादि किसी बात को कोई महत्त्व नहीं देते। अतः यह बात आश्चर्यजनक नहीं कि यूरोप भर में यह विचार फैला हुआ था कि यहूदी लोगों का कोई देश नहीं और यहूदी लोगों को किसी देश के प्रति ममत्व नहीं है।

जर्मनी में यहूदी लोगों का उद्योग और व्यापार में महत्त्वपूर्ण प्रभुत्व था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि यहूदी लोगों का शुद्ध व्यापार प्रेम और तज्जन्य अन्तर्राष्ट्रीयता जर्मनी की इस राष्ट्रीयता से टकरा जाय। जब तक जर्मन राष्ट्रीयता के समान ही प्रबल अन्य शक्ति यूरोप में उत्पन्न न हुई थी तब तक इस टक्कर का रूप महाभयंकर न हुआ था, किन्तु बीसवीं शताब्दी में ऐसी शक्ति यूरोप में पैदा हो गयी थी और इस कारण इस टक्कर का रूप भी उग्र हो गया।

वह दूसरी शक्ति थी साम्यवादी रूस की शक्ति। वैसे भी जर्मनों और रूसियों का शताब्दियों से प्रतिद्वन्द्व चलता रहा था, किन्तु जब रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई उसके पश्चात् यह अनिवार्य-सा हो गया कि यह संघर्ष अत्यन्त उग्र हो जाय। साम्यवादी क्रान्ति से पूर्व रूस कृषि-प्रधान देश था। वहाँ औद्योगिक क्रान्ति कुछ नगरों तक ही सीमित रह गयी थी। रूस का बड़ा भारी भाग उस क्रान्ति से सर्वथा अछूता रह गया था। अतः उसके जीवन-यापन के साधन अत्यन्त धीमी गति से चलने वाले थे, वहाँ की जनता छोटे-छोटे ग्रामों में बिखरी हुई थी, उसकी उत्पादकता की गति बहुत कम थी, वहाँ के लोग आधुनिक यन्त्रों से बहुत कम परिचित थे और इस कारण वहाँ के जनसाधारण आधुनिक प्रकार की सेना के लिए योग्य न थे। औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़े रहने के कारण रूस की सामरिक शक्ति अधिक न थी। इस कारण उसे जापान जैसे छोटे देश ने भी सहज में ही हरा लिया था। अतः वह जर्मनी की एक ऐतिहासिक प्रेरणा का प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी प्रभावी प्रतिद्वन्द्वी न था। किन्तु साम्यवादी क्रान्ति ने रूस में प्रबल वेग से औद्योगिक क्रान्ति करनी आरम्भ कर दी और इस प्रकार रूस की सामरिक शक्ति भी बढ़ानी आरम्भ कर दी। साथ ही साम्यवादी विचारधारा का देश विशेष से सम्बन्ध नहीं है। साम्यवादियों की तो अपनी कोई जन्मभूमि होती ही नहीं। जर्मनी में भी अनेक लोग साम्यवादी बन गये थे। किन्तु यह स्वाभाविक था कि जर्मनों को ये साम्यवादी देशद्रोही तक रूसी भक्त लगें और इस कारण अत्यन्त खतरनाक प्रतीत हों।

जैसे-जैसे साम्यवादी रूस की शक्ति बढ़ने लगी वैसे-वैसे ही यह बात

कठिन एवं असाध्य-सी प्रतीत होने लगी कि जर्मनी की वह ऐतिहासिक प्रेरणा अपना उद्देश्य प्राप्त करने में सफल हो सके। अतः स्वभावतः धीरे-धीरे इसका रूप उग्रतर होता गया।

इन दो अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से टकराने तथा उनको मिटा देने के उतावलेपन के कारण जर्मनी की राजनीति ने वह उग्र रूप धारण किया जिसकी वजह से हिटलर, उसका नाजीवाद क्रूरता तथा नृशंसता का ही दूसरा नाम समझा जाने लगा है।

यदि उस समय केवल जर्मनी की ही समस्या मानवों के समक्ष होती तो सम्भवतः इस महायुद्ध का क्षेत्र उतना व्यापक न हो जाता जितना कि वह हो गया, किन्तु इन्हीं दिनों जापान की समस्या भी उग्र हो उठी थी। पूर्वी देशों में जापान में ही सर्वप्रथम औद्योगिक क्रांति आरम्भ हुई। वहाँ की जनसंख्या भी ८ करोड़ के लगभग है और जापान द्वीप में इतनी उपज नहीं होती कि उससे सब जापानियों का पेट भर जाय अतः जापानियों के लिए यह अनिवार्य है कि अपना बना माल बेचकर वे अपने लिए अन्न खरीदें। ये व्यापार वे सर्वाधिक लाभ से तब कर सकते हैं जब वे उन लोगों के शासक भी हो जायें जिनसे उन्हें कच्चा माल तथा अन्न खरीदना पड़ता है। अतएव अपना अस्तित्व बनाये रखने के हेतु जापान के लिए यह आवश्यक है कि वह दूसरे देशों पर अपना राज्य फैलाने का प्रयास करे। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप जापान ने अपना राज्य कोरिया तथा चीन पर फैलाना शुरू किया था। उन दिनों चीन इतना बटा हुआ था एवं औद्योगिक दृष्टि से इतना पिछड़ा हुआ था कि राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से वह लगभग नगण्य हो चुका था, किन्तु उसकी प्राकृतिक सम्पत्ति महान् थी और उसकी विशाल जनसंख्या की आवश्यकताएँ भी इतनी थीं कि प्रत्येक औद्योगिक देश को यह दिखायी पड़ता था कि चीन से खुला व्यापार करने से काफी लाभ हो सकता है। अतः प्रत्येक औद्योगिक देश यह चाहता था कि चीन से व्यापार करने में उसे रुकावट न हो। इन मुख्य देशों में अमरीका, इंग्लैंड और फ्रांस थे। ये देश न चाहते थे कि चीन पर किसी देश विशेष का राजनैतिक प्रभुत्व हो। इसके विपरीत जापान को यह लगता था कि जब तक उसका चीन के व्यापार पर एकाधिपत्य न होगा,

जर्मनी में यहूदी लोगों का उद्योग और व्यापार में महत्त्वपूर्ण प्रभुत्व था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि यहूदी लोगों का शुद्ध व्यापार प्रेम और तज्जन्य अन्तर्राष्ट्रीयता जर्मनी की इस राष्ट्रीयता से टकरा जाय। जब तक जर्मन राष्ट्रीयता के समान ही प्रबल अन्य शक्ति यूरोप में उत्पन्न न हुई थी तब तक इस टक्कर का रूप महाभयंकर न हुआ था, किन्तु बीसवीं शताब्दी में ऐसी शक्ति यूरोप में पैदा हो गयी थी और इस कारण इस टक्कर का रूप भी उग्र हो गया।

वह दूसरी शक्ति थी साम्यवादी रूस की शक्ति। वैसे भी जर्मनों और रूसियों का शताब्दियों से प्रतिद्वन्द्व चलता रहा था, किन्तु जब रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई उसके पश्चात् यह अनिवार्य-सा हो गया कि यह संघर्ष अत्यन्त उग्र हो जाय। साम्यवादी क्रान्ति से पूर्व रूस कृषि-प्रधान देश था। वहाँ औद्योगिक क्रान्ति कुछ नगरों तक ही सीमित रह गयी थी। रूस का बड़ा भारी भाग उस क्रान्ति से सर्वथा अछूता रह गया था। अतः उसके जीवन-यापन के साधन अत्यन्त धीमी गति से चलने वाले थे, वहाँ की जनता छोटे-छोटे ग्रामों में बिखरी हुई थी, उसकी उत्पादकता की गति बहुत कम थी, वहाँ के लोग आधुनिक यन्त्रों से बहुत कम परिचित थे और इस कारण वहाँ के जनसाधारण आधुनिक प्रकार की सेना के लिए योग्य न थे। औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़े रहने के कारण रूस की सामरिक शक्ति अधिक न थी। इस कारण उसे जापान जैसे छोटे देश ने भी सहज में ही हरा लिया था। अतः वह जर्मनी की एक ऐतिहासिक प्रेरणा का प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी प्रभावी प्रतिद्वन्द्वी न था। किन्तु साम्यवादी क्रान्ति ने रूस में प्रबल वेग से औद्योगिक क्रान्ति करनी आरम्भ कर दी और इस प्रकार रूस की सामरिक शक्ति भी बढ़ानी आरम्भ कर दी। साथ ही साम्यवादी विचारधारा का देश विशेष से सम्बन्ध नहीं है। साम्यवादियों की तो अपनी कोई जन्मभूमि होती ही नहीं। जर्मनी में भी अनेक लोग साम्यवादी बन गये थे। किन्तु यह स्वाभाविक था कि जर्मनों को ये साम्यवादी देशद्रोही तक रूसी भक्त लगें और इस कारण अत्यन्त खतरनाक प्रतीत हों।

जैसे-जैसे साम्यवादी रूस की शक्ति बढ़ने लगी वैसे-वैसे ही यह बात

कठिन एवं असाध्य-सी प्रतीत होने लगी कि जर्मनी की वह ऐतिहासिक प्रेरणा अपना उद्देश्य प्राप्त करने में सफल हो सके। अतः स्वभावतः धीरे-धीरे इसका रूप उग्रतर होता गया।

इन दो अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से टकराने तथा उनको मिटा देने के उतावलेपन के कारण जर्मनी की राजनीति ने वह उग्र रूप धारण किया जिसकी वजह से हिटलर, उसका नाजीवाद क्रूरता तथा नृशंसता का ही दूसरा नाम समझा जाने लगा है।

यदि उस समय केवल जर्मनी की ही समस्या मानवों के समक्ष होती तो सम्भवतः इस महायुद्ध का क्षेत्र उतना व्यापक न हो जाता जितना कि वह हो गया, किन्तु इन्हीं दिनों जापान की समस्या भी उग्र हो उठी थी। पूर्वी देशों में जापान में ही सर्वप्रथम औद्योगिक क्रांति आरम्भ हुई। वहाँ की जनसंख्या भी ८ करोड़ के लगभग है और जापान द्वीप में इतनी उपज नहीं होती कि उससे सब जापानियों का पेट भर जाय अतः जापानियों के लिए यह अनिवार्य है कि अपना बना माल बेचकर वे अपने लिए अन्न खरीदें। ये व्यापार वे सर्वाधिक लाभ से तब कर सकते हैं जब वे उन लोगों के शासक भी हो जायें जिनसे उन्हें कच्चा माल तथा अन्न खरीदना पड़ता है। अतएव अपना अस्तित्व बनाये रखने के हेतु जापान के लिए यह आवश्यक है कि वह दूसरे देशों पर अपना राज्य फैलाने का प्रयास करे। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप जापान ने अपना राज्य कोरिया तथा चीन पर फैलाना शुरू किया था। उन दिनों चीन इतना बटा हुआ था एवं औद्योगिक दृष्टि से इतना पिछड़ा हुआ था कि राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से वह लगभग नगण्य हो चुका था, किन्तु उसकी प्राकृतिक सम्पत्ति महान् थी और उसकी विशाल जनसंख्या की आवश्यकताएँ भी इतनी थीं कि प्रत्येक औद्योगिक देश को यह दिखायी पड़ता था कि चीन से खुला व्यापार करने से काफी लाभ हो सकता है। अतः प्रत्येक औद्योगिक देश यह चाहता था कि चीन से व्यापार करने में उसे रुकावट न हो। इन मुख्य देशों में अमरीका, इंग्लैंड और फ्रांस थे। ये देश न चाहते थे कि चीन पर किसी देश विशेष का राजनैतिक प्रभुत्व हो। इसके विपरीत जापान को यह लगता था कि जब तक उसका चीन के व्यापार पर एकाधिपत्य न होगा,

उसकी औद्योगिक समस्या हल न होगी अतः एक ओर जापान तथा दूसरी ओर इंग्लैंड, फ्रांस और अमरीका के बीच यह आर्थिक एवं तज्जन्य राजनैतिक संघर्ष घोरतर होता जा रहा था। सन् १९३० में जापान ने चीन के मंचूरिया प्रान्त पर कब्जा करना आरम्भ किया। इस प्रकार चीन-जापान युद्ध आरम्भ हो गया। यद्यपि इंग्लैंड, फ्रांस और अमरीका यह न चाहते थे कि जापान इस प्रकार चीन के प्रान्त एक-एक करके निगलता जाय किन्तु यूरोप की बिगड़ती स्थिति को देखकर कुछ अधिक न कर पाते थे। हाँ, उन्होंने जापान को सामरिक माल देना बन्द अवश्य कर दिया था, पर इससे जापान को विशेष असुविधा न हो रही थी, क्योंकि उसे जिस माल की आवश्यकता पड़ती थी, जर्मनी से मिल जाता था। किन्तु यूरोप में युद्ध आरम्भ होने के पश्चात् उसे इस दिशा में कठिनाई होने लगी। उसके सामने यह समस्या पैदा हो गयी कि या तो अमरीका के दबाव से वह चीन पर अपने प्रभुत्व को छोड़कर आर्थिक आत्मघात करे या फिर अमरीका से लड़े और वे सब रास्ते खोल ले जिनसे उसे आवश्यक कच्चा या बना-बनाया माल मिल सकता था। अतएव जापान अमरीका के इस आन्तरिक संघर्ष के कारण यह युद्ध विश्वव्यापी हो गया और इसकी लपेट में संसार का लगभग हर देश आ गया।

यद्यपि जर्मनी तथा जापान की शक्ति अंग्रेजों एवं अमरीकनों के लिए इतनी भयावह थी तथापि इनकी शक्ति को बढ़ाने एवं प्रबल करने में अंग्रेजों तथा अमरीकनों का ही प्रमुख हाथ था। यह ऐतिहासिक विडम्बना क्योंकर घटित हुई ? बात यह थी कि रूसी साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात् इंग्लैंड और अमरीका दोनों का ही यह सतत प्रयास रहता था कि इस साम्यवादी अग्नि को रूस तक ही सीमित रखा जाय और यदि सम्भव हो तो उसको वहाँ भी बुझा दिया जाय। इंग्लैंड तथा अमरीका ही उन दिनों प्रमुख पूँजीवादी देश थे। इस कारण वे यह आवश्यक समझते थे कि पृथ्वी से साम्यवाद का नाम-निशान मिट जाय। परन्तु वे स्वयं इस संघर्ष की आग में न कूदना चाहते थे। उनकी यह योजना थी कि जर्मनी एवं जापान इस संघर्ष में जुट जायें और रूस को खत्म कर दें। अतः साम्यवाद के प्रति अपनी घृणा से लगभग विमुख होकर अमरीका तथा इंग्लैंड ने जर्मनी को शस्त्र सज्जित किया, वे सुविधायें

प्रदान कीं जिनके द्वारा जर्मनी के लिए यह सम्भव हो गया कि वह अपने उद्योगों को बढ़ाये, अपनी सामरिक शक्ति को बढ़ाये और यूरोप के अन्य छोटे-छोटे राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्व जमा ले। इसी प्रकार इंग्लैंड और अमरीका ने जापान को भी सहायता पहुँचायी थी। अब यह सब सहायता इंग्लैंड और अमरीका को बड़ी मँहगी सिद्ध हुई।

जैसा मैंने ऊपर बताया है इस महायुद्ध का उद्देश्य यह समस्या हल करना था कि एक ओर जर्मनी और जापान जैसे साम्राज्यविहीन देश और दूसरी ओर इंग्लैंड, फ्रांस, रूस और अमरीका जैसे साम्राज्य तथा समृद्धिवान देशों में से कौनसा पृथ्वी भर के आर्थिक साधनों एवं पृथ्वी की पिछड़ी जातियों के जन-बल का लाभ उठाने का एकाधिपत्य प्राप्त कर सकता है। एक ओर तो पेट खाली देश थे और दूसरी ओर पेट भरे देश थे। उन दोनों के बीच संघर्ष था। यह संघर्ष था पिछड़ी जातियों के जन-बल तथा अर्थ-बल पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए। स्वभावतः पृथ्वीमण्डल का ऐसा कोई स्थान न था जहाँ या तो यह युद्ध न हो रहा हो या इसकी लपटें न पहुँच रही हों।

युद्ध छिड़ने के पश्चात् प्रश्न यह हुआ कि भारतीय युद्ध में किसी की सहायता करें या न करें और इस युद्ध के प्रति क्या नीति अपनायें। जब मैं भारतीयों की बात कहता हूँ तो मेरा तात्पर्य उन लोगों से है जो भारतीय जनसाधारण को हित में रखकर भारत की ओर से बोलने का अधिकार रखते थे। साधारणतः किसी देश की जनता की ओर से ऐसे मामलों में वहाँ की सरकार ही बोलती है। किन्तु उस समय भारत में जो परिस्थिति थी उसको ध्यान में रखकर यह स्पष्ट था कि विधिगत दृष्टिकोण से भले ही यहाँ की सरकार को भारतीयों की ओर से बोलने का अधिकार क्यों न हो, वास्तविक तथा नैतिक दृष्टि से उसे वह अधिकार प्राप्त नहीं था। वह सरकार भारत में अंग्रेजों ने साम, दाम, दंड, भेद की नीति से स्थापित की थी। उसकी स्थापना एवं उसके चलाने में भारतीयों का कोई प्रभावशाली हाथ न था। यह ठीक है कि उन दिनों प्रान्तों में भारतीय प्रतिनिधि मन्त्रिमण्डल को चला रहे थे, किन्तु इन प्रान्तीय शासनों को इस बारे में कुछ कहने का विधिगत अधिकार था ही नहीं। जो कुछ बात तय की जानी थी या अमल में लायी जानी थी वह तो

केन्द्रीय सरकार द्वारा ही की जानी थी और उस केन्द्रीय शासन में सच्चे भारतीय प्रतिनिधियों का कोई स्थान न था। अतः यहाँ की सरकार इस बारे में जनता की प्रतिनिधि नहीं कही जा सकती थी। यदि वह किसी की प्रतिनिधि थी तो वह केवल इंग्लैंड की सरकार तथा इंग्लैंड निवासियों की ही। उसने भारत की ओर से जर्मनी के विरुद्ध जो युद्ध घोषणा की वह भी इंग्लैंड की सरकार के इशारे और इच्छा पर ही। किन्तु इस घोषणा का विधिगत अर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम हो ही न सकता था। यदि भारत की जनता का इस बारे में कोई प्रभावशाली प्रतिनिधित्व कर सकता था या उसकी ओर से बोल सकता था अथवा कार्रवाई कर सकता तो केवल इस देश का राजनैतिक क्रान्तिकारी वर्ग अर्थात् कांग्रेस। किन्तु कांग्रेस का इस सम्बन्ध में क्या उत्तर हो सकता था यह इस बात पर निर्भर करता था कि इंग्लैंड वालों का इस युद्ध में सम्मिलित होने का क्या उद्देश्य था। इस उद्देश्य के बारे में मैं पहले ही बता चुका हूँ। यह बात नहीं कि कांग्रेस के लोग इस उद्देश्य से अपरिचित हों। वे यह जानते थे कि भारत में अंग्रेजों का साम्राज्य ही इस बात का पर्याप्त सबूत है कि अंग्रेज अनेक शताब्दियों से पिछड़ी जातियों का दोहन तथा शोषण करते रहे हैं एवं करते रहना चाहते हैं। वे यह भी समझते थे कि जर्मनों से वे इसी लिए लड़ने को आमादा हुए हैं कि वे पिछड़ी जातियों पर अपना राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व बनाये रखें, किन्तु इस बात को जानते हुए भी उन्होंने इंग्लैंड वालों से यह स्पष्ट कराना चाहा कि वे बतायें कि उनका इस युद्ध में सम्मिलित होने का क्या उद्देश्य है तथा कहाँ तक वे इस बात के लिए तैयार हैं कि भारत को वह स्वतन्त्रता प्रदान करें, जिसे पाने पर ही यहाँ की जनता के हृदय में किसी अन्य समस्या के सुलझाने के लिए उत्साह पैदा हो सकता है। इस प्रश्न के पूछने के लिए कांग्रेस वाले दो बातों से विशेषकर प्रभावित हुए थे। एक बात तो यह थी कि कांग्रेस के अनेक नेता इंग्लैंड के जिस सांस्कृतिक दूध पर पले थे इस कारण उन्हें उन आदर्शों तथा मूल्यों का पर्याप्त मोह था जिन्हें इंग्लैंड ने सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किसी सीमा तक प्रसारित किया है। उदाहरणार्थ इंग्लैंड की संस्कृति की एक मान्यता यह रही है कि जब तक किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई अपराध न्याय-प्रणाली

की सम्यक् प्रक्रिया से पूर्णतः सिद्ध नहीं कर दिया जाता तब तक उसे निरपराधी मानना चाहिए और किसी प्रकार का दण्ड न देना चाहिए, भले ही उस व्यक्ति ने दस आदमियों के देखते-देखते या जानकारी में हत्या ही क्यों न की हो। किन्तु इंग्लैंड की इन सामाजिक मान्यताओं को यूरोप तथा एशिया के अनेक देश नहीं मानते। नाजीवाद भी इन मान्यताओं को न मानता था। परिणामस्वरूप उसकी कार्य रीति अनेक भारतीयों को बहुत बुरी पाशविक लगती थी। अतः उनका यह विचार था कि सभ्यता की इन मूलभूत मान्यताओं वाला देश उस देश से कहीं अच्छा है जो इन मान्यताओं में कोई श्रद्धा या आस्था नहीं रखता और यदि इन दो प्रकार के देशों के पारस्परिक युद्ध में एक की रक्षा के लिए सहायता करने का प्रश्न भारतीयों के सामने पैदा होता है तो उन्हें निःसंकोच पूर्वकथित देश की सहायता करनी चाहिए, क्योंकि मानवी सभ्यता की दृष्टि से वह पश्चात्कथित देश की अपेक्षा अच्छा है और उसके ही बचने से मानव-सभ्यता को धक्का न लगेगा। अतः इन लोगों के मन में इस बात के बावजूद कि इंग्लैंड भारत का हर प्रकार से शोषण कर रहा था इंग्लैंड के प्रति मोह एवं ममत्व था। स्वभावतः ये नेता इस युद्ध में इंग्लैंड की ओर थे और उसकी सहायता करने के पक्ष में थे, किन्तु साथ ही वे यह भी महसूस करते थे कि वे यह सहायता तब तक न कर पायेंगे जब तक कि अपने देश में ही उनके हाथ-पाँव राजनैतिक दासता की हथकड़ी-बेड़ियों से बँधे रहेंगे। अतः वे यह चाहते थे कि इंग्लैंड यह बात मान ले कि वह भारत को तत्काल इतनी राजनैतिक स्वतन्त्रता दे दे कि वह इस युद्ध में इंग्लैंड की सहायता करने के योग्य हो जाय।

दूसरी बात जिससे कांग्रेस इस समय प्रभावित हुई वह यह थी कि इंग्लैंड वाले इस समय बड़े जोर से डंका पीट रहे थे कि वे इस युद्ध में मानवी मूल्यों, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, लोकतन्त्रात्मक राज्य-प्रणाली और मानवी समता के आदर्शों की रक्षा करने को सम्मिलित हुए हैं। प्रश्न यह था कि क्या इंग्लैंड की ये बातें केवल धोखा देने के लिए थीं या इंग्लैंड वास्तव में ही इस भयावह परिस्थिति में अपने साम्राज्यवादी दृष्टिकोण को छोड़ देने के लिए तैयार हो गया था। दूसरे शब्दों में प्रश्न यह था कि क्या इंग्लैंड वास्तव में साम्राज्य

रूपी पाप का मोचन कर रहा था या केवल इसका बहाना। मैं पहले बता चुका हूँ कि कांग्रेस ने महात्मा गान्धी के नेतृत्व में यह उसूल बना रखा था कि विपक्षी की किसी बात को बिना जाँचे ही मिथ्या न मान लेना चाहिए अतः कांग्रेस ने इंग्लैंड की इस घोषणा की सत्यता सिद्ध करने के लिए इंग्लैंड के समक्ष यह कसौटी रखी कि वह भारत को स्वतन्त्र कर दे। कांग्रेस का यह मत था कि यदि इंग्लैंड भारत को स्वतन्त्र कर देता है तो संसार को यह स्पष्टतः विदित हो जायगा कि इस युद्ध में इंग्लैंड इस हेतु सम्मिलित नहीं हुआ है कि वह पिछड़ी जातियों पर अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रख सके वरन् इसलिए सम्मिलित हुआ है कि नाजीवाद के क्रूर साम्राज्यवादी सिद्धान्तों से सभ्य मानव की रक्षा की जाय। कांग्रेस में कुछ ऐसे लोग भी थे जो यह समझते और मानते थे कि यदि इंग्लैंड भारत को स्वतन्त्र कर देता है तो इस युद्ध के लिए जर्मनी के समक्ष भी कोई प्रयोजन न रह जायगा। जब कोई देश साम्राज्यवादी रहेगा ही नहीं तब जर्मनी के लोगों के मन में भी यह प्रेरणा न रहेगी कि वे भी और लोगों के समान ही अपना साम्राज्य स्थापित करें।

भारत के बड़े लाट लार्ड लिन्लिथगो ने भारत के कुछ प्रमुख राजनैतिक नेताओं से भेंट की और उनसे यह याचना की कि वे इस युद्ध में सरकार की सहायता करें; किन्तु वे यह आश्वासन देने के लिए तैयार न हुए कि युद्ध-काल में या युद्ध-काल के पश्चात् भी भारत को पूर्णतः स्वतन्त्र कर दिया जावेगा। उन्होंने केवल यही कहा कि भारत में इंग्लड का यह उद्देश्य है कि क्रमशः डोमीनियनों की जैसी राज्य-व्यवस्था कायम की जावे।

कांग्रेस कार्य समिति ने अपने प्रस्ताव में इस बात की माँग की थी कि इंग्लैंड युद्ध के अपने उद्देश्यों को स्पष्टतः घोषित करे, युद्ध-काल में भारत को इतनी स्वतन्त्रता दे कि वह उत्साहपूर्वक इस युद्ध में मित्रराष्ट्रों का साथ दे सके और युद्ध के पश्चात् भारत को पूर्णतः स्वतन्त्र करने का आश्वासन दे। इस सम्बन्ध में यह कह देना अनुचित न होगा कि कांग्रेस कार्य समिति के इस प्रस्ताव से महात्मा गान्धी सहमत न थे। वे यह जानते थे कि किसी अवस्था में भी भारत इस युद्ध में सैनिक और शस्त्र देकर सहायता नहीं कर सकता। उनका यह मत इस आधार पर था कि भारत ने सब समस्याओं के सुलझाने

को अहिंसात्मक मार्ग अपनाया है। अतः नैतिक दृष्टि से उसके लिए यह उचित नहीं कि वह अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लोभ में युद्ध में भाग लेने को तत्पर हो जाय और इस प्रकार अहिंसात्मक पथ को छोड़ दे। उनकी यह राय थी कि भारत अपनी नैतिक सहानुभूति द्वारा ही किसी पक्ष की सहायता कर सकता है। महात्माजी के इन विचारों से पंडित नेहरू तथा कुछ अन्य नेता सहमत न थे।

किन्तु ऐसे भी लोग थे जिनका यह विचार था कि इंग्लैंड के इस संकट के समय से लाभ उठाया जाय और इस अवसर पर उसे भारत से निकाल फेंका जाय। इन राजनीतिज्ञों में श्री सुभाषचन्द्र बोस प्रमुख थे। वे यह मानते थे कि इस युद्ध में कोई नैतिक प्रश्न निहित न था। यह तो दो स्वार्थ-परायण राष्ट्र समूहों का संघर्ष था। अतः इस समय यह सोचकर कि एक राष्ट्र समूह आक्रमणकारी है, उस राष्ट्र समूह की सहायता भारत को स्वतन्त्र करने के लिए न लेना भारी मूर्खता है। भारत के समक्ष तो सबसे बड़ी समस्या अंग्रेजों से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। वह स्वयं अभी इतना सबल नहीं हुआ है कि किसी सूरत में भी अंग्रेजों का मुकाबला कर सके। अतः उसे तो सर्वदा इस बात के हेतु तत्पर रहना चाहिए कि जब भी अंग्रेज किसी कारण दुर्बल हों उन पर आक्रमण करके भारत से उनके साम्राज्य का सर्वदा को अन्त कर दिया जावे। जो राष्ट्र अंग्रेजों के शत्रु हैं उनसे भी सहायता लेने में भारतीयों को आनाकानी नहीं करनी चाहिए। यह तो राजनीति का बड़ा प्राचीन सिद्धान्त है कि शत्रु का शत्रु अपना सहज मित्र होता है। अतः वे लोग इस बात के पक्षपाती थे कि इस अवसर पर भारतीयों को जर्मनी की सहायता से सशस्त्र विद्रोह करना चाहिए, अंग्रेजों को भारत से बाहर निकाल भगाना चाहिए। यह बात नहीं है कि इस मत में कोई सार नहीं है, या भारत के लोगों में इसके लिए श्रद्धा नहीं थी, किन्तु कांग्रेस के अधिकतर नेता इसको मानने के लिए तैयार न थे। वे समझते थे कि यदि कहीं जर्मनी की इस युद्ध में विजय हो गयी तो भारत ही क्या किसी पिछड़ी जाति की स्वतन्त्रता का प्रश्न ही न रहेगा, क्योंकि नाजी-वादी यह मानते थे कि काले रंग वाली जातियाँ तो दासता के लिए ही बनायी गयी हैं और उन पर श्वेतांगों को राज करना ही है। अतः जर्मनी की

सहायता से भारत को स्वतन्त्र करने का प्रयास अन्तोगत्वा भारत को और भी बड़ी दासता में डालने का ही प्रयास सिद्ध होगा। किन्तु इस बात से इनकार करना भी ठीक न होगा कि जहाँ तक भारत के जनसाधारण का प्रश्न था वे लोग तो अंग्रेजों की हार की ही कामना करते थे। वे सोचते थे कि बस अंग्रेजों की हार में ही उनकी और उनके देश की मुक्ति है।

बातचीत का यह क्रम दो वर्ष तक चलता रहा। यद्यपि इस बीच में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने विधान सभाओं में यह प्रस्ताव स्वीकृत कराने के पश्चात् कि सरकार युद्ध के उद्देश्यों को घोषित करे और भारत को युद्धकालीन स्वतन्त्रता देने के अतिरिक्त प्रतिज्ञा करे कि युद्ध के पश्चात् स्वतन्त्र कर दिया जावेगा, त्याग-पत्र दे दिया था तथापि कांग्रेस ने अंग्रेजों के सक्रिय विरोध के लिए वैयक्तिक सत्याग्रह के अतिरिक्त कोई कदम न उठाया था। किन्तु जब जापान भी युद्ध में कूद पड़ा और उसने अंग्रेजों को बार-बार हराकर बर्मा तक पर कब्जा कर लिया तब इस समस्या को शीघ्र हल करने की आवश्यकता पैदा हो गयी।

जापान के युद्ध में कूद पड़ने से भारत इस महायुद्ध का मध्यवर्त्ती प्रदेश हो गया था। इस कारण सामरिक दृष्टि से उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया था। सेनाओं तथा युद्ध-सामग्री को जुटाने के लिए भारत ही उपयुक्त क्षेत्र था। साथ ही सुदूर पूर्वी एवं निकटपूर्व के रण-क्षेत्रों में सेनाओं को रसद पहुँचाने के हेतु भी भारत ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रदेश था। इसके अतिरिक्त भारत की जनसंख्या मित्रराष्ट्रों को अपने विपक्षियों से अधिक जनशक्ति वाली बना सकती थी। किन्तु इस सबके लिए यह आवश्यक था कि भारत में शान्ति हो और भारत के लोग निजी इच्छा से मित्रराष्ट्रों की सहायता करें। अतः पहले से भी अधिक भारतीय जनता का सहयोग और सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता पैदा हो गयी। भारत के राजनीतिज्ञों को भी यह स्पष्ट दिखने लगा कि उन्हें भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या को तुरन्त हल कर लेना चाहिए। उनमें से कुछ का यह विचार था कि यदि भारत अंग्रेजों के चंगुल में फँसा रहा और यहाँ के लोगों ने अंग्रेजों के खिलाफ कुछ न किया तो स्वभावतः जापानी अंग्रेजों को हराने के लिए भारत पर आक्रमण कर भारत पर कब्जा करना

चाहेंगे। किन्तु यदि भारत पूर्णतः स्वतन्त्र हो गया तो जापानियों के लिए यह आवश्यक न रहेगा कि वे भारत पर भी आक्रमण करें। इसके अतिरिक्त जापानी ये समझ लेंगे कि स्वतन्त्र भारत ऐसे आक्रमण का डटकर मुकाबला करेगा। इस प्रकार उनके लिए यह सहायक होने के बदले उनका घोर शत्रु हो जायगा। जापानियों के सामने पहले ही अनेक कठिन समस्याएँ थीं। अतः वे इस नयी समस्या को व्यर्थ में मोल लेना नहीं चाहेंगे। कुछ अन्य नेता यह मानते थे कि अंग्रेजों के लिए यह सम्भव नहीं कि भारत को स्वतन्त्र किये बिना जापानियों से सुदूरपूर्व के रणक्षेत्रों में सफलता से लड़ सकें। अतः उनका अंग्रेजों से यह कथन था कि तुम अपने ही हितों की खातिर भारत को स्वतन्त्र कर दो, क्योंकि उसी अवस्था में भारतीय जी तोड़कर शत्रु का मुकाबला करेंगे। इन दोनों विचार के लोग इस बारे में सहमत थे कि ऐसा कार्यक्रम अपनाया जाय जिससे अंग्रेज सरकार मजबूर होकर इन बातों को मान ले। चूँकि अंग्रेज सरकार इस समय किसी प्रकार का जनसंघर्ष होने देना न चाहती थी इसलिए उसने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को कुछ प्रस्ताव लेकर भारत भेजकर यह प्रयास किया कि भारतीय राजनीतिज्ञों तथा दलों से समझौता हो जाय।

इस प्रस्ताव की पहली मुख्य बात यह थी कि अंग्रेज सरकार इस बात का आश्वासन देती है कि युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित किया जायगा, किन्तु इसकी स्थापना से पूर्व उन प्रदेशों में जनमत लिया जायगा जो कि भारत संघ से पृथक् होकर अपना राज्य बनाने की मांग कर रहे थे। भारतीय संघ को यह अधिकार होगा कि वह चाहे तो राष्ट्रमण्डल से पृथक् हो जाये। साथ ही इन अल्पसंख्यक जातियों वाले प्रदेशों को भी यह अधिकार होगा कि वे चाहें तो भारत संघ से पृथक् हो जावें। युद्ध-काल में भारत का गवर्नर-जनरल भारतीय दलों के प्रतिनिधियों से गठित परिषद् की सलाह से काम करेगा, किन्तु उसे यह अधिकार होगा कि वह इस परिषद् की सम्मति को ठुकरा भी दे। जहाँ तक सेना का प्रश्न था वह अंग्रेज सेनापति के ही अधीन रहेगी, किन्तु उसकी रसद वगैरह का यथोचित प्रबन्ध करने के लिए निर्वाचित मन्त्री होगा। अन्ततोगत्वा भारत के गवर्नर-जनरल को यह अधिकार होगा कि वह इन बातों में मंत्रिमण्डल के मत को न माने। कई दिन

तक वार्ता चली पर कोई सफलता न हुई। कारण स्पष्ट था। भारतीय राजनीतिज्ञ चाहते थे कि युद्ध-काल में ही भारत को इतनी शक्ति प्राप्त हो जाय कि वह उस शक्ति का अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सके और अंग्रेज सरकार यह भली भाँति जानती थी कि ऐसी शक्ति देने का परिणाम भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का लोप होना होगा। इंगलैंड के तत्कालीन प्रधान मन्त्री चर्चिल ने यह स्पष्ट भी कर दिया था कि वह इसलिए प्रधान-मन्त्री नहीं बना है कि सम्राट् के साम्राज्य को समाप्त कर दे। अतः अंग्रेज सरकार इस बात का आश्वासन देने के लिए तैयार नहीं थी कि गवर्नर-जनरल सब काम भारतीय सलाहकारों के परामर्श से ही करेगा। फलतः क्रिप्स से बातचीत टूट गयी।

यह बातचीत टूट जाने के पश्चात् यह प्रश्न पैदा हुआ कि आगे क्या नीति बरती जाय। यह स्पष्ट हो चुका था कि अंग्रेज भारत के साम्राज्यवादी दोहन से बाज आने वाले नहीं हैं। उधर यह भी स्पष्ट ही था कि यदि अंग्रेज भारत को अपनी रसद का स्रोत और सेना का अड्डा बनायेंगे तो चाहे फिर जापानी भारत पर आक्रमण करना चाहें या न चाहें उन्हें भारत पर आक्रमण करना ही पड़ेगा। उस अवस्था में भारत ही रणक्षेत्र बन जायगा और यहाँ की जनता को अनेक प्रकार की यातनाएँ तथा दुःख झेलने पड़ेंगे। अतः देशभक्तों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक बात हो गयी थी कि कोई न कोई सूरत निकाली जाय जिससे यह देश जापान के आक्रमण से भी बच जाय और अंग्रेज भी अपने साम्राज्यवादी प्रयोजनों के लिए भारत का दोहन न कर सकें।

इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति का सीधा तरीका यही था कि भारतीय इस बात का विचार किये बिना कि उस समय अंग्रेजों को दुर्बल बनाना उचित है या नहीं साम्राज्यवादिता के खिलाफ अपना संघर्ष आरम्भ कर दें। मैं पहले यह स्पष्ट कर चुका हूँ कि यह महायुद्ध वस्तुतः एक ओर साम्राज्ययुक्त तथा दूसरी ओर साम्राज्य-विहीन शक्तियों में इस कारण शुरू हुआ था कि एक शक्ति तो अपने साम्राज्य को बनाये रखना चाहती थी और दूसरी शक्ति उस साम्राज्य से भूमि छीनकर अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहती थी। अतः यह कहना अनुचित नहीं कि यह युद्ध दोनों ओर से कोरी साम्राज्यवादिता के

लिए था। अतः इस युद्ध में किसी ओर की सहायता करना या किसी से सहायता लेना साम्राज्यवादिता से ही सहायता लेने के समान था। भारत तो उन देशों में से था जो इस साम्राज्यवादिता का शिकार था। शताब्दियों से वह इस साम्राज्यवादिता के कारण हर प्रकार की हानि और कष्ट उठाता रहा था। अतः इस समय उसके लिए यही उचित था कि वह दोनों ओर की ही साम्राज्यवादिता के विरुद्ध अपना संघर्ष आरम्भ कर दे। हो सकता है कि यह कहा जाय कि यह बुद्धिमानी न थी कि एक साथ ही दोनों को अपना शत्रु बना लिया जाये; किन्तु यह तर्क भ्रममूलक है। ये दोनों साम्राज्यवादी राज्य भारत के शत्रु तो थे ही, वे सब पिछड़ी जातियों के भी शत्रु थे। दिखाने में वे भले ही उस क्षण भारत के मित्र बने रहते, किन्तु उनके हृदय में भारत के प्रति सद्भावना न होकर यही बात थी कि किसी न किसी हथकण्डे से भारत के जनबल, धनबल का पूरा-पूरा लाभ उठाया जावे। इंगलैंड और उसके साथी तो यह दावा करते ही थे कि वे भारत के हितैषी हैं, जर्मनी और जापान भी भारत के प्रति अपनी सद्भावना की इस समय दुहाई दे रहे थे। किन्तु न तो अंग्रेज और उनके साथी ही भारत के मित्र थे और न जर्मनी या जापान ही उसके मित्र हो सकते थे। जब वे भारत तथा अन्य पिछड़ी जातियों पर अपना साम्राज्य जमाने के लिए ही युद्ध में पड़ रहे थे तब यह हो ही कैसे सकता था कि वे दिल से भारत की स्वतन्त्रता के पक्षपाती हों। भारत ही क्यों, ये दोनों प्रकार के राज्य सब पिछड़ी जातियों के शत्रु थे। यद्यपि जापान ने यह दम भरा था कि वह एशियावासियों को यूरोपवालों के चंगुल से छुड़ाकर मुक्त करेगा, किन्तु जहाँ भी जापानी सेनायें गयीं वहीं उन्होंने उस भूमि के रहने वालों को भी अपने अधीन कर लिया और उन पर मनमाने ढंग से राज करने लगे। जापान की इसी नीति से स्पष्ट था कि वह एशियावासी जातियों की स्वतन्त्रता के हेतु संघर्ष न कर अपने साम्राज्य विस्तार के लिए ही युद्ध कर रहा है। यदि कहीं जापान भारत पर अपना कब्जा जमा पाता तो वह भारतीयों से भी वैसा ही व्यवहार करता जैसा उसने एशिया की अन्य पिछड़ी जातियों के साथ किया था। अतः जो लोग यह सोचते थे कि जापान की सहायता से वे अंग्रेजों को मार भगायेंगे तथा देश को मुक्त कर लेंगे वे यह बात

भूल जाते थे कि भेड़िये की सहायता से भले ही गाय तेंदुओं को मार डाले किन्तु वह अपनी रक्षा भेड़िये से नहीं कर पायेगी। भारत में जब तक इतनी आन्तरिक शक्ति ही न होती कि वह स्वयं अंग्रेजों को पछाड़ सके तब तक विदेशी सहायता से उसे लाभ तो क्या होना था, वह स्वयं इन विदेशी मित्रों के चंगुल में ही फँस जाता। अतः यह आवश्यक था कि भारत इस साम्राज्यवादी युद्ध का कुछ विचार न करे एवं साम्राज्यवादी शक्तियों को साम्राज्यवादिता का अपनी आन्तरिक शक्ति से ही डटकर मुकाबला करे।

इस नीति के अपनाने से यह लाभ था कि संसार की सब पिछड़ी जातियाँ साम्राज्यवादिता के खिलाफ संघर्ष में भारत का साथ देंगी। सच तो यह है कि ये पिछड़ी जातियाँ ही भारत से सच्ची मित्रता का नाता रखती थीं। अतः इन जातियों की सहानुभूति एवं किसी सीमा तक सहयोग पाने के लिए यह आवश्यक था कि इस साम्राज्यवादी संघर्ष का रूप परिवर्तन करके इसे पिछड़ी जातियों की स्वतन्त्रता के हेतु संघर्ष का रूप दे दिया जाय। साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस समय जीवन मृत्यु की लड़ाई में लगी हुई थीं अतः उनके लिए यह सम्भव न था कि पिछड़ी जातियों के स्वतन्त्रता-युद्ध को दबा सकें। यही ऐसा अवसर था जब इन दोनों के पारस्परिक युद्ध और हितों का ध्यान न करके पिछड़ी जातियाँ इन दोनों की ही साम्राज्यवादिता के विरुद्ध संघर्ष का डंका पीट दें। इस प्रकार इस साम्राज्यवादी युद्ध को पिछड़ी जातियों के स्वतन्त्रता युद्ध में परिणत कर दें। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि साम्राज्यवादी युद्ध को पिछड़ी जातियों के मुक्ति युद्ध में परिणत करने की नीति लगभग वैसी ही नीति थी जैसी कि सन् १९१४-१८ के साम्राज्यवादी महायुद्ध को श्रमिकों की मुक्ति के लिए गृह-युद्ध में परिणत करने की नीति लेनिन ने सुझायी थी। यह ठीक है कि इस नीति के सम्बन्ध में मोटी तौर पर विचार करने से ऐसा लगता है कि यह एक साथ ही अनेक मोर्चों पर अनेक शत्रुओं से मुकाबला करना अनिवार्य कर देती है, किन्तु यदि यह सत्य पहचान लिया जाता है कि अनेक मोर्चों पर एक साथ ही युद्ध तो अनिवार्य है ही तथा किसी नीति से वह स्थिति टाली नहीं जा सकती तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नीति पर चलने से संकट और विरोध तो उतना ही रहता है जितना अन्यथा

रहता, किन्तु कुछ सच्चे मित्रों की सहानुभूति, सहयोग, साथ ही किसी सीमा तक सहायता अवश्य मिल जाती है। अतः अन्त में यही नीति सुपरिणामकर सिद्ध होती है।

भारत ने इसी नीति के अनुसरण करने का निश्चय किया। पहले वैयक्तिक सत्याग्रह चला, पर जापान के युद्ध में आने के कारण वह बन्द कर दिया गया। किन्तु जब क्रिप्स असफल होकर वापस चले गये तब कांग्रेस ने यह सोचा कि अब समस्त देश में सामूहिक कार्रवाई ही करनी चाहिए। बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक हुई और महात्माजी ने उसमें अत्यन्त ओजपूर्ण शब्दों में देश का आह्वान किया कि वह स्वतन्त्रता की अन्तिम लड़ाई में अपनी आहुति डालने के लिए तत्पर हो जाये। महात्माजी के इस आह्वान पर देश की जनता ने जो बलिदान किया था वह इसी देश की नहीं संसार के इतिहास की अद्वितीय सामग्री है। हर प्रकार की साम्राज्य-वादिता के विरुद्ध गान्धीजी की युद्ध की घोषणा थी। अंग्रेजों ने और कुछ भारतीयों ने इसका यह अर्थ लगाया कि गान्धीजी ने ऐसे अवसर पर जब अंग्रेज भारी मुश्किल में पड़े हुए थे, तथा जब जापानी बराबर बढ़े आ रहे थे, अंग्रेजों की पीठ में छुरा भोंका और जापानियों के लिए भारत विजय करने में और भी सहूलियत पैदा कर दी, किन्तु यह विचार सर्वथा भ्रममूलक है; महात्माजी ने तो शुद्ध हृदय से उस साम्राज्यवादिता के खिलाफ यह संघर्ष आरम्भ किया था जिसके कारण ही पृथ्वी पर यह प्रलयंकारी युद्ध चल रहा था। अतः अपने इस आन्दोलन से उन्होंने वह जड़ ही काट देने का प्रयास आरम्भ किया था जिसके कारण ही यह महायुद्ध तथा इससे पहले के महायुद्ध हुए थे। इससे अंग्रेजी साम्राज्यवाद कमजोर होना ही था और ऐसा करने के उद्देश्य से ही यह आरम्भ किया गया था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि अंग्रेजों के विरोधी जापान को सशक्त कर दिया जाय। इसके विपरीत यह तो जापान को स्पष्ट चेतावनी थी कि यदि उसने भारत पर कब्जा जमाना चाहा तो उसे भारत में इस प्रबल साम्राज्यवाद के विरोधी आन्दोलन से टक्कर लेनी होगी। जब भारतीय अंग्रेजों के ही साम्राज्य को मिटा देना चाहते हैं तो वे जापानी साम्राज्य को कबूल करने ही क्यों लगे ? अतः यह

स्पष्ट है कि इस आन्दोलन का यह लेशमात्र प्रयोजन न था कि अंग्रेजों के शत्रु प्रबल हों या उन्हें समुचित आर्थिक सहायता तथा सुविधायें मिलती रहें। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि बर्मा, हिन्द-चीन, स्वर्णद्वीपमाला इत्यादि में भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष इन्हीं दिनों चला। अन्तर केवल इतना ही था कि इन प्रदेशों पर जापानियों का कब्जा हो गया था इसलिए साम्राज्यवाद के विरुद्ध का अर्थ वहाँ जापानियों के विरुद्ध संघर्ष ही रहा। किन्तु वहाँ भी जापानियों के विरुद्ध संघर्ष इसलिए नहीं किया गया कि वहाँ के लोग जापानियों से घृणा करते थे और अपने देश के पूर्वशासकों अर्थात् अंग्रेजों, फ्रांसीसियों या डच लोगों से प्रेम। इसके विपरीत वहाँ के निवासी भी अंग्रेजी, फ्रांसीसी और डच साम्राज्यवाद से उतने ही विरुद्ध थे जितने कि वे जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध थे। सच तो यह है कि भारत तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के सब देशों में साम्राज्यवाद के विरुद्ध वहाँ के निवासी अनेक शताब्दियों से संघर्ष कर रहे थे। इस युद्ध के अवसर पर उन्होंने पहले इस संघर्ष को यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध तीव्रतर कर दिया जिसके फल-स्वरूप जापानी इन प्रदेशों को यूरोप-निवासियों से छीनने में सहज ही में सफल हो गये, किन्तु जब जापानियों ने वहाँ अपना साम्राज्य जमाना चाहा तो वहाँ वाले जापानियों के खिलाफ भी उठ खड़े हुए जिसके फलस्वरूप अन्त में जापा-नियों की हार हुई। इस युद्ध के पश्चात् जब यूरोपवालों ने पुनः इन देशों में अपना साम्राज्यवाद जमाना चाहा तो इन प्रदेश वालों ने उनके विरुद्ध और कठोर संघर्ष किया जो किन्हीं-किन्हीं प्रदेशों में बहुत दिनों तक जारी रहा और कहीं-कहीं तो अभी तक जारी है, जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। अतः स्पष्ट है कि सन् १९४२ में क्या भारत और क्या दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों के समक्ष यह प्रश्न था कि क्या वे इस साम्राज्यवादी युद्ध में किसी एक पक्ष का पूरा साथ दें, इस प्रकार अपने प्रदेशों में साम्राज्यवाद की जड़ों को दुर्बल न होने दें या वे दोनों पक्षों के हिताहित की ओर लेशमात्र ध्यान न देकर अपनी पूरी शक्ति साम्राज्यवाद के विरुद्ध लगा दें। यह आश्चर्य की बात नहीं कि भारत ने और उसी प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने इस संघर्ष को तीव्रतर रखने का ही निश्चय किया।

किन्तु भारत ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध इस संघर्ष को शुद्ध नैतिक स्तर पर रखने का निश्चय किया था। महात्माजी ने सन् १९१९ से जो जन-क्रान्ति आरम्भ की थी वह शुद्ध नैतिकता के आधार पर ही ठहरी हुई थी और उसका प्रधान अस्त्र मानवता थी। इसी कारण भारत तथा समस्त संसार में उसका इतना बल बढ़ा था। वे एक क्षण को भी इस बात के लिए तैयार न थे कि भारत की जन-क्रान्ति इस अस्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी अस्त्र को सँभाले। अत: इस अवसर पर भी उन्होंने समस्त देश से इसी अस्त्र को अपनाने की प्रार्थना की थी। यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष में इस बात का कोई लिहाज न रखा था कि वे किससे सहायता लें और किससे न लें। वे तो यही बात चाहते थे कि किसी न किसी प्रकार उनके देश से साम्राज्यवाद का बीज नाश हो जाय। इस हेतु उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ जापानी अस्त्रों का और जापानियों के खिलाफ अंग्रेजी अस्त्रों का खुलकर प्रयोग किया। मेरा क्षणभर के लिए भी यह आशय नहीं है कि ऐसा करके उन्होंने कोई अनैतिक या बुरी बात की थी। उन्होंने तो वही नीति अपनायी जो अब तक मानव इतिहास में सब राजनीतिज्ञ अपनाते रहे हैं, किन्तु भारत ने न तो जापानी अस्त्रों की ही सहायता ली और न अंग्रेजी अस्त्रों की ही। उसने तो कोरी मानवता का ही सहारा लिया।

किन्तु अंग्रेज तो अपने साम्राज्य की रक्षा के हेतु इतने चिन्ताकुल थे कि वे क्षणभर के लिए भी किसी विरोध को सहन न कर सकते थे। अत: जब महात्माजी ने स्वातन्त्र्य युद्ध के लिए देश का आह्वान किया तब उन्होंने तुरन्त ही उन्हें और कांग्रेस के अन्य सब नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। सरकार ने पहले ही यह योजना बना रखी थी कि नगर-नगर और तहसील-तहसील में सब कांग्रेस नायक गिरफ्तार कर लिये जायँ जिससे कि कोई आन्दोलन आरम्भ ही न हो सके। किन्तु जैसा मैं पहले कह चुका हूँ जब जनता के हृदय में ही क्रान्ति की अग्नि जलती होती है तो उसे कोई रोक नहीं सकता। यही बात इस सम्बन्ध में भी हुई। नेता तो गिरफ्तार कर लिये गये थे पर जनता थी। जनता में अनेक जननायक पल-मात्र में निकल पड़े तथा भारतीय स्वातन्त्र्य-युद्ध

आरम्भ हो गया।

इस युद्ध के लिए कार्यक्रम जनता को सरकारी वक्तव्य से ही मिल गया। सरकार ने अपने वक्तव्य में यह कहा था कि कांग्रेस ने तोड़-फोड़ की नीति अपनायी है। अतः उसे अवैध घोषित किया जाता है और उसके नेता गिरफ्तार कर लिये गये हैं। नेताओं की गिरफ्तारी के कारण कांग्रेस कोई कार्यक्रम निश्चित न कर पायी थी। अतः जनता को यह ज्ञात न था कि कांग्रेस इस संघर्ष को किस रीति से चलाना चाहती है। उसने यह समझा कि बापू के 'करो या मरो' के नारे का अर्थ यही है। इतने पर भी यद्यपि देश के अधिकांश भागों में जनता की यह महाक्रान्ति हुई थी किन्तु कहीं जनता ने हिंसा का प्रयोग नहीं किया। केवल एक ग्राम्य प्रदेश में ही कुछ अंग्रेजी वैमानिकों को जान से हाथ धोना पड़ा। वह भी इसलिए कि जनता को यह विश्वास हो गया था कि इन लोगों ने जनता पर हवाई हमला किया है।

अंग्रेजी सरकार ने इस क्रान्ति का मुकाबला नृशंस अत्याचार की नीति से किया। उसने अंग्रेजी और देशी सिपाहियों की टुकड़ियों को इन प्रदेशों में भेजा और इन लोगों ने निरस्त्र जनता पर जो अत्याचार किये वे संसार के घोरतम अत्याचारों में गिने जाने लायक हैं। किन्तु इस अत्याचार के बावजूद सरकार जनता की क्रान्ति भावना को कुचलने में समर्थ न हुई और जनता का विरोध निरन्तर चलता रहा।

यह तो अंग्रेज सरकार के लिए सौभाग्य की बात थी कि उन दिनों जापानियों ने भारत पर हमला न किया। नहीं तो यह पूर्णतः सम्भव था कि इन अत्याचारों से क्षुब्ध होकर जनता अंग्रेजों पर टूट पड़ती और उसकी भारी जन-धन हानि करती। जो हो जेल में बन्द होने पर भी महात्माजी के नाम का इतना प्रभाव रहा कि जनता ने हिंसात्मक मार्ग न अपनाया। भारत ने तो इस उच्च मानवता का आँचल न छोड़ा और अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने सम्भवतः उसको अपनाना भी उचित न समझा। इन्हीं दिनों बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा। इसका क्या कारण था इस विषय में मतभेद है। किन्तु इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उसका एक कारण सरकार की यह नीति थी कि शत्रु को किसी प्रकार की रसद न मिल पाये। उन दिनों सरकार

को यह भय था कि जापानी बंगाल पर अपना कब्जा करने में सफल हो जायेंगे। अतः उसने यह प्रयास किया कि बंगाल में किसी प्रकार चावल का भण्डार न रह पाये और न नावें ही रहने दी जायें। अतः उसने वहाँ के लोगों से नावें लेनी और चावल ज्यादा भाव पर खरीदना शुरू कर दिया। फल यह हुआ कि चावल के दाम चढ़ने शुरू हो गये तथा स्थिति यह पैदा हो गयी कि साधारण लोग चावल खरीद ही न सकते थे। लोग भूखों मरने लगे। जब चारों ओर लोग मर रहे थे सरकारी कर्मचारी बेजा नफा उठाने में लगे हुए थे और उनके नाच-रंग में कोई फर्क न पड़ा था। यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हमारे देश के कितने भाई-बहिनों की जान इस दुर्भिक्ष में गयी, किन्तु अनुमान यह है कि लगभग ३० लाख व्यक्ति इस दुर्भिक्ष में मरे। सारे महायुद्ध में भी न तो इतने अंग्रेज ही मरे थे और न भारतीय ही। इतने लोगों की जान इसलिए गयी कि सरकार ने दुर्भिक्ष में लोगों की सहायता करने के लिए कोई समुचित प्रबन्ध न किया, क्योंकि वह भारतीयों को दिखाना चाहती थी कि उसकी सहायता तथा सहानुभूति के बिना वे जीवित ही नहीं रह सकते।

जब भारत में यह स्थिति थी उन्हीं दिनों भारत से जाकर श्री सुभाषचन्द्र बोस इस प्रयास में थे कि वहाँ वे प्रवासी भारतीयों और भारतीय युद्ध-बन्दियों की सहायता से ऐसी सेना तैयार करें जो भारत को स्वतन्त्र करने के हेतु अंग्रेजों से युद्ध आरम्भ कर दे। वे इस प्रयास में सफल हुए और उन्होंने भारतीय मुक्ति सेना तैयार की जिसमें कई लाख सिपाही थे। इस सेना सहित उन्होंने भारत पर आक्रमण किया, किन्तु कुछ तो जापान की यथेष्ट सहायता न मिलने के कारण और कुछ अस्त्र-शस्त्र न होने के कारण वे कुछ अधिक बढ़ने में सफल न हो सके। इसके अतिरिक्त जिस प्रदेश में वे लड़ रहे थे उसमें भारतीयों की बस्ती न थी, इस कारण उन्हें भारत की जनता की सक्रिय सहायता भी न मिल सकती थी। परिणाम यह हुआ कि वे अपने आक्रमण में सफल न हुए और मुक्ति सेना को पीछे हटना पड़ा। कुछ दिनों से जापान का भी पल्ला कमजोर पड़ता जा रहा था। अतः यह सम्भावना भी न रही कि यह मुक्ति सेना पुनः आगे बढ़ सकेगी। उसके कुछ दिनों बाद पहले जर्मनी

ने और तत्पश्चात जापान ने अस्त्र डाल दिये। युद्ध समाप्त हो गया और मानव-जाति ने पुनः शान्ति की साँस ली।

किन्तु जिन कारणों से युद्ध आरम्भ हुआ था उनमें से एक भी दूर न हुआ था। न जर्मनी और न जापान की समस्या का ही कोई समुचित हल हुआ और न पिछड़ी जातियों की समस्याओं का। अतः संसार भर में वह तनातनी, वह कशमकश, जो युद्ध से पूर्व थी, ज्यों-की त्यों बनी रही। इतना ही नहीं दक्षिण-पूर्वी एशिया की पिछड़ी जातियों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध जो संघर्ष प्रारम्भ किया था उसकी भी समाप्ति न हुई। युद्ध के तुरन्त पश्चात् तो ऐसा प्रतीत हुआ कि यूरोप के साम्राज्यवादियों ने अपनी कायापलट कर दी है, किन्तु कुछ ही दिनों पश्चात् जब उन्होंने अपना असली रूप दिखाना प्रारम्भ किया तब इन प्रदेशों में साम्राज्यवादिता के विरुद्ध संघर्ष पुनः उग्र हो गया।

भारत में भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष चल ही रहा था। अब उसका रूप भी उग्र होने लगा। अन्य कारणों में से उसका एक कारण यह भी था कि युद्ध-काल में जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली सब वस्तुओं के दाम बहुत बढ़ गये थे। इस मँहगाई के कारण सरकारी नौकरों की तनख्वाहों का वह वास्तविक मूल्य न रहा था जो युद्ध के पूर्व था। जो लोग अपने आराम आशायश के लिए ही अंग्रेजों के साथी बने थे, उन लोगों के लिए अब अंग्रेजों का साथ देने को वह आर्थिक आकर्षण न रहा जो पहले था। अतः तनख्वाह की कमी के सवाल पर इन लोगों में असन्तोष फैलना शुरू हुआ। यह असन्तोष निम्न वर्ग के सरकारी नौकरों में बहुत अधिक हो गया। पुलिस सिपाहियों तथा सेना के सैनिकों में यह असन्तोष बढ़ा। ये लोग ही तो अंग्रेजी साम्राज्य के आधार थे। इनमें असन्तोष बढ़ने का यह साफ अर्थ था कि अंग्रेजी साम्राज्य का प्रशासनिक आधार खोखला हो रहा है। मैं पहले कह चुका हूँ कि जनसमर्थन रूपी और व्यापारिक आधारों को तो असहयोग एवं सत्याग्रह आन्दोलनों ने पहले ही खोखला कर दिया था अब सरकार का वह बचा-खुचा आधार भी लगभग टूट गया। यह असन्तोष बम्बई में नौसेना, जबलपुर में वैमानिक सेना और बिहार में पुलिस के विद्रोह के रूप में प्रकट हो गया। इसके अतिरिक्त सरकार के बड़े पदाधिकारियों में एकता

न रही। जो भारतीय बड़े पदों पर पहुँच गये थे उन्हें बराबर यह दिखायी दे रहा था कि अंग्रेज लोग उनको अंग्रेज अफसरों के बराबर विश्वस्त नहीं समझते। ये लोग बड़े अंग्रेज अफसरों से बुद्धि तथा योग्यता में कम न थे, किन्तु सरकारी प्रशासन में वे कुछ-कुछ अस्पृश्य से ही थे। अतः उनके मन में भी अंग्रेजों के प्रति कुढ़न थी। यद्यपि ये लोग भारतीय क्रान्ति का साथ न दे सकते थे और न स्वयं ही विद्रोह करने के लिए तत्पर थे, किन्तु इनका मन अब अंग्रेजों के साथ न था।

एक ओर तो भारत में साम्राज्यवाद के खिलाफ आर्थिक कारणों से संघर्ष तीव्रतर हो रहा था दूसरी ओर इस संघर्ष का मुकाबला करने की अंग्रेजों की शक्ति भी कम हो गयी थी। पिछले युद्ध में उन्हें इतने प्राणपण से लड़ना पड़ा था कि उन्हें अपने उद्योग-धन्धों को यथावत रखने तक की सुविधा न मिली थी। इतना ही नहीं। जर्मनी की बमबारी और पनडुब्बियों द्वारा व्यापारिक नौकाओं एवं पोतों के डुबाने की नीति के कारण अंग्रेजों के उद्योगों को भारी हानि उठानी पड़ी थी। उनके अनेक कल-कारखाने नष्ट हो गये थे। उनके अनेक भारवाही जहाज डूब गये थे। अतः संसार भर का औद्योगिक केन्द्र होने के स्थान में इंगलैंड अपनी औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए किसी हद तक अमरीका का आश्रित हो गया था अतः उनके लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो गया था कि वह अपनी सारी जन और धन शक्ति अपने आर्थिक पुनरुत्थान में लगा दे। इस अवस्था में उसके लिए यह सम्भव न था कि वह भारतीय क्रान्ति का दमन करने को अपनी आर्थिक या जनशक्ति का कुछ अंश लगाये।

अतः अंग्रेजों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे भारतीय जनक्रान्ति से ऐसा समझौता कर लें जिससे भारतीय तो प्रसन्न हो ही जायें साथ ही अंग्रेजों की अपनी भी कोई आर्थिक हानि न हो और न उनके राजनैतिक प्रभाव में कोई अन्तर पड़े। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति उन्हें इस बात में दिखायी पड़ी कि वे स्वेच्छा से भारत पर अपनी प्रभुता छोड़ दें और उन्हें ऐसे भारतीयों को दे दें जो कि अंग्रेजों से सांस्कृतिक सहानुभूति रखते हैं।

अंग्रेजों का यह विचार ब्रिटेन में एक अन्य बड़ी घटना के कारण और

तीव्र हो गया। वहाँ चुनाव हुए जिनमें जनता ने मजदूर पक्ष में मतदान किया। युद्ध-विजेता चर्चिल की युद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद ही यह बड़ी करारी हार थी। इस प्रकार ब्रिटेन की लोकतन्त्र प्रिय जनता ने श्री चर्चिल की सेवाओं के लिए उनके प्रति कृतघ्नता प्रकट नहीं की वरन अपने लोकतन्त्र प्रेम का परिचय दिया। युद्ध में ब्रिटेन का जिस प्रकार श्री चर्चिल ने नेतृत्व किया था उसके तो अंग्रेज बड़े प्रशंसक थे, पर साथ ही उनकी साम्राज्यवादी नीति का, विशेषकर भारत के प्रति उनकी नीति का, वे कड़ा विरोध करते थे। परिणाम यह हुआ कि चर्चिल सरकार गयी और एटली सरकार आयी। इसके कुछ पूर्व भारतीय नेता जेल से छोड़ दिये गये थे और भारत के उस समय के वाइसराय लार्ड वेविल ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं से राजनैतिक समझौते का भी यत्न किया था जो उस समय सफल न हुआ था।

एटली सरकार ने फिर से तुरन्त भारत की समस्या को सुलझाने के उपाय आरम्भ किये। १९४६ के मार्च महीने में ब्रिटेन की सरकार ने घोषणा की कि भारत की समस्या को सुलझाने के लिए मन्त्रिमण्डल के सदस्य के रूप में भारत-मन्त्री लार्ड पैथिक लारेंस, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और श्री ए० बी० एलेक्जेण्डर भारत जा कर नेताओं से बात करेंगे। यह घोषणा करते हुए प्रधान मन्त्री श्री एटली ने यह भी कहा कि यद्यपि अल्पसंख्यक दल को भारतीय राजनैतिक प्रगति में बाधा डालने न दी जायगी और इंगलैंड भारत को स्वतन्त्र करने के लिए तैयार है फिर भी इंगलैंड यह चाहता है कि हिन्दुस्तान इंगलैंड के साथ अवश्य रहे पर यह निश्चय करने का कि वह इंगलैंड के साथ रहेगा या बिल्कुल अलग हो जायगा इसका पूरा अधिकार भारत को ही रहेगा। भारत को यह घोषणा बहुत संतोषजनक जान पड़ी; सबसे बड़ी बात तो यह कही गयी कि लीग सदा भारत की आजादी के मार्ग में रोड़ा नहीं अटका सकती और दूसरी बात यह कही गयी कि अगर भारत स्वेच्छापूर्वक ब्रिटेन के साथ रहा तो ब्रिटेन इसे बहुत पसन्द करेगा पर इसे भी वह भारत पर ही छोड़ता है। थोड़े ही दिनों में तीनों मन्त्री भारत आ पहुँचे और उन्होंने वाइसराय और उनकी सरकार के उच्च अधिकारियों से बात करके विभिन्न दलों के प्रमुख व्यक्तियों से विचार-विनिमय आरम्भ कर दिया। इस प्रारम्भिक वार्ता के

बाद उन्होंने कांग्रेस और लीग के प्रधानों से सम्पर्क कायम किया। दोनों पक्ष के चार-चार प्रतिनिधियों, तीन मन्त्रियों और वाइसराय समेत बारह व्यक्तियों की कितने ही दिन बातचीत चली।

मन्त्रिमण्डल के नेता लार्ड पैथिक लारेंस ने २३ मार्च १९४६ को भारत पहुँचने पर अपने वक्तव्य में कहा था—"ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश राष्ट्र अपने उन वायदों को तथा वचनों को पूरा करना चाहता है जो दिये गये हैं और हम विश्वास दिलाते हैं कि अपनी बातचीत के बीच हम ऐसी कोई शर्त्त नहीं रखेंगे जो भारत के स्वाधीन अस्तित्व से मेल न खाती हो।" सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने कहा कि वे विरोधी दलों का फैसला करने नहीं आये बल्कि भारतीयों के हाथ सत्ता सौंपने के उपाय ढूँढ़ने आये हैं।

मन्त्रि मिशन का भारत में अच्छा स्वागत हुआ। लार्ड पैथिक लारेंस की आयु ७० वर्ष की थी, उनका विशिष्ट व्यक्तित्व था। वे बहुत ही विनम्र, स्पष्टवादी एवं विश्वसनीय व्यक्ति थे। सर स्टैफर्ड क्रिप्स तो पहले भी भारत आ चुके थे, उनके वाक् चातुर्य से भारतीय परिचित थे। श्री अलेक्जेण्डर काम की अपेक्षा भारत यात्रा में अधिक दिलचस्पी रखते थे।

भारत में मन्त्रि मिशन लगभग तीन महीने रहा। उसने आरम्भ से ही वाइसराय से मिलकर काम किया। पहले चुने हुए नेताओं से बातचीत की। सरगर्मी आरम्भ हुई फिर कभी काम जोरों से चला, कभी धीमे।

मिशन की नेताओं से जो बातचीत हुई उसका तो कोई फल नहीं निकला पर १६ मई को भारत सरकार का एक वक्तव्य निकला जिसमें एक योजना पेश की गयी जिसके तीन भाग थे। पहले भाग में लीग की पाकिस्तान की माँग को अव्यवहारिक बताया गया था और कहा गया था कि भारत का विधान ऐसा होगा कि उसमें भारत के सूबों का एक संघ बनेगा जिसमें देशी रियासतें भी शरीक हो सकेंगी। इस केन्द्रीय संघ के अधिकार में तीन विभाग होंगे—सेना तथा प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले और संचार-व्यवस्था। इन तीनों विभागों के लिए धन प्राप्त करने का अधिकार भी संघ को होगा। अन्य विषयों में प्रान्तों को स्वतन्त्रता रहेगी। जिन विषयों का जिक्र न हुआ हो वे राज्यों के अधिकार में आयेंगे। दूसरे भाग में विधान निर्माण समिति की योजना का

उल्लेख किया गया था जिसका काम विधान बनाने का हो। और तीसरे में तत्काल सरकार बनाने की बात थी। इस वक्तव्य में स्पष्ट कर दिया गया था कि भारत चाहे तो ब्रिटिश साम्राज्य से सम्पर्क रखे और चाहे सम्पर्क न रखे। प्रान्तों की विधान सभाओं का निर्माण दस लाख पीछे एक प्रतिनिधि का चुनाव करके होना था। मुसलमानों और सिखों के अलग प्रतिनिधि चुने जाने थे। यही लोग विधान निर्माण समिति के सदस्य भी होने थे। इस प्रकार ब्रिटिश भारत के २९२ प्रतिनिधियों में से २१० गैर मुस्लिम, ७८ मुस्लिम और ४ सिख होने थे। ब्रिटिश भारत की विधान निर्माण समिति की प्रारम्भिक बैठक में सभी सदस्य उपस्थित होने थे और उन्हें पदाधिकारियों का चुनाव करना व कार्य-पद्धति निश्चत करना था। बाद में देशी रजवाड़ों के प्रतिनिधियों समेत विधान निर्माण समिति को भारत संघ का विधान तैयार करना था। अल्प-संख्यकों के स्वत्व संरक्षण के लिए एक अलग समिति बननी थी। वाइसराय को अपनी कौंसिल की नये सिरे से नियुक्ति करनी थी। इस योजना की सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्था यह थी कि यद्यपि १९३५ का विधान बदला जाने वाला न था और अन्तिम अधिकार वाइसराय के हाथों में ही रहने थे तथापि यथा-सम्भव कौंसिल की राय से काम होना था।

किसी भी पक्ष की माँग इस योजना में स्वीकार न की गयी थी और न सब की बातों को एकदम नामंजूर किया गया था। सब दलों को कुछ न कुछ देकर खुश करने की बात थी। लीग की पाकिस्तान की माँग को स्वीकार नहीं किया गया था, पर प्रान्तों का इस प्रकार वर्गीकरण कर दिया गया था कि मुस्लिम लीग जिन प्रान्तों को मिलाकर पाकिस्तान बनाना चाहती थी उनके दो अलग वर्ग बना दिये गये थे और बाकी प्रान्तों का एक अलग वर्ग था; सिद्धान्ततः पाकिस्तान की कहीं चर्चा न थी, पर व्यवहार रूप में पाकि-स्तान बनता था। जहाँ लीग इस बात से नाखुश थी कि पाकिस्तान बनाने का प्रस्ताव माना नहीं गया वहाँ वह इस बात से खुश भी थी कि ओट में पाकिस्तान का अस्तित्व दिखायी देने लगा है। सच कहा जाय तो यह योजना कूटनीति की बहुत बड़ी चाल थी, क्योंकि इसमें न सिर्फ पाकिस्तान के निर्माण का बीज था बल्कि पाकिस्तान के भयंकर रूप धारण कर लेने की भी आशंका

थी। योजना का घोर विरोध होने लगा और विशेषकर इसलिए इस योजना के अन्तर्गत प्रान्तों के दोनों मुस्लिम वर्गों में पंजाब और बंगाल के इलाके भी शामिल हो जाते जिनमें हिन्दुओं की बहुत अधिक आबादी थी। आसाम प्रान्त तो घाटे में ही जाता था हालाँकि वहाँ मुसलमान आबादी के एक-तिहाई भी न थे। कांग्रेस कार्यकारिणी अर्से तक योजना पर विचार करती रही और इस निष्कर्ष पर पहुँची कि योजना प्रस्तुत रूप में अव्यवहार्य है। फलस्वरूप मिशन और वाइसराय ने विज्ञप्ति निकाली कि कांग्रेस और लीग दोनों की राय से सरकार बनाने का प्रयत्न विफल हो गया और अब वे अपनी ओर से प्रस्ताव रखेंगे।

तत्कालीन सरकार बनाने की १६ जून वाली योजना अनेक बातों पर विचार करके नामंजूर कर दी गयी। कांग्रेस की मर्यादा का सवाल था। वह विवाद अनेक अवस्थाओं से गुजरा और सम्पूर्ण परिस्थिति खाद्य-समस्या की गम्भीरता, रेल हड़ताल की आशंका तथा वैधानिक बातचीत की असफलता से फैलने वाली निराशा की तरफ ध्यान आकृष्ट किया गया। परन्तु कांग्रेस इन सबसे डरती न थी। किसी न किसी दिन अव्यवस्था फैले बिना देश स्वतन्त्र नहीं हो सकता यह वह जानती थी। येन-केन प्रकारेण १८ जून को अन्तरिम सरकार की योजना स्वीकार करने का निश्चय कर लिया गया। इस विषय का एक प्रस्ताव तक तैयार हुआ पर इसी बीच स्थिति गम्भीर हो गयी। अचानक वाइसराय और श्री जिन्ना का पत्र-व्यवहार प्रकाश में आया। ऐसा जान पड़ता था मानों प्रत्येक विषय में वाइसराय श्री जिन्ना के साथ हों।

इसी बीच नेताओं और मन्त्रि-परिषद् के मध्य हुई बातचीत से प्रकट हुआ कि यदि कांग्रेस ने विधान परिषद् में जाने का फैसला किया तो १६ जून का वक्तव्य तथा बाद में हुई सब बातों को रद्द माना जायगा और अस्थायी सरकार स्थापित करने का प्रयत्न भी नये सिरे से किया जायगा। विधान परिषद् में जाने का निर्णय कांग्रेस एक दिन पहले ही कर चुकी थी इसलिए २४ जून को सवेरे जब यह स्थिति सामने आयी तो कांग्रेस ने उसका सहर्ष स्वागत किया। देश की राजनैतिक स्थिति इस समय बड़ी ही दिलचस्प हो गयी थी। सभी आशा-निराशा और सफलता-असफलता के बीच डूब-उतरा रहे

थे। किसी को पूरा संतोष न हुआ था पर सबका असंतोष कुछ सीमा तक घट गया था। जब मिशन और वाइसराय को विधान परिषद् में जाने के कांग्रेस के निर्णय से सूचित किया गया तो हर्षोल्लास छा गया।

कांग्रेसी क्षेत्रों में संतोष इस बात पर था कि अल्पसंख्यकों और समान प्रतिनिधित्व के प्रश्न उठाकर कांग्रेस के लिए जो बेड़ियाँ तैयार की गयी थीं उनसे उसे त्राण मिल गया था। सरकारी क्षेत्रों को इस बात की खुशी थी कि कांग्रेस को विधान परिषद् में लाने में आखिर उसे सफलता मिली। लोगों को खुशी इस बात की थी कि अंतरिम सरकार में सम्भवतः उसकी प्रधानता हो जाय।

इस तरह अब स्थिति यह हो गयी थी कि कांग्रेस कार्यकारिणी ने १६ मई सन् १९४६ वाली दीर्घकालीन योजना को मंजूर कर लिया यद्यपि मंजूर करने में उसकी त्रुटियों को नजरअंदाज नहीं किया गया था और न उस अर्थ को ही छोड़ा गया था जो कि वह योजना का लगाना चाहती थी। साथ ही १६ जून १९४६ वाली अंतर्कालीन सरकार सम्बन्धी योजना को उसने नामंजूर कर दिया था। उस तरफ लीग ने दीर्घकालीन योजना को पहले ही मंजूर कर लिया था और अंतर्कालीन योजना के सम्बन्ध में वह कांग्रेस के फैसले का इन्तजार कर रही थी।

अन्त में मिशन और वाइसराय ने घोषणा की कि १६ जून की योजना कांग्रेस ने नामंजूर कर दी है इसलिए उसकी आठवीं दफा के अनुसार अब कांग्रेस और लीग दोनों के प्रतिनिधियों को लेकर वाइसराय अंतरिम सरकार बनायेंगे, पर चूँकि मिशन को तुरन्त लौटना है और इसके बनने में विलम्ब हो सकता है इसलिए तब तक काम चलाऊ सरकार बनायी जायगी।

लीग के क्षोभ और क्रोध का अन्त नहीं था। उसके प्रमुख नेताओं ने कड़े वक्तव्य निकाले। लीग कौंसिल की बैठक हुई जिसमें लीग ने कांग्रेस और वाइसराय की कड़ी आलोचना की। उधर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के बम्बई अधिवेशन ने, जो श्री जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में हुआ, कार्यकारिणी के निश्चय का समर्थन किया। स्मरण रहे कि कांग्रेस सोशलिस्ट दल का विरोध होने पर कार्यकारिणी की सिफारिश मान ली गयी थी।

इसके बाद सभी प्रान्तों में असेम्बलियों ने विधान निर्माण समिति के सदस्यों को चुन लिया। कांग्रेस ने इस चुनाव में कांग्रेस से बाहर के योग्य व्यक्तियों को चुनवाने की नीति बरती। उधर वाइसराय ने पंडित जवाहरलाल से अंतरकालीन सरकार में शामिल होने के लिए अपने सुझाव रखने को कहा। पण्डितजी ने श्री जिन्ना को शरीक होने का निमन्त्रण दिया, पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

अंतरकालीन सरकार के निर्माण में सहयोग करने की बात वाइसराय ने ६ अगस्त को कांग्रेस अध्यक्ष से शुरू की। १२ अगस्त को सायंकाल ७ बजे कांग्रेस अध्यक्ष द्वारा उसकी स्वीकृति की घोषणा कर दी गयी। लीग के इंकार से काम रुकने वाला न था। श्री नेहरू ने कार्यकारिणी की संसदीय उपसमिति से विचार-विमर्श शुरू किया जिसके सदस्य सरदार बल्लभभाई पटेल, मौलाना अबुलकलाम आजाद और बाबू राजेन्द्रप्रसाद थे।

उधर लीग ने १६ अगस्त को "प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस" मनाने की घोषणा की थी और श्री जिन्ना ने इस सम्बन्ध में एक वक्तव्य भी निकाला था। उन्होंने मुस्लिम जनता से अनुरोध किया था कि उसे शान्तिपूर्ण और अनुशासित ढंग से काम करना चाहिए और ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिए जिससे विरोधियों को कुछ कहने का अवसर मिले। परन्तु सम्भवतः यह चेतावनी बहुत देर से दी गयी। कलकत्ता और सिलहट में भयंकर उपद्रव हुए। कलकत्ते की सड़कों पर रक्त की नदियाँ बह उठीं। चार दिन तक खून, हत्या और ज्यादतियाँ होती रहीं। लोगों के हिसाब से कलकत्ते में ७ हजार व्यक्ति मारे गये और बे हिसाब घायल हुए। सड़कों पर दो-तीन दिन तक लाशों का ढेर पड़ा रहा। तीन हजार से ऊपर लाशें जहाँ-तहाँ से हटायी गयीं। जलते हुए मकानों में और हुगली में कितने ही निरपराध लोगों को ढकेल दिया गया। सरकार ने १६ और १७ अगस्त के दोपहर तक दंगा रोकने की कोई विशेष कार्रवाई नहीं की। लोगों का कथन है कि शायद नादिरशाह के दिल्ली वाले कत्ले आम के अलावा भारत के इतिहास में और कहीं ऐसा घोर कुकृत्य नहीं हुआ। उस वक्त लोगों को सर फीरोजशाह नून के ये शब्द अनायास स्मरण हो आये "ऐसी हालत पैदा कर देंगे जैसी चंगेज और हलाकू खाँ ने भी नहीं की थी।"

उधर २ सितम्बर १९४६ को अंतरकालीन सरकार ने पद ग्रहण किया, जिसमें बारह मन्त्री थे।

जब वाइसराय ने यह परिषद् बनायी तब आरम्भ में तो मुस्लिम लीगियों ने इसका बहिष्कार किया, किन्तु कुछ दिनों पश्चात् वे इसके सदस्य बनने के लिए तैयार हो गये और वाइसराय ने श्री जिन्ना से बात करके मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों को इसमें सम्मिलित कर लिया। यह स्पष्ट हो चुका था कि अंग्रेज भारत छोड़ रहे हैं अतः एक ओर मुसलमानों और दूसरी ओर भारत के अन्य सम्प्रदायवालों के बीच राजनैतिक शक्ति के लिए स्पर्धा बढ़ी।

हमारे लिए यह दुर्भाग्य की बात थी कि इस स्पर्धा का कोई हल न निकल सका। इस स्पर्धा के कारण देश में अनेक स्थानों में मुसलमानों ने हिन्दुओं पर आक्रमण किये थे जिसका परिणाम यह हुआ था कि कुछ प्रान्तों में हिन्दुओं ने मुसलमानों पर भी आक्रमण किये थे। ऐसा प्रतीत होने लगा मानों देश में हिन्दू-मुसलमानों में गृह-युद्ध हो ही जायगा फलतः देश में यह भावना बढ़ने लगी कि इससे अच्छा तो यही होगा कि मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग स्वीकार कर ली जाय और देश का विभाजन हो जाय।

अंग्रेजी सरकार भी उस समय यह नहीं चाहती थी कि भारत में अशान्ति की आग भड़की रहे। उसे यह भय था कि यदि यह आग शान्त न हुई तो यह बात भी सम्भव थी कि भारतीय नेतृत्व उन लोगों के हाथ में चला जाय जो अंग्रेजों से सहानुभूति नहीं रखते थे। अतः वे यह चाहते थे किसी तरह भारत में शान्ति स्थापित हो जाये। अतः उन्होंने लार्ड माउंटबेटन को भारत भेजा और उन्हें यह कर्त्तव्य सौंपा कि वे भारतीय समस्या को शीघ्रातिशीघ्र हल करें।

उन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि निश्चित तारीख को अंग्रेजी सरकार भारतीय प्रतिनिधियों को राजनैतिक प्रभुता सौंप देगी, किन्तु ऐसा वह तभी करेगी जब मुस्लिम लीग और कांग्रेस इस बात पर सहमत हो जायें कि पंजाब और बंगाल की धारा सभाएँ मतदान द्वारा यह तय करें कि वे भारत में सम्मिलित होंगी या नहीं। यदि वे भारत में सम्मिलित न होने का निर्णय करें तो उन

प्रान्तों का विभाजन होगा, उनके हिन्दू बहुमत प्रदेश भारत में मिला लिये जावेंगे और मुस्लिम बहुमत प्रदेश पाकिस्तान में मिला दिये जायेंगे। आसाम से सिलहट का मुस्लिम बहुमत जिला अलग करके पाकिस्तान में मिला दिया जायेगा और पश्चिम में सिंध। उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त तथा मुस्लिम बहुमत रियासतें एवं पंजाब के मुस्लिम बहुमत जिले पाकिस्तान में सम्मिलित किये जायेंगे। इन प्रदेशों की सीमा निश्चित करने के लिए सीमा आयोग नियुक्त किया जायगा।

इस आशा से कि इस समझौते से हिन्दू-मुस्लिम स्पर्धा का अन्त हो जायगा और स्वतन्त्र भारत शान्तिपूर्वक अपनी प्रगति कर सकेगा कांग्रेस ने यह समझौता मान लिया। इंगलेंड की संसद् ने एक विधान बनाया जिसमें यह निहित था कि पन्द्रह अगस्त १९४७ से भारत की संविधान सभा भारत पर पूर्ण प्रभुता रखेगी और वह जो संविधान बनायेगी वही भारत का संविधान रहेगा। इस प्रकार अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ भारतीयों का संघर्ष सफलता से समाप्त हो गया। भारत ने जो स्वतन्त्रता लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व खो दी थी वह उसने पुनः प्राप्त कर ली। भारतीय राष्ट्र के इस पुनर्जन्म से भारतीय जनता के हृदय आनन्दविभोर हो गये। १५ अगस्त को उन्होंने जो दीपावली मनायी थी वह अपूर्व थी।

मैंने कभी लखनऊ के एक प्रसिद्ध अंग्रेज श्री लारैन्स ने सन् १८४४ में जो कुछ लिखा था उसे पढ़ा था। श्री लारैन्स ने लिखा था कि "भारत पर हम सदा अधिकार नहीं रख सकते। हमें इस प्रकार का आचरण करना चाहिए कि जब हमारा नाता टूटे तो हम सम्मान और प्रेम के साथ अलग हों जिससे भारत इंगलैंड का मित्र बना रहे।"

मेरा यह कथन नहीं कि सौ वर्ष पूर्व दी गयी एक अंग्रेज की सम्मति के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने कार्य किया, पर कार्य हुआ ठीक इस सम्मति के अनुरूप।

गान्धीजी ने सन् १९२० में कहा था कि स्वराज्य हमें एक वर्ष के भीतर मिल जायगा। एक वर्ष के स्थान पर स्वराज्य प्राप्त करने में हमें सत्ताइस वर्ष लग गये। इन सत्ताइस वर्षों में गान्धीजी के नेतृत्व में तीन बड़े आन्दोलन

हुए, सन् २० का असहयोग, सन् ३० का सत्याग्रह और सन् ४२ का स्वातन्त्र्य-युद्ध। इन तीनों आन्दोलनों के लिए यह कहना कि ये असफल हुए यह तो ठीक नहीं है, क्योंकि यथार्थ में ऐसे आन्दोलन कभी असफल होते ही नहीं, पर साथ ही यह भी सत्य है कि जिस स्वराज्य को प्राप्त करने के लिए ये आन्दोलन किये गये थे वह स्वराज्य सन् २० के असहयोग और सन् ३० के सत्याग्रह के फलस्वरूप उन आन्दोलनों के तत्काल पश्चात् प्राप्त नहीं हुआ ; यद्यपि स्वराज्य प्राप्त होने में इन आन्दोलनों का भी हाथ था, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। इन आन्दोलनों के उपरान्त तत्काल स्वराज्य प्राप्त न होने से यदि इन आन्दोलनों को असफल भी माना जाय तो भी इनकी असफलता वैसी ही असफलता थी जिसके सम्बन्ध में फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्यिक विक्टर ह्यूगो ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास "ला मिजरेबिल्स" में एक स्थान पर लिखा है : "कभी-कभी यह क्रिया सफल नहीं होती, किन्तु विफल होने पर भी वह सम्मान योग्य है और सम्भवतः विफलता में ही उसकी अधिक महानता निहित है।"

× × ×

मैं सन् ४२ के स्वतन्त्रता संग्राम के छूटने वाले राजबन्दियों की अन्तिम टोलियों में था। जब मैं छूटा उस समय के वायुमण्डल से पता लगने लगा था कि स्वराज्य अब बहुत निकट है। सन् ४६ के लार्ड पैथिक लारैन्स के नेतृत्व में इंगलैंड से जो शिष्टमण्डल आया उसके आने के बाद तो जान पड़ने लगा था कि अब हम स्वतन्त्रता के द्वार पर ही खड़े हैं। जेल से छूटने के बाद स्वराज्य को इतना समीप देख इस काल में मेरा मन कैसी-कैसी भावनाओं से भरा रहा ! सन् ४७ की १५ अगस्त को भारत स्वतन्त्र हो जायगा इस घोषणा के बाद तो १५ अगस्त की प्रतीक्षा ही मेरे दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न रही।

जिस दिन देश स्वतन्त्र हुआ, भारत के पुराने एवं नये स्वतन्त्रता प्राप्त करने के इतिहास की कितनी घटनाएँ, उन घटनाओं से सम्बन्धित कितनी कथाएँ, कितने त्याग, कितने बलिदान मुझे याद आये ! मैं भारतीय इतिहास का एक छोटा सा विद्यार्थी रहा हूँ। अंग्रेजी राज्य-काल के इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की उन्हीं घटनाओं को महत्त्व दिया है जो हमारी मध्य-

धीनता से सम्बन्ध रखती हैं, पर यथार्थ में भारतीय इतिहास भारतियों के स्वातन्त्र्य-प्रेम का इतिहास है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत की सम्पन्नता ने यहाँ सदा विदेशियों को आकर्षित किया और यहाँ की आपसी फूट तथा कुछ व्यक्तियों के स्वार्थ के कारण हम बार-बार पराधीन हुए, पर हर बार की पराधीनता के बाद हमने फिर से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया। प्राचीन भारत पर के यूनानी, शक, हूण आदि आक्रमकों के बाद क्या हमने तुरन्त ही फिर से आजाद होने का यत्न नहीं किया ? मध्यकालीन युग में मुसलमानों से छुटकारा पाने की क्या हमने कम कोशिश की ? और वर्त्तमान काल की अंग्रेजी प्रभुता का हटाने का भी क्या हमने कम प्रयास किया ?

सन् १८५७ का स्वातन्त्र्य युद्ध, उसके बाद सन् २० तक स्वतन्त्र होने के अनेक प्रयत्न और सन् २० से ४७ तक का स्वाधीनता संग्राम !

सन् २० से ४७ तक के युद्ध से तो मेरा निज का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा था। आज मुझे इस संग्राम से सम्बन्ध रखने वाली देश और अपने प्रान्त की कितनी घटनाएँ याद आयीं। इस सारे युग का इतिहास तो मेरे नेत्रों के सामने सिनेमा के एक फिल्म के सदृश घूम गया।

सबसे पहले मुझे स्मरण आया जलियाँवाला बाग। यद्यपि जलियाँवाला बाग की घटना के समय मैं वहाँ न था वरन् राजनीतिक क्षेत्र में भी न आया था, पर सन् २० के असहयोग आन्दोलन की यथार्थ पृष्ठभूमि जलियाँवाले बाग की घटना थी। कितनी चर्चा थी उस समय उस हत्याकाण्ड की ! कितने भाषण होते थे उस पर ! कितने गान गाये जाते थे उस विषय में ! कितने चित्र थे उससे सम्बन्ध रखने वाले और इन चित्रों में उस आहत सुकोमल मदनमोहन बालक का वह मार्मिक चित्र ! ओह !

जलियाँवाले बाग की घटना के पश्चात् मुझे याद आये असहयोग आन्दोलन के देश के और अपने प्रान्त के अनेक दृश्य। कैसी जनजागृति की लहर फैली थी उस बीच ! इस काल का वह पहला जन आन्दोलन !

कैसा जोश-खरोश, त्याग की कैसी भावनाओं का उस समय उदय हुआ था इस देश के मानवों के मन में और फिर उन भावनाओं में कितनी पवित्रता, कितनी शुद्धता थी !

इसके बाद मुझे स्मरण आया कांग्रेसवादियों का धारासभाओं का जीवन। यह आज मुझे कुछ फीका-फीका सा जान पड़ा।

इन धारासभाओं से मन दौड़ा साइमन कमीशन के बहिष्कार की घटनाओं की ओर। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण घटना याद आयी लाहौर के लाठी चार्ज की, जिसमें घायल होकर पंजाब केसरी लाला लाजपतराय ने वीर-गति प्राप्त की थी और जिसका बदला लेने को सरदार भगतसिंह आदि युवकों ने विपक्षियों में से कुछ का खून कर फाँसी पायी थी। यद्यपि इन तरुणों का मार्ग हमारे से भिन्न था, पर इनके बलिदान का तो ऊँचे से ऊँचे स्थान था। इसी बलिदान से प्रभावित हो उस अहिंसा के पुजारी महात्मा गान्धी तक ने करांची कांग्रेस में इन वीरात्माओं के प्रति कांग्रेस के प्रस्ताव के द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित करायी थी।

इन घटनाओं से मन दौड़ा सन् ३० और ३२ के सत्याग्रह की ओर, देशव्यापी नमक सत्याग्रह, हमारे प्रान्त के जंगल सत्याग्रह, जबलपुर की चार दिन और चार रात तक लगातार चलने वाली आम सभा, लाठी चार्ज, गोली-काण्ड उनमें शहीद हुए अनेक हुतात्मा! इन हुतात्माओं में नगर में रहने वालों की अपेक्षा ग्रामीणों की अधिक संख्या थी। हमारे प्रान्त में अपढ़ आदिवासी गोंड़ तक शहीद हो गये थे और उनमें पुरुष ही नहीं, महिलाएँ भी सम्मिलित थीं!

इसके बाद स्मरण आया सन् ४० का व्यक्तिगत सत्याग्रह और उस सत्याग्रह के प्रथम सत्याग्रही विनोबा भावे।

और अन्त में सन् ४२ के स्वतन्त्रता के युद्ध के दृश्य नेत्रों के सम्मुख घूमे। यद्यपि उन दृश्यों को मैं देख न पाया था, पर उनका वृतान्त पढ़ा जो था। चूँकि उन्हें प्रत्यक्ष में देखा न था और उनका वृत्त ही पढ़ा था इसलिए मेरी उर्वरा कल्पना-शक्ति ने उन दृश्यों के चित्रों में नाना प्रकार के रंग भरने शुरू किये। बिना नेताओं के जनता की वीरत्व से भरी हुई महान् कृतियाँ! जनता का न बुझने वाला जोश एवं दृढ़ता! सरकारी घोर दमन के नृशंस अत्याचार! ओह! कैसे-कैसे दृश्य घूमे नेत्रों के सामने। सन् २० से ४३ तक के दृश्यों को तो मेरे लिए और आकर्षित बना दिया इन दृश्यों से सम्बन्ध रखने वाले

व्यक्तियों की याद ने। लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, महामना मालवीय, लाला लाजपतराय, देशबन्धुदास, पं० मोतीलाल नेहरू, श्रीमती सरोजिनी नायडू, डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, श्री राजगोपालाचारी, पं० जवाहरलाल नेहरू, नेताजी सुभाष बोस, सरदार वल्लभभाई पटेल, हकीम अजमल खाँ, डाक्टर अन्सारी, मौलाना आज़ाद कितने महानुभाव मुझे याद आये ! आज मुझे एक चित्र और बार-बार स्मरण आ रहा था। यह चित्र सन् २० की नागपुर कांग्रेस के मंच पर चित्रित किया गया था। इस चित्र में अंकित था लोकमान्य तिलक का महा-प्रयाण और इस दुःख से विह्वल पछाड़ खाती हुई भारत माता को गान्धीजी का सँभालना। तो लोकमान्य ने मातृभूमि की स्वाधीनता का जो यह कहकर शंख फूँका था कि "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है" वही स्वराज्य प्राप्त कर लोकमान्य के दुख से विह्वल भारत माता को सचमुच ही गान्धीजी ने सम्हाल लिया था। नागपुर कांग्रेस के उस काल्पनिक चित्र ने आज प्रत्यक्ष घटना का रूप ले लिया था।

और सन् २० से ४७ तक के इस युद्ध के समस्त संस्मरण करते-करते मुझे इससे सम्बन्ध रखने वाली व्यक्तिगत घटनाएँ भी कितनी याद आयीं। और इन घटनाओं में चित्तौड़ का विजय स्तंभ भी।

१५ अगस्त की अर्द्धरात्रि के स्वतन्त्रता समारोह में मैं पूरे होश में नहीं था।

जब इस समारोह के बाद मैं घर लौटा तब भी भावनाओं से हृदय ओत-प्रोत था। अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र करने के लिए जिस मार्ग का मैंने अनुसरण किया था उस पर मैं अविचल चलता रहा था। आज मैं जीवित अवश्य था, परन्तु उस मार्ग पर चलते हुए अनेक बार मैंने मौत का भी सामना किया था और जब प्राणी के लिए सबसे प्रिय प्राणों की भी मैंने परवाह न की थी तब अन्य वस्तुओं को तो मैंने सदा तुच्छ ही माना था।

१५ अगस्त की उस रात को मैं क्षण भर भी न सो सका। दुख के अतिरेक में ही नहीं सुख के अतिरेक में भी नींद नहीं आती। मेरे मन में बार-बार उठता था कि देश की आजादी के साथ ही मेरा जीवन भी सार्थक और सफल हो गया है।

संघर्ष का अन्त और कांग्रेस

रात्रि शान्ति और स्वप्नों की जननी है। उसकी शीतल छाया में मानव सब प्रकार की चिन्ताओं तथा पीड़ाओं को भूल जाता है, उसके आँचल में उसे अपने सब संघर्षों एवं द्वन्दों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, उसके वक्ष पर भविष्य की आकांक्षाएँ चित्रांकित होती हैं और वर्त्तमान की भग्न या अमूर्त्त आशाएँ पुनः जीवित तथा फलित होने लगती हैं। युगयुगान्तरों से रात्रि के आगमन के आभास मात्र पर मानव अपने भयानक से भयानक संघर्षों एवं युद्धों को बन्द कर देते हैं। इसी रात्रि के वक्ष में बैठे हुए भारत ने भी अंग्रेजों के विरुद्ध अपने संघर्ष को समाप्त कर दिया।

मध्य रात्रि होने में अभी कुछ क्षण शेष थे। भारत के भावी राजनायक पण्डित जवाहरलाल नेहरू संविधान सभा में उठे और अपनी ओजस्वी वाणी में उन्होंने सभा से कहा कि "चन्द मिनटों में यह असेम्बली एक पूरी तौर से आजाद खुद मुख्तार असेम्बली हो जायगी और यह असेम्बली नुमाइन्दगी करेगी एक खुद मुख्तार मुल्क की।"

अंग्रेजी संसद् ने जो इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स एक्ट स्वीकार किया था वह उसी मध्य रात्रि के तुरन्त पश्चात् आरम्भ होने वाली १५ अगस्त की तारीख को प्रभावशील होना था। इस प्रकार उसी क्षण से भारत अंग्रेजों के दासत्व से मुक्त हो जाना था। दूसरे शब्दों में उसी क्षण हमारा वह संघर्ष समाप्त हो जाना था, जिसे अंग्रेजों के दासत्व से भारत को मुक्त करने के लिए हमारे देशवासियों ने दशाब्दियों पूर्व आरम्भ किया था।

इंगलैंड के प्रसिद्ध इतिहासकार सीले ने एक स्थान पर लिखा है कि अन-मनेपन के दौर में अंग्रेजों ने भारत को जीता। किन्तु अधिक सत्य तो यह कथन होगा कि अनमनेपन के दौर में भारत ने अपनी स्वतन्त्रता का संग्राम आरम्भ किया। सन् १८५७ में प्रथम बार अंग्रेजों ने स्वयं भारतीय शासक पर आक्रमण करके उसे पराजित किया और उसकी राजसत्ता परोक्षरूप में ही

सही अपने हाथ में कर ली। किन्तु भारतीयों को उस समय यह होश ही न था कि भारत की स्वतन्त्रता को यह ग्राह ही निगल जाने वाला है। दिन पर दिन बीते, साल के बाद साल गुजरे, पर भारतीयों के मन में यह ज्योति न जगी कि उनके विशाल देश को यह ग्राह धीरे-धीरे निगले जा रहा है। १८५७ में जब लगभग सारा भारत इस ग्राह के उदर में जा चुका था भारतीय छटपटाये और उन्होंने उसके इस मृत्यु-पाश से मुक्त होने का प्रयत्न किया, किन्तु उसका कुछ फल न हुआ।

क्या अंग्रेज, क्या भारतीय सबको ही ऐसा प्रतीत हुआ कि चिरकाल के लिए भारत समाप्त हो गया। किसी को स्वप्न में भी यह गुमान न था और न हो सकता था कि इस ग्राह के उदर से भारत कभी जीवित तथा सांगोपांग निकल आयेगा। इसके विपरीत भारत के अनेक विचारकों एवं जननायकों के मन में भी यह धारणा घर कर गयी थी कि यह विधि का ही विधान था कि भारत इस प्रकार अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन होकर अंग्रेजी सभ्यता में लीन हो जाय। किन्तु जैसा कि एक कवि ने कहा है—"कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी। सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमाँ हमारा।।" यह विचार ठीक न निकला और भारत पुनः इस ग्राह के उदर से जीवित निकल आया।

मजे की बात तो यह है कि भारत के इस पुनर्जन्म का साधन वह संस्था बनी जिसे एक दूरदर्शी अंग्रेज ने इस विचार से स्थापित किया था कि भारत अंग्रेजी संस्कृति तथा सभ्यता के रंग में रंग जाय। उसके सामाजिक जीवन की आधारभूत संस्थाएँ अंग्रेजी सामाजिक संस्थाओं की प्रतिमात्र हों और इस प्रकार भारत में अंग्रेजी साम्राज्य अमर हो जाय, सर्वदा अक्षुण्ण बना रहे। यह बात तो सर्वविदित है कि सन् १८५७ के पश्चात् भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का नेतृत्व कांग्रेस ने किया एव उसी के अथक परिश्रम, साधना, त्याग के परिणामस्वरूप भारत स्वतन्त्र हुआ। किन्तु इस बात की ओर बहुधा आज के लोगों का ध्यान नहीं जाता कि इस कांग्रेस के जन्मदाता आल इण्डिया सर्विस के सेवा-निवृत्त सदस्य श्री आक्टेवियन ह्यू म थे। पहले वे सरकार के अन्य उच्च पदों पर रहे। १८५७ के जन-विप्लव, १८५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध में ह्यू म महोदय इटावे में जिलाधीश थे। उसके

तत्पश्चात् देश के अनेक स्थलों में जनता में विक्षोभ के लक्षण देखकर वे यह समझ गये थे कि यदि भारतीयों का नेतृत्व पुराने विचार वाले एवं भारत की ऐतिहासिक संस्कृति के उपासकों के हाथ से चुपचाप लेकर अंग्रेजी विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर निकले भारतीयों के हाथ में न दे दिया गया तो कुछ दिनों पश्चात् ही भारत में ऐसा महा भयानक राजनैतिक विस्फोट होगा जिसे अंग्रेज कभी भी काबू में लाने में सफल न होंगे। वे यह समझते थे तथा मानते थे कि यदि भारतीय असंतोष के प्रकट होने के लिए ऐसे वैध मार्ग खुले रहे जिनके द्वारा भारत के साधारण जन अपने दुःख-दर्द की कहानी सरकार तक पहुँचा सकें और यह भरोसा कर सकें कि कभी न कभी तो उन्हें इन्साफ मिलेगा ही तो इस विस्फोट की संभाव्यता टल जायगी। उनकी जीवनी के लेखक डब्ल्यू वेडर्बर्न लिखते हैं कि १८७८-१८७९ के लगभग ह्यूम महोदय का यह विश्वास हो गया था कि बढ़ते हुए असंतोष का मुकाबला करने के लिए कोई निश्चित कदम उठाना आवश्यक है। देश के विभिन्न भागों वाले शुभेच्छुओं से उन्हें सरकार के संकट की, जनसाधारण की आर्थिक दुर्दशा की और बुद्धिजीवियों के विद्वेष की खबरें मिल रही थीं अतः उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक अपील निकाली। अपनी इस अपील में ओजस्वी भाषा में उन्होंने लिखा—"उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीयों के बृहत् समूह के सदस्य होने के नाते तुम्हारा यह स्वाभाविक अधिकार है कि भारत में मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रगति के तुम्हीं लोग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत बनो·········अपने सर्वाधिक सुसंस्कृत एवं ज्योतिपूर्ण मनीषियों की अपने सर्वाधिक लाड़लों के प्रति ही भारत की आँखें लगी हुई हैं। तुम इस क्षेत्र में सबसे पहला कदम उठाओ।" इस प्रकार उन्होंने भारत के अंग्रेजी शिक्षित युवकों का आह्वान किया कि वे आगे बढ़कर के नेतृत्व को अपने हाथ में लें। अंशतः उनके आह्वान, इसके फलस्वरूप, भारत अंशतः अपनी आर्थिक तथा अंग्रेजी प्रशासकों के साथ अपने निकट सम्बन्धों के फलस्वरूप भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों ने इस आयोजन का साथ दिया कि एक ऐसी अखिल भारतीय संस्था स्थापित की जाय जिसके द्वारा भारतीय अंग्रेजी शिक्षित वर्ग भारतीय जनसाधारण की कष्ट

बाधाओं को अंग्रेज सरकार तथा नौकरशाही के सामने रख सके। इस आयोजन के परिणामस्वरूप इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के पीछे यह भावना थी कि भारतीय असंतोष को प्रकट करने का साधन भारत की पुरानी संस्थाएँ, भारत के अंग्रेज विरोधी पुराने वर्ग न रहकर अंग्रेजियत के रंग में रंगी तथा अंग्रेजी साम्राज्य के निचले भागीदारों द्वारा चलायी जाने वाली यह संस्था हो और यह भारत एवं इंगलैंड के साम्राज्यवादी ग्रन्थि-बन्धन को और भी कसकर सर्वदा के लिए बाँध दे। कांग्रेस के तीन प्रकार के मूल ध्येयों का वर्णन करते हुए वेडवर्न महोदय लिखते हैं कि उनमें एक ध्येय यह था कि इंगलैंड से भारत के बन्धन को और भी मजबूत बनाया जाये। कांग्रेस की स्थापना के आयोजकों ने इसकी स्थापना से पूर्व आरम्भिक प्रस्ताव सदस्यों के नाम भेजा था उसमें भी यह स्पष्ट कर दिया गया था कि "जहाँ तक इस संघ के गठन का प्रश्न था इस सम्बन्ध में पूर्ण मतैक्य था कि इस संस्था का प्राणभूत तत्त्व अंग्रेजी सम्राट् के प्रति अचल निष्ठा हो।" इसी सम्बन्ध में "इण्डियन पालीटिक्स" नामक प्रकाशन में श्री उमेशचन्द्र बनर्जी ने यह प्रकट किया था कि "लार्ड डफरिन ने ह्यूम महोदय को बुलाकर कहा कि इस देश (भारत) में लोगों का ऐसा कोई दल नहीं है जो वे काम कर सकें जैसे कि इंगलैंड में सरकार के विरोधी दल द्वारा किये जाते हैं। अंग्रेज इस बात से अपरिचित बने रहते हैं कि देशी क्षेत्रों में उनके तथा उनकी नीति के बारे में लोगों के क्या विचार हैं अतः शासक एवं शासित दोनों के ही हित में यह अत्यन्त वांछनीय है कि भारतीय राजनीतिज्ञ प्रतिवर्ष एक स्थान पर एकत्रित हों और सरकार को यह बतायें कि किन बातों के बारे में प्रशासन दोषपूर्ण है तथा उसमें कैसा सुधार किया जा सकता है।" स्वयं ह्यूम महोदय ने उस समय यह स्पष्ट कर दिया था कि कांग्रेस के प्रचार से किसी प्रकार के राजनैतिक संकट की आशंका पैदा हो ही नहीं सकती। वे लिखते हैं—"लोगों को वे सब लाभ बताये जाते हैं जो उन्हें अंग्रेजी राज्य से हुए हैं, साथ ही यह तथ्य भी बताया जाता है कि उसी राज्य के बने रहने पर ही देश में शान्ति एवं समृद्धि की आशा निर्भर करती है।" आगे चलकर उन्होंने यह भी लिखा कि "अंग्रेजी शिक्षा ने जिस तूफानी लहर को फैला दिया है उसको निश्चित तथा

सुदृढ़ कूलों के बीच बहाने के लिए ही कांग्रेस आन्दोलन को शुरू किया गया है।" इन सब कथनों से स्पष्ट है कि कांग्रेस के जन्मदाता का यही उद्देश्य था कि अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध किसी प्रकार के भी असंतोष को प्रकट करने का कार्य कांग्रेस द्वारा हो जिससे वह असंतोष साम्राज्य के विनाश का कारण न बन पाये।

किन्तु नर कुछ सोचता है और नियति कुछ और ही करती है। जिस संस्था को ह्यूम महोदय ने अंग्रेजी साम्राज्य का "सेफ्टी वाल्व" बनाया था, जिसके द्वारा वे भारतीय जन नेतृत्व को अंग्रेजों के मानस पुत्रों तथा अंग्रेजी संस्कृति के पुजारियों के हाथ में सौंप देना चाहते थे, वही संस्था अन्त में भारत से अंग्रेजी साम्राज्य के उन्मूलन का प्रभावशाली उपकरण एवं साधन सिद्ध हुई। सम्भवतः कांग्रेस का ऐसा होना अनिवार्य ही था। ह्यूम महोदय ने यह प्रयास किया था कि वे इतिहास की दिशा को ही मोड़ दें। किन्तु इतिहास की दिशा को मोड़ने के लिए जिस हिमालय प्रयास की आवश्यकता थी, जिस "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उदार मनोवृत्ति की अनिवार्यता थी, वह अंग्रेजी साम्राज्यवादियों में न तो थी और न हो सकती थी। अंग्रेज भारत में अंग्रेजी संस्कृति, अंग्रेजी न्याय, अंग्रेजी प्रतिनिधिक प्रशासन व्यवस्था के प्रसार द्वारा मानव स्वातन्त्र्य की अभिवृद्धि के लिए नहीं आये थे। यद्यपि उनके अनेक प्रशासकों ने इन आदर्शों की दुहाई अवश्य दी है तथा अनेक बार यह आग्रह किया है कि भगवान् ने भारत को इन आदर्शों से ओतप्रोत करने का भार उनके कंधे पर रखा है तथापि वे अपने आर्थिक लाभ के लिए ही आये थे। उन्होंने भारत में जो भी अंग्रेजी संस्थाएँ स्थापित कीं उनके पीछे भी यही भावना थी कि उनके साधन से वे भारत का और भी आर्थिक दोहन करें। अंग्रेजी शिक्षा से अनेक अंग्रेज अध्यापकों को भारत में नौकरी मिली, अंग्रेजी प्रणाली के कारण अनेक अंग्रेज बैरिस्टरों को भारत में वकालत करने की सुविधा हुई, अंग्रेजी चिकित्सा प्रणाली से अनेक अंग्रेज डाक्टरों को यहाँ आजीविका मिली और अंग्रेज औषधि बनाने एवं बेचने वालों को यहाँ औषधि बेचने की सुविधा मिली। अतः भारत में जो अनेक प्रकार की अंग्रेजी संस्थाएँ कायम की गयीं उनके लिए अपनी तौर से चाहे कुछ भी क्यों न कहा गया हो, उनके मूल में यही भावना क्रियाशील

थी कि उनके द्वारा भारत का और भी व्यापक दोहन किया जा सकता है। अतः इन साम्राज्यवादियों के लिए यह सम्भव न था कि वे भारतीयों की ऐसी कोई बात सहज में ही मान लें जिससे भारत के इस आर्थिक दोहन से होने वाले लाभ का अंग्रेजों के अंश में किसी प्रकार की कमी हो। किन्तु अन्ततोगत्वा अशिक्षित भारत के इस आर्थिक दोहन के कारण ही तो भारत के शिक्षित वर्ग में असंतोष फैल रहा था और फैलना अनिवार्य था। यह भी स्वाभाविक ही था कि इस असंतोष को व्यक्त करने वाली संस्था ऐसा विधान करे जिससे इस दोहन से अंग्रेजों को मिलने वाले लाभांश में कमी हो। यह ठीक है कि इस असंतोष को व्यक्त करने का काम उन लोगों ने ले लिया था जिनके निजी आर्थिक हित तथा सांस्कृतिक मनोवृत्ति अंग्रेजों से बँधी हुई थी और जो अंग्रेजी साम्राज्य को विधि का वरदान मानते थे। किन्तु अंग्रेजी साम्राज्य के गुणगान करते हुए भी उन लोगों के लिए यह अनिवार्य था कि वे यह प्रयत्न करें कि भारत के प्रशासन में उनका अपना हाथ अधिक हो। राष्ट्रीय भावना की बात को छोड़ भी दिया जाय तब भी इतना तो स्पष्ट है कि अपनी आत्म-गौरव की भावना के कारण भी उनके मन में यह विचार उठता था कि हर बात में अंग्रेजों के समान योग्य होते हुए भी उन्हें राजतंत्र से क्यों अलग रखा जाता है, शासन-व्यवस्था में क्यों उचित स्थान नहीं मिलता है? अतः वे चाहे अंग्रेजों के कितने ही एकनिष्ठ भक्त क्यों न हों उनके लिए यह करना अनिवार्य था कि भारतीय प्रशासन में भारतीयों का अर्थात् उनके अपने वर्ग वालों का भाग अवश्य हो। पर उनकी इस माँग से अंग्रेज जाति को मिलने वाले आर्थिक लाभ में कमी होती थी इसलिए अंग्रेज साम्राज्यवादी उसे सहज में ही मान न सकते थे। इस प्रकार आरम्भ से ही कांग्रेस और अंग्रेजी साम्राज्यवाद में अन्तर्विरोध वर्त्तमान तो था ही, अनिवार्य भी था। अतः यह भी आवश्यक था कि जैसे-जैसे समय बीते वैसे-वैसे कांग्रेस और अंग्रेजी सरकार में विरोध बढ़ता जाय।

यही हुआ भी। कांग्रेस का जन्म १८८५ में हुआ। दो वर्ष तक तो उसके सम्मेलनों में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के बड़े-बड़े कर्णधार भी दर्शक के नाते सम्मिलित होते रहे, किन्तु इन दो वर्षों के बाद ही अंग्रेजी नौकरशाही ने कांग्रेस से दूर रहना आरम्भ कर दिया और उसकी ओर वक्र भृकुटि से देखने लगी।

उधर कांग्रेस ने आरम्भ में जो प्रस्ताव स्वीकार किये उनमें सरकार से विनम्र शब्दों में भिक्षा प्रार्थना ही थी, किन्तु जब कांग्रेस की उतनी माँग के प्रति भी अंग्रेज सरकार ने उदासीनता तथा उपेक्षा भाव रखा तो कांग्रेस में भी कुछ असंतोष की मात्रा बढ़ी और उसकी माँगें भी बढ़ती गयीं। किन्तु चूँकि कांग्रेस में मुख्यत: वही लोग थे जो अंग्रेजी संस्कृति के दूध पर पले थे इसलिए अनेक वर्षों तक कांग्रेस भारत में अंग्रेजी नौकरशाही की आलोचना करते रहने पर भी इंगलैंड तथा अंग्रेजी जाति की भक्त बनी रही।

किन्तु शनैः शनैः कांग्रेस में ऐसे लोग भी सम्मिलित होने लगे थे जिनकी अंग्रेजों के प्रति वैसी आस्था न थी, जो अंग्रेजी संस्कृति को ही भगवान की सुन्दरतम कृति न मानते थे। यद्यपि ये लोग भी अंग्रेजी विद्यालयों में ही पढ़े थे, किन्तु अपने कौटुम्बिक सम्बन्धों या धार्मिक शृंखलाओं के कारण उनके मन में यह विचार बना रहा था कि भारत का दर्शनशास्त्र, भारत का साहित्य, भारत के धार्मिक आदर्श भी गौरवपूर्ण हैं। इनमें से कुछ तो यह भी मानते थे कि ज्ञान, विज्ञान के क्षेत्र में भारत की देन इंगलैंड की देन से कहीं अधिक है। अतः इन लोगों का यह विचार था कि दूसरा इंगलैंड बन जाने में ही भारत का कल्याण नहीं है। वे यह भी न मानते थे कि केवल विनयपूर्ण प्रस्तावों द्वारा अंग्रेजों से भिक्षा प्रार्थना करने से ही भारतीय अपनी कष्ट-बाधा से मुक्ति पा जायेंगे। इसके विपरीत ये लोग यह मानते थे कि भारतीयों को अंग्रेजों से कह देना चाहिए कि वे उसी सीमा तक अंग्रेजों से सहयोग करेंगे जहाँ तक कि अंग्रेज भारतीयों से भारत के कल्याण के हेतु सहयोग करने को तैयार हैं, अन्यथा वे अंग्रेजों का हर शान्त-पूर्ण तथा वैध तरीके से विरोध करते रहेंगे।

जैसा पहले भी कहा गया है, इन गरम दल के नेताओं में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय के नाम स्मरणीय हैं। यह आकस्मिक बात न थी कि ये तीनों नेता ही भारत की प्राचीन संस्कृति के महान् उपासक थे और भारत में उसकी विजय का स्वप्न देखते थे। इन लोगों का प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में बढ़ने लगा था और वे भारत के युवकों के हृदय-सम्राट बन गये थे। वह काल बाल, पाल और लाल का समय था। यह बात थी भी स्वाभाविक। इन नेताओं की वाणी से

भारत के युवकों का हृदय राष्ट्रीय गौरव से भर जाता था। पिछली शताब्दियों के लोगों की तरह उनके मन में यह ग्लानि उत्पन्न न होती थी कि उनका अपना पिछला इतिहास राष्ट्रीय अज्ञान तथा अस्वातन्त्र्य की गाथा मात्र है। इसलिए नत मस्तक होकर उन्हें इंगलैंड की संस्कृति, इंगलैंड के आदर्श स्वीकार कर लेने हैं। यद्यपि यह युवक वर्ग भी अंग्रेजी विद्यालयों में शिक्षा पा रहा था और अनजाने ही अंग्रेजियत के रंग में रंगा जा रहा था, किन्तु अपना मस्तक ऊँचा करने के हेतु, अपनी अहंमन्यता को पोषित करने के लिए उसके लिए यह आवश्यक था कि उसे यह विश्वास रहे कि वे बर्बरों की सन्तान न होकर संसार के सांस्कृतिक गुरुओं की सन्तान हैं। अतः गरमदल वालों का प्रभुत्व भारत के युवकों पर जम गया।

फलतः, कांग्रेस में दरार पड़ गयी। एक ओर तो कांग्रेस के वे पुराने नेतागण थे जो अंग्रेजी साम्राज्य में ही भारत का कल्याण समझते थे तथा जो अंग्रेजों की सदाशयता पर ही निर्भर करते थे, दूसरी ओर वे लोग थे जो भारत की अपनी संस्कृति के उपासक थे और नौकरशाही का स्पष्ट किन्तु वैध विरोध करने में किसी प्रकार की कष्ट बाधा सहने से पीछे हटने को तैयार न थे। इसका यह अर्थ नहीं है कि नरम दल वाले नौकरशाही की आलोचना या विरोध करने को तैयार न थे, वे भी आलोचना करते थे, पर उनकी यह मान्यता थी कि यह आलोचना ऐसी न हो कि उसके कारण अंग्रेजी जाति के हृदय को ऐसी ठेस लगे कि वह भारतीयों को अकृतज्ञ समझ बैठे और इस कारण भारत के प्रति अपनी सदिच्छा से विचलित हो जाय। वे मधुर शब्दों में तर्कपूर्ण रीति से अंग्रेजी नौकरशाही की त्रुटियों को बता देना चाहते थे और यह आशा रखते थे कि अपने मधुर किन्तु युक्तियुक्तपूर्ण तर्क से वे अंग्रेजों को इतना प्रभावित कर देंगे कि वे नौकरशाही की त्रुटियों को दूर कर दें। अतः नौकरशाही की आलोचना करते रहने पर भी ये नेतागण सरकारी पदाधिकारों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे साथ ही उनके आमोद-प्रमोद में सम्मिलित होते थे।

किन्तु उग्रदल वाले इस बात के मानने के लिए तैयार न थे कि अंग्रेजों की भृकुटि की ओर आँख लगाये रखकर ही वे अपनी आलोचना करें। उनका तो

यह आग्रह था कि वे सच बात कहेंगे चाहे वह अंग्रेजों को कितनी भी कड़वी क्यों न लगे। इसका यह अर्थ नहीं कि वे लोग शिष्टता की नीति को अच्छा न मानते थे। वे यह ठीक न समझते थे कि जनता पर अत्याचार होता रहे और वे शिष्टता की दुहाई देकर उस अत्याचार का भण्डाफोड़ भी न करें। वे यह जानते थे कि अत्याचार का भण्डाफोड़ होने से नौकरशाही अप्रसन्न होगी, रुष्ट होगी और सम्भवतः उन पर आघात भी करेगी, किन्तु नौकरशाही के इन आघातों को वे दृढ़ता से सहन करने के लिए तैयार थे। अत्याचार के विरुद्ध अपनी आवाज उठाने के कारण ही लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय को जेल तथा निर्वासन के कष्ट भोगने पड़े, किन्तु इन कष्टों से वे अपने व्रत से च्युत न हुए। फिर भी इन उग्रदल वालों में अधिकांश का अंग्रेजों से विरोध शाब्दिक ही था। वे अपने भाषणों या लेखों द्वारा ही अंग्रेजों की आलोचना करते थे। उनका यह आशय कभी न था कि खड्ग उठाकर अंग्रेजों से लड़ने के लिए जनता को प्रस्तुत करें या अंग्रेजी साम्राज्य से सर्वथा असहयोग करने के हेतु भारत के जनसाधारण को ललकारें। सम्भवतः इसी बात की ओर इशारा कर महाकवि अकबर ने लिखा कि—

"खींचो न कमानों को न तलवार सम्भालो।
जब तोप मुकाबिल हो तब अखबार निकालो॥"

स्पष्ट है कि ये उग्रदल वाले भी जन-क्रान्ति के अग्रणी न थे। जैसा पहले भी कहा गया है सच तो यह है कि इन लोगों का प्रभाव भी नगरों के कुछ युवकों तक ही सीमित था, ग्राम्य प्रदेशों में इनकी वाणी पहुँच न पायी थी। साथ ही ये लोग भी अपनी सारी कार्रवाई उसी विधि तथा उसी न्याय प्रक्रिया की सर्वोपरिता को मानकर ही करते थे। यद्यपि वे स्वराज्य चाहते थे, किन्तु उस स्वराज्य का ढाँचा भी अंग्रेजी राज्य प्रणाली के अनुसार ही होना था। अतः यद्यपि वे लोग अंग्रेजी संस्कृति के अन्धभक्त न थे, पर जहाँ तक अंग्रेजी राजनैतिक परम्परा का प्रश्न था वहाँ तक वे उसे अपनाने के विरुद्ध भी न थे।

उग्र और नरम दल वालों के पारस्परिक मनो-मालिन्य के कारण कांग्रेस १९०६ से लेकर १९१६ तक कुछ पंगु-सी रही। कुछ दिनों तक राजनीतिक

आन्दोलन की बागडोर भी कांग्रेस से भिन्न कुछ हिंसात्मक क्रान्तिकारी संस्थाओं के हाथ में चली गयी।

सन् १९१६ में उग्र और नरम दल वाले नेता दोनों ही लखनऊ कांग्रस में सम्मिलित हुए। वहाँ उन्होंने मुसलमानों की लीग से मिलकर एक समझौता भी किया जिसके आधार पर भारत का नव शासन-विधान बनना था, किन्तु तब तक भी कांग्रेस अंग्रेजी शिक्षित वर्ग की ही थी।

मैं पहले दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार १९१९ में महात्मा गान्धी के नेतृत्व के कारण यह शिक्षित वर्ग का क्लब भारतीय जनसाधारण की क्रान्तिकारी संस्था बन गयी। उस समय और तत्पश्चात् भारत के विभिन्न हित तथा विभिन्न वर्ग इस संस्था में सम्मिलित हो गये।

उस समय जमींदार, साहूकार, व्यापारी, पेशेवर, किसान, श्रमिक सभी अपने-अपने वर्गजन्य हितों का विचार छोड़कर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने को कांग्रेस के झंडे के नीचे आकर खड़े हो गये। इस प्रकार कांग्रेस प्रथम बार अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रभावी और संयुक्त मोर्चा होगयी। इतना ही नहीं। उसके झंडे के तले वे लोग भी आये जो विश्वास करते थे कि भारत का कल्याण भारत की प्राचीन संस्कृति के पुनर्जीवित करने में है, वे लोग भी आये जो यह मानते थे कि भारत का कल्याण दूसरा इंगलैंड बनने में है, वे लोग भी आये जो भारत को दूसरा रूस, या दूसरा जापान, या दूसरा जर्मनी या दूसरा आयर्लैण्ड बनाना चाहते थे। इस झंडे के तले वे लोग भी थे जो भारत में पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था रखना चाहते थे और वे लोग भी आये जो भारत में साम्यवादी व्यवस्था कायम करना चाहते थे। इन सब वर्गों वाले, सब विचार वाले लोगों ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध सफलता से संघर्ष करने के लिए अपने पारस्परिक विभेदों को उस समय तक के लिए भुना दिया था जब तक कि अंग्रेज भारत से निकाल न दिये जायें। इस प्रकार कांग्रेस भारत की सर्वाधिक शक्तिशाली और देश-प्रिय सस्था हो गयी। यह सत्य है कि कांग्रेस में कुछ ऐसे व्यक्ति सम्मिलित हुए, जिनके चरित्र के विषय में प्रश्नसूचक चिह्न लगाया जा सकता है। पर इस विषय में लार्ड मार्ले ने जो कुछ कहा था वह ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा था—"सम्भवतः कांग्रेस में ऐसे व्यक्ति भी

सम्मिलित हैं जिनके चरित्र के सम्बन्ध में सन्देह किया जा सकता है, पर अधिकांश जन-आन्दोलनों में इस प्रकार के लोग सम्मिलित रहते ही हैं।" यह कहना अनुचित नहीं है कि सन् १६१६ के पश्चात् भारत के हृदय की स्वामिनी कांग्रेस ही थी चाहे भारत के शरीर का मालिक अंग्रेजी साम्राज्यवाद क्यों न रहा हो। जहाँ तक जनता के लिए सम्भव था वह कांग्रेसजन को आर्थिक सहायता देती थी, सम्मान देती थी और सहायता देती थी। जैसे अंडे के खोल के भीतर नव-प्राणी का विकास होता रहता है और एक दिन वह उस खोल को तोड़कर मुक्त हो जाता है उसी प्रकार अंग्रेजी साम्राज्यवाद के ढाँचे के अन्दर इस नयी राज्य-शक्ति का विकास हो रहा था। १४ अगस्त की मध्य रात्रि को वह उस ढाँचे को तोड़कर मुक्त हो गयी। भारत की सत्ता कांग्रेसजनों के हाथ में आयी। किन्तु अपने ध्येय प्राप्ति के, अपनी चरम सफलता के इस सुन्दरतम क्षण में ही कांग्रेस के भविष्य का प्रश्न पैदा हो गया; इतिहास ने उसे चुनौती दी।

सर्वप्रथम तो यह था कि अपनी पूर्ण विजय के इस पुनीत क्षण में कांग्रेस अपनी महान् राज्य-शक्ति का प्रयोग किस रीति से करे। यद्यपि अंग्रेज भारत से जा रहे थे तथापि अंग्रेजी साम्राज्यवाद के छोटे भागीदार अर्थात् अंग्रेजी साम्राज्य के समय के भारतीय राजकर्मचारी, सैनिक, पुलिस वाले तो भारतीय राज्यतन्त्र के प्रधान आधार ज्यों के त्यों बने रहने ही थे। अतः प्रश्न यह था कि क्या कांग्रेस राज्यतन्त्र के इन आधारों को, इन इन्द्रियों और अंगों को बना रहने दे या अपने-अपने स्थान से अपदस्थ कर दे। इन साम्राज्य सेवकों ने अंग्रेजों के इशारों पर भारत के जनसाधारण तथा राष्ट्र सेवकों पर अनेक अत्याचार किये थे, उन्हें अनेक यातनायें दी थीं। अपनी रोटी एवं अपने आराम के लिए उन्होंने अपने को देश के विरोधियों के हाथ बेच दिया था। कांग्रेस सोचने लगी कि क्या इन्हीं लोगों को स्वतन्त्र भारत के राज्यतन्त्र का आधार तथा कर्मेन्द्रिय बना रहने दिया जाय? कांग्रेस के नेताओं ने यही उचित समझा कि पिछली बातों को भुला दिया जाय, लोगों के देशद्रोह को क्षमा कर दिया जाय। स्मरण रहे कि बापू का संघर्ष व्यक्तियों के विरुद्ध न था, वह अंग्रेजी साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध था। वे यह मानते थे कि

उस साम्राज्यवादी व्यवस्था की जकड़ में पड़ जाने के कारण ही इन व्यक्तियों ने सारे अपराध किये थे, उस व्यवस्था के समाप्त हो जाने पर इन लोगों के लिए भी बाध्यतायें न रहेंगी, जिनके वशीभूत होकर ये लोग जनसाधारण पर अत्याचार करते थे। अतः ठीक नीति यही है कि साम्राज्यवादी व्यवस्था के कारण किये गये अपराधों के लिए उन्हें दण्डित न किया जाय वरन् उनके उन अपराधों को भुला दिया जाय, उन्हें क्षमा कर दिया जाय। कांग्रेस के नेताओं ने इसी उदार नीति को अपनाया और इन लोगों को ही राज्यतन्त्र का आधार बना रहने दिया। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि इस नीति को अपनाने के कारण कांग्रेस के नेताओं के लिए यह सम्भव न रहा कि वे उस राजनैतिक शक्ति को भी सक्रिय रख सकें जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश के ग्राम-ग्राम तथा नगर-नगर में पैदा हो गयी थी और जिसने अंग्रेजी राज्यतन्त्र के मुकाबले में कांग्रेसी या राष्ट्रीय राज्यतन्त्र देश में खड़ा कर दिया था। अंग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा स्थापित इस राजतन्त्र को अपना लेने के कारण वे इस राष्ट्रीय या कांग्रेसी राज्यतन्त्र को उसी प्रकार सक्रिय और शक्तिशाली न रहने दे सकते थे जैसे कि वह अंग्रेजी साम्राज्य के दिनों में था। यदि वे ऐसा करते तो देश में दो समानान्तर राज्यतन्त्र तथा राज्य-शक्ति बने रहते और उन दोनों में पारस्परिक संघर्ष की सम्भाव्यता रहती। अतः अंग्रेजी साम्राज्यवाद के राज्यतन्त्र तथा अंग्रेजी साम्राज्यवाद के भारतीय सेवकों को अपनाने पर कांग्रेस के नेताओं को कांग्रेसी राज्यतन्त्र एवं राष्ट्रीय राज्यतन्त्र के सेवकों का सहारा और साथ छोड़ देना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि जो लोग कांग्रेसी राज्यतन्त्र की सेवा में लगे हुए थे और जनता की स्वेच्छा से की गयी आर्थिक सहायता से अपना पेट भर रहे थे अपना सेवा-कर्म खो बैठे, दर-दर के भिखारी बन गये। मैं यह जानता हूँ कि यदि ये लोग चाहते तो अपने नेताओं के विरुद्ध उठ खड़े हो सकते थे और उनको अपदस्थ करने का प्रयास कर सकते थे, किन्तु जिन लोगों ने अपने देश की सेवा में अपने को पहले ही मिटा दिया था उन लोगों ने इस क्षण में भी अपने निजी हित के लिए देश में किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं की। उन्होंने राजनैतिक और आर्थिक आत्मघात को स्वीकार किया। उन्होंने अपने हृदय पर पत्थर रख यह देखा कि स्वराज्य के इस

सुन्दरतम क्षण में वे लोग पनप रहे हैं, फूल रहे हैं, जिन्होंने सर्वदा स्वराज्य सेवकों को सताया, जलील किया। उन्होंने देखा कि देश-द्रोहियों की तनखाहें चौगुनी-अठगुनी हो रही हैं, उनका ऐश्वर्य बढ़ रहा है, उनकी पदोन्नति हो रही है, किन्तु उन्होंने उफ न की, उन्होंने अपने नेताओं के विरुद्ध क्षोभ तक प्रकट न किया और चुपचाप हर प्रकार की अकिंचनता स्वीकार कर ली। संसार के इतिहास में ऐसे स्वार्थ-त्याग का उदाहरण कहीं नहीं मिलता। इसके विपरीत संसार के इतिहास में अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं कि राज्य-शक्ति हाथ में आने पर उसे अपने-अपने हाथ में लेने के लिए किस प्रकार क्रान्तिकारियों में ही पारस्परिक संघर्ष हुआ है और उन्होंने गाढ़े समय के अपने ही साथियों के सर कलम कर दिये हैं। इसीलिए तो यह कहावत बन गयी है कि क्रान्तियाँ अपनी सन्तान का ही भक्षण कर लेती हैं। किन्तु भारत में तो वे लोग नेता बने रहे, जिन्होंने अंग्रेजी साम्राज्यवाद के सेवकों को अपना साथी बना लिया और राष्ट्रीय सेवकों को बेकार कर दिया। यह अनोखी बात इसलिए नहीं हुई कि भारत के राष्ट्र-सेवक भीरु या कापुरुष थे। यह बात इसलिए हुई कि उन्होंने मिट जाना सीखा था और स्वराज्य के इस सुन्दरतम समय में भी वे मिट जाने से विमुख होना नहीं चाहते थे। अतः जिन लोगों ने अपने तन-मन को अंग्रेजों के हाथ बेचा था और जीवन भर देश-द्रोह किया था उन लोगों की जिह्वा से जब मैं सफेद टोपी वालों के सम्बन्ध में व्यंगोक्ति सुनता हूँ तो मेरा हृदय खेद तथा क्षोभ से भर जाता है। क्या ये लोग यह नहीं समझते कि कांग्रेसजनों ने अपना जीवन बिछाकर उन लोगों को अपने पदों पर रहने दिया है? क्या ये लोग यह गर्व किये बैठे हैं कि इनकी चातुरी तथा बुद्धि के बिना भारत डूब जाता? क्या इन लोगों ने इस सत्य को नहीं पहचाना है कि इस पैंतीस करोड़ के देश में स्तालीन जैसे अनेक रैदासपुत्र और माओ जैसे अनेक कृषक पुत्र मिल जा सकते हैं, जो उनके समान ही देश की नैया को सफलता से खे सकें।

मैं यह जानता हूँ कि कांग्रेसजनों में से कुछ लोग इस त्याग को शान्ति से नहीं कर पाये हैं। कुछ कांग्रेसजन तो उतनी ही शक्ति के लिए खींचतान कर रहे हैं, जो साम्राज्यवाद के इस राज्यतन्त्र को अपनाने के पश्चात् कांग्रेस

तन्त्र में बची रह गयी है। किन्तु इस प्रकार की कशमकश तथा खींचतान पूर्णतः स्वाभाविक है, भले ही वह वांछनीय न हो। उस खींचतान की ओर संकेत कर कांग्रेसजनों के चरित्र को दोषपूर्ण एवं पतित बनाना भारी अन्याय है।

साथ ही यह भी न भूल जाना चाहिए कि कांग्रेस में इस प्रकार की खींचतान इस वजह से होनी ही थी, क्योंकि कांग्रेस एकमत वालों की संस्था कभी न थी। जैसा पहले ही कहा जा चुका है वह तो अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा थी। अतः जब अंग्रेज चले गये तो उसकी एकता की सूत्रता भी टूट गयी। उसमें विचारों और आदर्शों के आधार पर परस्पर विरोध और फूट होनी अनिवार्य हो गयी। इस फूट का दुःख मुझे नहीं है। यह तो देश की राजनैतिक सजगता का चिह्न है। यदि मुझे खेद है तो इस बात का कि कांग्रेस का कोई दल यह दावा करे कि स्वराज्य उसी के बल से मिला। स्वराज्य कांग्रेस के बल से मिला, यह मैं मानता हूँ, किन्तु उस समय कांग्रेस में सभी विचार के लोग थे, भले ही उनमें आधुनिक राजनैतिक शब्दावलि में कुछ लोग प्रगतिवादी रहे हों, कुछ प्रतिक्रियावादी। इन सब के सम्मिलित त्याग, सम्मिलित शक्ति, सम्मिलित साधना से स्वराज्य प्राप्त हुआ। अतः आज कांग्रेस के किसी दल को यह शोभा नहीं देता कि वह इस सत्य को भुलाकर स्वराज्य प्राप्ति का सारा श्रेय अपने ही लिए ले ले। यदि यह सम्भव होता कि स्वराज्य प्राप्ति के दिन कांग्रेस देवता के मन्दिर में प्रतिष्ठित करके विभिन्न राजनैतिक दल बना लिये जाते तो सम्भवतः वह बात देश की स्वस्थ राजनैतिक प्रगति के लिए कल्याणकर होती। इसी विचार से गान्धीजी तक ने अपनी मृत्यु के दो-तीन दिन पहले यह कहा था कि कांग्रेस का राजनैतिक स्वरूप समाप्त कर उसे लोक सेवक समाज नामक संस्था का रूप दे देना उचित होगा। परन्तु इस विषय पर पूर्ण-रीति से विचार होने के पूर्व ही गान्धीजी चल बसे। वे यह सदा कहा करते थे कि सत्य और अहिंसा इन दो सिद्धान्तों को छोड़ शेष जो बातें वे कहते हैं वे समय और स्थिति के अनुसार परिवर्त्तनशील हैं। श्री महादेव भाई देसाई ने भी अपनी डायरी में गान्धीजी के इस कथन का उल्लेख किया है इसीलिए किसी आन्दोलन के समय जब बापू जेल में जाकर पराधीन हो जाते और उस समय यदि जेल की मुलाकात आदि में उनसे कोई पूछता

कि अमुक-अमुक बात के सम्बन्ध में क्या किया जाय तो वे सदा यही कहते कि जब मैं किसी विषय का नेतृत्व करने में स्वतन्त्र नहीं तब जो नेतृत्व कर रहे हैं उन्हें मैं कोई सलाह नहीं देना चाहता अतः वे जो उचित समझें करें। गान्धीजी ने कांग्रेस के राजनैतिक रूप की समाप्ति के लिए अवश्य कहा था, पर उनके बाद जो नेता रहे उन्होंने समय और स्थिति के अनुसार कांग्रेस को राजनैतिक संस्था ही बनाये रखना उचित समझा। जिन परिस्थितियों में उस समय देश था और आज भी है उसे देखते हुए शायद यही बात ठीक भी थी।

अंग्रेजों ने जाते समय देश के हृदय को पूरी तरह चीर दिया था। देश के दो प्रमुख धार्मिक सम्प्रदायों में पारस्परिक द्वेष और संघर्ष इतना बढ़ गया था कि स्वराज्य के इस महानतम क्षण में भारत के अनेक स्थानों में मानव वीभत्स पशुओं के समान बालक, बूढ़े, औरत, मर्द का ध्यान छोड़कर एक दूसरे के टुकड़े-टुकड़े कर रहे थे। अतः यह परमावश्यक था कि उस समय तथा उसके बाद भी जैसी परिस्थिति रही उसमें देश में वह राजनैतिक संस्था बनी रहे जिस पर जनता का विश्वास एवं भरोसा था; भले ही उस संस्था में किसी प्रकार के आन्तरिक विभेद पैदा होने क्यों न आरम्भ हो गये हों। अतः इतिहास की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए कांग्रेस राजनैतिक दल के रूप में बनी रही। किन्तु साथ ही यह बात भी अनिवार्य थी कि कालान्तर में कांग्रेस में दरार पड़नी आरम्भ हो। ऐसा ही हुआ भी। समाजवादी दल वाले कांग्रेस से पहले अलग हुए फिर कुछ ऐसे लोग अलग हुए जो यद्यपि गान्धीवादी थे, किन्तु जिन्हें अन्य कांग्रेसजनों के प्रति श्रद्धा नहीं रही थी। सन् १९५२ के निर्वाचन के दिनों में तो जिन कांग्रेस के सदस्यों को कांग्रेस का टिकट नहीं दिया गया उनमें से कुछ कांग्रेस से इसी बात पर अलग हो गये, किन्तु इन सब भाइयों के अलग हो जाने पर भी देश के कांग्रेस के लगभग निन्यानवे प्रतिशत लोग कांग्रेस में ही बने रहे। दूसरे शब्दों में कांग्रेस के अग्रणियों में से ही कुछ लोग कांग्रेस से अलग हुए, अधिकांश साधारण कार्यकर्त्ता उसी के साथ रहे। पर जैसे-जैसे समय व्यतीत हो रहा है कांग्रेस के इन साधारणजनों में भी किसी न किसी रूप में विभेद पैदा हो रहे हैं और कांग्रेस अधिक शक्तिशाली होने के बजाय कुछ दुर्बल ही हो रही है।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के सफलता से समाप्त हो जाने तथा स्वराज्य प्राप्त कर लेने के दिन कांग्रेस के समक्ष यह दूसरा प्रश्न था कि वह इस प्रकार मिली राज्य-शक्ति को किस ओर लगाये। कांग्रेस ने १९३१ में ही भारतीय भावी राज्य और समाज-तन्त्र की रूप-रेखा बनाली थी और यह प्रतिज्ञा की थी कि वह ऐसे भारत के निर्माण के लिए प्रयत्नशील रहेगी। किन्तु भारत की सर्वाधिक प्रतिनिधिक और शक्तिशालिनी संस्था होने पर भी उसने यह उचित समझा कि कांग्रेस के सब अन्य दलों एवं लोगों को इस बात का पूरा अवसर दिया जाय कि वे भारत के भावी रंग-रूप के बारे में अपने विचार भी रखें। स्वभावतः किन ध्येयों की प्रगति के लिए राज्य-शक्ति का प्रयोग किया जाय यह प्रश्न स्वमेव पैदा हो गया।

मैंने अन्यत्र यह बताया है कि गान्धीजी का उपदेश भारत के पुरातन सेवा धर्म का ही दूसरा रूप था इसलिए गान्धीजी के उपदेश में भारतीय आत्मा प्रतिध्वनित थी। किन्तु स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् गान्धीजी के सब उपदेशों के प्रति उन्हीं लोगों को शंका-सी होने लगी जो अब तक अपने को गान्धीजी का साथी या अनुयायी कहते रहे थे। गान्धीजी यह चाहते थे कि देश का शासन ठाटबाट पर आश्रित न होकर ठोस सेवा-धर्म पर आश्रित हो, किन्तु दुर्भाग्यवश इस बात को अधिक महत्त्व न दिया गया। सम्भवतः यह समझा गया कि राजत्व के क्षेत्र में सन्त लोगों के रहन-सहन का ढंग न तो अपनाया जा सकता है और न अपनाना वांछनीय ही है। राजत्व में तो कुछ ठाटबाट करना अनिवार्य ही है। अतः कांग्रेसजन भी उन्हीं ठाटबाट के बंगलों और तथा महलों में रहने लगे जिन्हें अंग्रेजों ने भारतीय जनता पर अपनी धाक जमाने के हेतु बनवाये थे और उसी प्रकार की सवारी, उसी प्रकार की सजावट, उसी प्रकार की आरायश की अपेक्षा करने लगे जैसी कि अपेक्षा अंग्रेज शासक करते थे। इस प्रकार राज्य-शक्ति किसी सीमा तक नये शासकों की धाक बैठाने के लिए प्रयोग में आने लगी। मेरा अपना यह विचार है कि यह नीति ठीक नहीं थी। भारतीय राष्ट्र-सेवकों के प्रति तो जनता के हृदय में पहले से ही अपार श्रद्धा थी। अतः चाहे ये भारतीय राष्ट्र-सेवक महलों में रहते, चाहे कुटियों में उनके आदेशों का पालन करने में, उनके लिए अपना जीवन तक उत्सर्ग कर देने में

भारतीय जनता लेशमात्र न हिचकिचाती । संभवतः यह ठाटबाट इसलिए आवश्यक समझा गया कि विदेशी लोगों और विशेषतः विदेशी दूतों के मन में भारत के प्रति उचित आदर एवं श्रद्धा की भावना पैदा हो । यह भी हो सकता है कि यह ठाटबाट इसलिए भी रखा गया, जिससे कि भविष्य में प्रशासकों को जनता पर अपनी धाक जमाने में कठिनाई न हो, इन प्रशासकों के प्रति जनता की वैसी श्रद्धा और विश्वास न हो जैसा कि भारतीय राज्यक्रांति के सफल सेनानियों के प्रति है । अतः यदि अभी से यह परम्परा बना दी गयी कि भारतीय राजनायक पूर्णतः ठाटबाट विहीन रहें तो इन भावी प्रशासकों को जनता में अपनी धाक बैठाने में पर्याप्त कठिनाई होगी । किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यह नीति भारी भ्रम पर आश्रित है । सच्ची जनसेवा से जनता के हृदय में जो स्थान मिलता है वह ठाटबाट से कभी नहीं मिल सकता । अतः स्वतन्त्र भारत के लिए तो यही नीति उचित होती कि क्या राष्ट्रपति, क्या मन्त्रिगण, क्या सचिववर्ग सभी अत्यन्त सादा जीवन व्यतीत करते और यथासम्भव भारत के साधारणजनों के जीवन से हिल-मिल जाते । ऐसा करने से वे राज्य-शक्ति को किसी सीमा तक अपने स्थान को बनाये रखने के लिए प्रयोग करने के बजाय पूर्णतः देश के लिए कल्याणकारी रचनात्मक कार्यों में लगा देते तो उनके और जनता के बीच इतना ऐक्य पैदा हो जाता कि शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने में उन्हें राज्य-शक्ति का अधिक प्रयोग न करना पड़ता ।

ठाटबाट पर राज्य की धाक को किसी सीमा तक आश्रित कर देने का यह दुःखद परिणाम हुआ है कि साधारण जनता और भारत के राजनायकों में किसी सीमा तक भेद पैदा हो गया है । जब तक भारत के वर्तमान राजनायक सादा जीवन बिताते थे और जनता की सेवा में रत थे तब तक जनता उनके इशारों पर चलती थी, किन्तु जब ये राजनायक अंग्रेजों द्वारा खाली की गयीं कोठियों में रहने लगे और अंग्रेजों द्वारा ही उपयुक्त आरायशों का भोग करने लगे तब यह स्वाभाविक ही था कि भारत के जनसाधारण के मन में उनके प्रति अधिक आस्था न रहे । यदि आज कांग्रेस के राजनायक देश के कृषकों तथा श्रमिकों में जन-सेवा करने के हेतु ज़ोश की लहर नहीं दौड़ा पाते तो उसका एक कारण यह ठाटबाट की नीति प्रतीत होता है । भारत की अपार

जन-शक्ति का इसी कारण वैसा सदुपयोग नहीं हो पा रहा है जैसा कि अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करने में हुआ था। स्मरण रहे कि स्वतन्त्रता के युद्ध में भारत के पास अपनी जन-शक्ति के अतिरिक्त और कुछ न था, किन्तु इसी जन-शक्ति की बहुलता इतनी थी कि इसके सामने हर प्रकार से शस्त्र-सज्जित साम्राज्य भी थर्रा गया और उसने हार मानली। किन्तु स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् इस जन-शक्ति का विस्मरण-सा कर दिया गया। फल यह हुआ कि जो अनेकानेक रचनात्मक कार्य हमारे सामने पड़े हुए थे उनको शीघ्रता से पूरा करने के लिए हम उस जन-शक्ति का प्रयोजन अभी तक नहीं कर पाये हैं। अतः एक ओर तो हमारी जितनी राज्य-शक्ति है उसमें से कुछ हमें व्यर्थ में इस ठाटबाट की नीति में लगानी पड़ी है और दूसरी ओर इस नीति के कारण हम अपनी जन-शक्ति का भी पूरा उपयोग नहीं कर पा रहे हैं।

देश के लगभग सब दलों की सम्मति से हमने यह निर्णय किया है कि स्वतन्त्र भारत की राज्य-शक्ति भारत में कल्याणकारी राज्यतन्त्र स्थापित करने और चलाने के लिए लगायी जाय। कल्याणकरी राज्यतन्त्र की दुहाई यूरोप में बीसवीं शताब्दी में आरम्भ हुई। उससे पूर्व यूरोप में यह विचारधारा प्रचलित थी कि राज्यतन्त्र का प्रयोजन केवल समुदाय में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखना ही है। कल्याणकारी राज्यतन्त्र से ऐसा राज्यतन्त्र अभिप्रेत होता है जो अपने नागरिकों की हर प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए समुचित प्रबन्ध करे। अर्थात् वह अपनी राज्य-शक्ति एवं आर्थिक साधनों से जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका, यातायात इत्यादि-इत्यादि का समुचित प्रबन्ध करे। इस कल्याणकारी राज्यतन्त्र का गठन दो प्रकार का हो सकता है। एक प्रकार का गठन तो यह है कि इन सारे कार्यों को राज्यतन्त्र स्वयं अपने आप ही करे और दूसरा गठन इस प्रकार का हो सकता है कि वह समुदाय में ऐसी व्यवस्था रखे जिसमें इन सब कार्यों को करने के लिए उचित लोगों द्वारा संगठित संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र में पूरी सफलता तथा स्वतन्त्रता से कार्य कर सकें। प्रथम कथित प्रकार से संगठित राज्यतन्त्र में शक्ति इतनी केन्द्रित हो जाती है कि व्यक्ति या व्यक्ति समूहों के लिए अपनी निजी प्रतिभा तथा

सूझबूझ से कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता नहीं रहती ; जीवन का सर्वेसर्वा राज्यतन्त्र ही हो जाता है। इस प्रकार के राज्यतन्त्र को कुछ लोग तानाशाही राज्य-व्यवस्था भी कहते हैं, किन्तु उनका ऐसा कथन पूर्णतः ठीक नहीं होता, क्योंकि तानाशाही के पीछे जन-हित की अवहेलना और उपेक्षा की जो भावना होती है वह इस प्रकार के राज्यतन्त्र में नहीं होती। इस प्रकार का राज्यतन्त्र भारत में कभी नहीं रहा और वह भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल है। ऐसा राज्यतन्त्र स्थापित करने का प्रयास तभी सफल हो सकेगा जब जनमत की चिन्ता न करके बलपूर्वक इस प्रकार का राज्यतन्त्र कायम किया जाय। दूसरे प्रकार का राज्यतन्त्र स्थापित करने का आदर्श प्राचीन भारत में अवश्य वर्त्तमान था। उपनिषदों के युग में भी विदेहराज जनक ने यह बात साग्रह कही कि उनके राज्य में कोई चोर, कोई वेश्यागामी नहीं हैं। अशोक ने तो राज्य-व्यवस्था को धर्म विजय के लिए लगा ही दिया था। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि अनेक शताब्दियों पूर्व भारत में यह राजनैतिक आदर्श मान लिया गया था कि राज्यतन्त्र जनकल्याण के लिए होता है। किन्तु साथ ही जनकल्याण के सब कार्य उस समय राज्यतन्त्र स्वयं अपने हाथ में न ले बैठा था। इसके विपरीत उसका तो केवल यह कर्त्तव्य था कि वह उन परिस्थितियों या समाज धर्म को बनाये रखे जिनमें विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ अपने-अपने कृत्य सफलता से सम्पादन कर सकें। विद्या के लिए राज्य सहायता अवश्य देता था, किन्तु उस पर उसका अपना कोई नियंत्रण न था। वह तो आचार्यों के ही हाथ में थी। इसी प्रकार व्यापार, उद्योग के क्षेत्र में भी राज्य स्वयं कोई हस्तक्षेप न करता था। उनका नियंत्रण स्वयं इन्हीं क्षेत्रों में गठित श्रेणियों द्वारा होता था। पर राज्य का यह कर्त्तव्य अवश्य था कि वह व्यापार धर्म का अतिक्रम न होने दे। दूसरे शब्दों में संगठित समाजतन्त्र के सुचारु रूप से चलने देने को ही राज्यतन्त्र का अस्तित्व था। इसी प्रकार के आदर्श राज्यतन्त्र को रामराज्य की संज्ञा प्रदान की जाती थी। राजा को समाज का वेतनभोगी भृत्य माना जाता था और उसका यह परम कर्त्तव्य माना जाता था कि वह धर्म के अनुकूल आचरण रखे। हमारे देश के जन-साधारण में राज्यतन्त्र के प्रति यह विचार अभी तक बना हुआ है। अतः

कल्याणकारी राज्यतन्त्र का आदर्श हमारे देशवासियों के लिए कोई नया आदर्श नहीं है। किन्तु जिन शब्दों में तथा जिस भाषा में हम इस आदर्श को अपनी जनता के सामने रख रहे हैं वह उनको बिलकुल अनजानी और विदेशी-सी लगती है। हमने कल्याणकारी राज्य के लिए जिन संस्थाओं को अपनाया है उनमें भी विदेशीपन का इतना रंग है कि लोग यह नहीं समझ पा रहे हैं कि वे सब उनके ही हित के हेतु हैं। अतः इस आदर्श की पूर्ति के लिए हम अपनी जनता में वैसी स्फूर्ति, वैसा उत्साह नहीं पैदा कर पा रहे हैं जैसी की आवश्यकता है। साथ ही हमने इस आदर्श की पूर्ति के लिए उपकरण और साधन राष्ट्र-सेवकों को न बनाकर वेतनभोगी साहबों को बनाया है। फल यह हुआ है कि इन साहबों के प्रति जनता का वह साहचर्य्य और सहृदयता नहीं है जो इसकी सफलता के लिए आवश्यक है।

हम समाज-कल्याण के सब कामों को राज्य-शक्ति द्वारा और स्वयं राज्यतन्त्र द्वारा ही करने का भी प्रयास कर रहे हैं। यह ठीक है कि आधुनिक युग में आर्थिकतन्त्र इतना विशालकाय होगया है कि उद्योग विशेष को कोई एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समूह सफल नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ रेल की व्यवस्था एक व्यक्ति के बूते की नहीं चाहे वह कितना ही बड़ा साहूकार क्यों न हो और न वह कुछ व्यक्तियों द्वारा गठित कम्पनी द्वारा ही की जा सकती है। साथ ही औद्योगिक तन्त्र के कार्य करने का ढंग कुछ ऐसा है कि यदि वह कुछ इने-गिने व्यक्तियों के स्वामित्व में ही रहे तो यह सम्भावना रहती है कि इने-गिने लोग जनता के निरंकुश शोषक तथा तानाशाह बन बैठें। अतः आधुनिक युग में यह कुछ अनिवार्य-सा है कि आर्थिकतन्त्र और राज्य-तन्त्र में गठबन्धन हो। किन्तु इस गठबन्धन का रूप क्या हो इस बारे में अनेक मत हैं और हो सकते हैं। अतः यह बात विचारणीय है कि क्या हमारा राज्यतन्त्र स्वयं ही ये सब काम करे या कार्य विशेष के लिए ही गठित संस्था द्वारा ऐसा प्रत्येक काम कराये। मुझे ऐसा लगता है कि हमने इस सम्बन्ध में उतना विचार नहीं किया है जितना आवश्यक है और हम उसी प्रवृत्ति पर चल रहे हैं जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने इस बारे में अपनायी थी। भारत का पूर्णतः शोषण करने के हेतु अंग्रेजों ने यहाँ के अनेक औद्योगिक कार्य राज्यतन्त्र

द्वारा करने आरम्भ कर दिये थे और स्वराज्य मिलने के समय ये कार्य भारतीय राज्यतन्त्र द्वारा किये जा रहे थे। अन्य उद्योगों को अपने हाथ में लेते समय भी हमने लगभग उसी नीति का सहारा लिया। यह ठीक है कि जिस समय मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ उस समय कुछ उद्योगों के लिए विशेष संस्थाएँ संगठित की गयी हैं, किन्तु आज भी इन संस्थाओं का राज्यतन्त्र से कैसा सम्बन्ध हो इस बारे में कुछ स्पष्ट मत नहीं बन पाया है।

इस कल्याणकर व्यवस्था की स्थापना में कांग्रेसजन महान् कार्य कर सकते थे, किन्तु इस कार्य के करने में उन्हें कोई विशेष भाग नहीं सौंपा गया। फल यह हुआ कि आज भावी भारत के निर्माण में कांग्रेसजन का कोई अधिकृत भाग नहीं है। यदि आज उनका सारा काम निर्वाचन जीतने तक ही सीमित रह गया है तो इसमें आश्चर्य या आपत्ति करने की बात ही क्या है।

इतिहास भी कैसे परिहास किया करता है। कांग्रेस ने स्वराज्य के लिए आन्दोलन चलाया और इस आशा तथा आकांक्षा से सब कष्ट-बाधाएँ सहीं कि राज्य-शक्ति हाथ में आने पर वह भारत का नया रूप रंग बनायेगी। किन्तु राज्य-शक्ति हाथ में आने पर संसद् और विधान सभाओं को छोड़कर कांग्रेसजन के हाथ में उस नवनिर्माण का कोई कार्य न रहा। आज ग्रामों तथा नगरों में भारत के नवनिर्माण का काम सब प्रभावशाली अंग्रेजी साम्राज्यवाद के अनुचरों एवं परिचारकों के हाथ में है। कांग्रेसजन उन कार्यों का न तो सूत्रपात कर सकते हैं और न संचालन। अधिक से अधिक संसदों और विधान सभाओं में जाकर उस नवनिर्माण के कार्य में कुछ हाथ बटा सकते हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि जो कांग्रेसजन राज्य-शक्ति के मोह से सर्वथा मुक्त हैं और केवल भारत के नवनिर्माण में अपना अंशदान करना चाहते हैं वे भी संसद् और विधान सभाओं में जाने के लिए प्रयत्नशील हैं। यथार्थ में उनसे अन्य रीति से कार्य करने के साधन छीन लिये गये हैं।

मैं समझता हूँ कि स्वतन्त्र भारत में निर्वाचन जीतने के अतिरिक्त एक ही और कार्य कांग्रेस के हाथ में रह गया है। वह कार्य यही है कि वह उन लोगों को जनता की आँखों के सामने लाये जिनमें राजनैतिक नेतृत्व की योग्यता है। किन्तु यह कार्य अच्छा भी है और अहितकर भी। अच्छा तो

इस दृष्टि से है कि लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि योग्य राजनीतिज्ञ बराबर जनता के समक्ष आते रहें। यह कार्य सफलता से ऐसी संस्था ही कर सकती है जिसका संगठन देशव्यापी है और जो प्रदेश, भाषा, सम्प्रदाय या पंथ विशेष तक ही सीमित नहीं है। कांग्रेस ऐसी संस्था है। इस लिए वह भूतकाल के समान ही आगे भी भारतीय जननायकों के निर्माण और प्रकट होने का प्रभावशाली साधन बनी रहेगी। किन्तु इसका अहितकर परिणाम यह है कि यह संस्था राजनैतिक स्पर्धा का अखाड़ा बन जायगी। राजनीति शक्ति प्राप्ति करने का साधन है। अतः सब राजनीतिज्ञ शक्ति की चाहना रखते हैं। यह दूसरी बात है कि वह उस शक्ति का प्रयोग करना चाहते हैं। अतः सब राजनैतिक दल एक प्रकार से शक्ति-संघर्ष में अखाड़े होते हैं। जब तक स्वराज्य आन्दोलन के लिए संघर्ष हो रहा था तब तक शक्ति बटवारे का प्रश्न ही नहीं था। अतः उस समय तक कांग्रेस उस सीमा तक शक्ति-संघर्ष का अखाड़ा न बनी थी। किन्तु अब तो वह शक्ति अर्जन का प्रभावशाली माध्यम है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि वह अब राजनैतिक स्पर्धा तथा संघर्ष का अखाड़ा बन जाय।

स्वतन्त्र भारत में कांग्रेस ने अब तक एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वह समस्त देश में एकता का सूत्र रही है। उसने जन क्षेत्र में तो एकता रखी ही है साथ ही राज्यतन्त्र को भी एक बनाये रखा है। भारत अनेक प्रादेशिक राज्यों में बटा हुआ है, किन्तु इन सबमें कांग्रेस दल का ही प्रभाव रहा है अतः बड़ी सरलता से केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों में मतैक्य स्थापित किया जा सका है। मैं समझता हूँ कि अभी अनेक वर्षों तक कांग्रेस इस महत् कार्य को करती रहेगी।

गान्धीजी की हत्या

सन् ४७ की १५ अगस्त को भारत के स्वतन्त्र होने के बाद की दो अक्टूबर को चर्खा जयन्ती के दिन गान्धीजी नयी दिल्ली में ही थे। नोआखाली से वे कुछ ही दिन पहले लौटे थे और भंगी कालोनी में निवास कर रहे थे। केन्द्रीय असेम्बली का अधिवेशन चल रहा था और मैं इस समय दिल्ली में ही था। उनके अन्य अनुयायियों के सदृश मैं भी उन्हें जन्म-दिवस की बधाई देने भंगी कालोनी पहुँचा, अपनी पत्नी के साथ। तीसरा पहर था। जवाहरलालजी उनके कक्ष से निकल रहे थे उसी समय हम लोगों ने उनके कक्ष में प्रवेश किया। जैसा पहले कहा है मेरी पत्नी को वे अपनी धर्म-पुत्री मानते थे। कई वर्षों के बाद मेरी पत्नी उनसे मिलने गयी थीं अतः बापू ने बड़े प्रेम से उनका और मेरा स्वागत किया। उस समय उनके कक्ष में उनके और हम दोनों के सिवा और कोई न था। बापू कई बार कहा करते थे कि वे सवा सौ वर्ष की अवस्था तक जीना चाहते हैं अतः हम दोनों ने जाते ही उन्हें उनके जन्म-दिवस पर बधाई दी और इस बधाई कि बाद मैंने कहा कि भगवान आपको सवा सौ वर्ष जीवित रखे और जिस प्रकार इस देश को आपने स्वतन्त्र किया है उसी प्रकार अपने जीवन-काल में आप इसे समृद्धिशाली भी बनादें।

बापू आज सदा के समान प्रफुल्लित न थे, कुछ उदास से, कुछ अनमने से थे। मेरी बात का उत्तर उन्होंने केवल एक छोटे से वाक्य में दिया—"नहीं गोविन्ददास, अब मैं नहीं जीना चाहता।"

हम दोनों ही कुछ अवाक् से रह गये और कुछ विस्मित होकर मैंने कहा, "क्या कह रहे हैं, आप बापू ?"

आगे का संभाषण कुछ इस प्रकार चला—

वे बोले—"एक तो आजकल मेरी कोई सुनता नहीं, दूसरे आज एक ऐसी बात हुई जिससे अब मैंने जीने की अपनी इच्छा छोड़ दी।"

"कैसी बात ?"

"तुम जानते हो आजकल शक्कर की कितनी कमी है। पर ऐसी हालत में भी जो राजेन्द्रबाबू मुझे सबसे ज्यादा जानता है उस राजेन्द्रबाबू ने भी मेरी सालगिरह मनाने को लड़कों के लिए मिठाई बाँटने का इन्तजाम किया था। जब मैंने यह सुना तब मुझे तो बड़ा गुस्सा आया और मैंने राजेन्द्रबाबू से कह दिया कि पहले मुझे यहाँ से उठाकर कहीं पटक आओ तब मिठाई बाँटना।" मेरी पत्नी की ओर देखकर वे आगे बोले, "अब तब जब मैं अपने गुस्से को नहीं रोक सकता तब जीने से फायदा ?"

मेरी पत्नी ने मुस्कराते हुए कहा—"एक छोटी सी बात पर आप कितनी बड़ी बात कहते हैं, बापू।"

"पर जिन्दगी में छोटी बातों पर ही सबसे ज्यादा सँभाल रखनी चाहिए। और बड़ी बातों में भी जैसा मैंने अभी कहा आजकल मेरी कोई बात नहीं सुनता।"

आगे संभाषण इसलिए रुक गया कि सरदार वल्लभभाई पटेल और उनके साथ अन्य लोग आगये।

बापू के चरण स्पर्श कर हम लोगों ने प्रस्थान किया। अपने ३ नम्बर कैनिंग लेन बँगले में पहुँचने तक हम दोनों बापू की इस बात पर खूब हँसते रहे कि संसार का सबसे बड़ा व्यक्ति ऐसी छोटी-छोटी बातों को भी कितना महत्त्व देता है। इसके बाद भी कई बार हम लोगों की इस प्रसंग पर चर्चा होती रही।

× × ×

जनवरी सन् ४८ में फिर से केन्द्रीय असेम्बली का अधिवेशन आरम्भ हुआ। दिल्ली में प्रायः मेरी पत्नी मेरे साथ जाया करती थीं, पर इस बार कुछ कारणों से वे मेरे साथ न थीं। जनवरी की तीस तारीख को तीसरे पहर संसद् भवन में वैदेशिक विभाग की कमेटी पं० जवाहरलालजी के कक्ष में हो रही थी। इस विभाग की कमेटी का कांग्रेस-दल का मैं संयोजक था और इस कमेटी में जवाहरलालजी तथा कमेटी के अन्य सदस्यों के साथ मैं भी उपस्थित था। पाँच बजे के लगभग एकाएक बिरला हाउस से फोन आया कि गान्धीजी पर गोली चली। सब लोग अपनी सारी सुधबुध भूलकर जिसके पास

जो सवारी थी उसमें बैठ बिरला हाउस पहुँचे। मैं भी उनमें से एक था। गान्धीजी का प्राणान्त हो चुका था और हमें उनके शव के ही दर्शन हुए। किस प्रकार यह सब हुआ था इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं। वे सारी बातें विश्वविख्यात हैं और इस घटना से सारा विश्व एक बार जिस प्रकार काँप उठा था वह भी किसी से छिपा नहीं है। इस हत्या की तुलना भगवान श्रीकृष्ण और जीसस क्राइस्ट की हत्याओं से ही की जा सकती है।

यहाँ मैं केवल उस समय की अपनी मानसिक भावनाओं का ही उल्लेख करना चाहता हूँ। गान्धीजी के शव को एकटक देखते हुए एक पर एक कितनी बातें मेरे मन में उठीं।

ऐसे महानतम जीवन का क्या यही उचिततम अन्त था ? मेरे मन ने कहा कि ऐसे महानतम जीवन का शायद इससे अधिक महान् अन्त सम्भव न था। हर प्राणी इस सृष्टि में कुछ काल के लिए ही आता है। जो जन्मा है उसका मरण अवश्यम्भावी है। इस मर्त्य लोक में न कोई अमर हुआ, न कभी होगा। भगवान के अवतार, ऋषि, मुनि, तपस्वी, सन्त भक्त, दार्शनिक, विज्ञानी कोई भी सदा नहीं रहा। भारतीय संस्कृति में, जो धर्मप्राण संस्कृति है, जीवन के साथ मरण को भी समान महत्त्व दिया गया है और हमारे यहाँ दो प्रकार की मृत्युओं को ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है या तो योग की समाधि में या युद्ध में। गान्धीजी अपने सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए जो एक प्रकार का युद्ध कर रहे थे उस युद्ध में उन्हें वीर-गति प्राप्त हुई थी। और जब मेरे मन में उनके इस युद्ध की कल्पना उठी उस समय उनका सारा जीवन एक फ़िल्म के सदृश मेरे नेत्रों के सामने से घूम गया। उन्होंने स्वयं अपनी जीवन-गाथा लिखी थी। श्री महादेव भाई ने, जो उनके निकटतम व्यक्ति थे, उसका अंग्रेजी अनुवाद किया था तथा उसका अंग्रेजी नाम रखा था "माई एक्सपेरिमेन्ट्स विथ ट्रुथ"। यथार्थ में गान्धीजी को सत्य के ये तजुरबे जीवन भर एक प्रकार का नहीं पर न जाने कितने प्रकार के युद्ध करते-करते हुए। और चूँकि ये युद्ध सत्य को पहचानने के लिए अहिंसा के द्वारा लड़े गये इसलिए इन युद्धों में प्रलय के साथ सृष्टि भी कितनी हुई ? नाश के साथ निर्माण भी कितना हुआ ? गान्धीजी का स्वयं का निर्माण ! उनके देश का निर्माण ! उनके देश

के हर क्षेत्र के जीवन का निर्माण ! विश्व के लिए ठीक रास्तों का निर्माण ! और इस सब के लिए न जाने कितने तथा कितने प्रकार के व्यक्तियों का निर्माण ! और जब मेरे मन में व्यक्तियों के निर्माण की बात उठी तब मैं अपनी ओर ही देखने लगा । मेरे सदृश एक क्षुद्र व्यक्ति के निर्माण में भी उनका कितना हाथ था ! और जब मैं यह सोचने लगा तब मुझे उनके गत जन्म दिवस पर उनकी कही हुई एक बात याद आयी । उन्होंने मेरी पत्नी से कहा था—"जिन्दगी में छोटी बातों पर ही सबसे ज्यादा खयाल रखना चाहिए ।" इसीलिए शायद उन्हें क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्तियों के निर्माण का भी इतना खयाल रहता था । यहाँ तक कि इतने बड़े-बड़े महत्त्वशाली कार्यों को करते हुए भी वे अपने छोटे-से-छोटे अनुयायियों को अपने कितने सन्निकट रखने का यत्न करते ! उनके सुख-दुख के कितने साझीदार रहते ! अरे उन्हें स्वयं हाथ से पत्र तक लिखते ! मुझे भी उन्होंने सदा अपने हाथ से ही पत्र लिखे ।

आधुनिक युग में संसार ने गान्धी के अतिरिक्त अन्य किस ऐसे प्रलयंकर और साथ ही सृष्टिकारी व्यक्ति को उत्पन्न किया है ?

उस दिन रात्रि को जब मैंने फोन से अपनी पत्नी से बात की तब उन्हें उनके गत जन्म-दिवस की बात याद आये बिना न रही जिस पर हम लोग उस दिन इतना हँसे थे । तो क्या सचमुच ही गान्धीजी अपनी इच्छा से ही जीवित थे और जब उनकी जीने की इच्छा न रही तब वे चल दिये ! कौन ऐसी बातों का रहस्य समझ पाया है ।

मेरी पत्नी को गान्धीजी ने धर्म-पुत्री माना था । इस राष्ट्रपिता के निधन का उन्हें तो अपने पिता के निधन के सदृश ही शोक हुआ ।

यह घटना देश और संसार के लिए जिस प्रकार का वज्रपात थी हमारे लिए भी ।

× × ×

गान्धीजी के शव का जुलूस दिल्ली का एक अभूतपूर्व दृश्य था ! कितना जनसमूह इकट्ठा हुआ था इस जुलूस में ! दिल्ली आने वाले हर रेल, सड़क, पगडंडी आदि मार्ग से जनता दौड़ती हुई आ रही थी । रेलों के डब्बे ही न भरे

थे पर डब्बों की छतों पर भी तिलमात्र जगह खाली न थी। और किस प्रकार का क्रन्दन कर रहा था यह जन-समुदाय, मानो हर व्यक्ति का निकटतम आत्मज चल बसा हो ! यही तो था गान्धीजी के राष्ट्रपिता होने का सबसे बड़ा प्रमाण !

१२ फरवरी को प्रयाग में उनका अस्थि-प्रवाह और भारत के प्रत्येक पवित्र तीर्थ में उनका भस्म प्रवाह हुआ। कैसे वे दृश्य थे १२ फरवरी के भी ! जबल-पुर से ६ मील पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान त्रिपुरी में जहाँ सन् ३६ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था, पवित्र नर्मदा में भी उनकी भस्म का प्रवाह किया गया। कितना बड़ा जन-समुदाय जबलपुर से ६ मील पैदल त्रिपुरी गया था और कितनी जनता जमा हुई थी—आस-पास के स्थानों से ! क्या जीवन में कभी भी उन दृश्यों को भुलाया जा सकता है ? भारत के ये पवित्र तीर्थ उस पवित्र शरीर की पवित्र भस्म से और पवित्र हो गये।

महाकोशल शहीद स्मारक

सन् ४२ के स्वतन्त्रता-युद्ध में जेल जाने के पश्चात् जब मैं जेल से छूटा था उस समय कुछ कार्यों को करने का संकल्प करके आया था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनमें से एक काम था महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के उस प्रस्ताव को कार्य रूप में परिणित करना जिसमें यह कहा गया था कि महाकोशल की राजधानी जबलपुर में सन् २० से अब तक के स्वतन्त्रता-युद्धों में शहीद होने वाले शहीदों का एक शानदार स्मारक बनाया जाय। इस स्मारक के लिए सर्वप्रथम मैंने लगभग दो लाख रुपये के चन्दे के वचन लिये जिसमें करीब डेढ़ लाख रुपया एकत्रित भी हो गया। इस चन्दे की रकम में हजारों से लेकर एक-एक रुपया देने वाले दाताओं की रकम भी शामिल थी। कुछ साथियों के साथ मैंने पैदल घूम-घूमकर यह चन्दा एकत्रित किया था और इस घुमाई में किसी-किसी दिन तो दस-दस मील तक मुझे पैदल चलना पड़ा था। जबलपुर म्यूनिसिपैलिटी ने इस इमारत के लिए जबलपुर नगर के सबसे सुन्दर स्थल गोलबाजार के बीच का कोई दस एकड़ का गोल मैदान दे दिया जिसकी कीमत आज के बाजार भाव से पाँच लाख से कम न थी। और इस सारी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने एक प्रस्ताव कर पृथक् ट्रस्ट डीड लिखवा दिया। इस ट्रस्ट के ट्रस्टी थे—पं० रविशंकरजी शुक्ल, पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र, श्री घनश्यामसिंहजी गुप्त, महन्त लक्ष्मीनारायण दास, सेठ हीर जी भाई और मैं। मुझे इस ट्रस्ट का सभापति और मैनेजिंग ट्रस्टी बनाया गया। ट्रस्टियों ने मध्य प्रदेश की सरकार को लिख सरकार के आरकीटैक्ट श्री करजगांवकर से इस गोल बाजार के गोल प्रांगण में एक भव्य गोलाकार भवन का मानचित्र बनवाया और तय किया कि इस भवन का शिलान्यास कांग्रेस अध्यक्ष के हाथ से कराया जाय। भवन बन जाने पर भवन में सन् १८५७ से अब तक के स्वातन्त्र्य-संग्राम के भिन्न-भिन्न अवसरों के भिन्न-भिन्न दृश्यों के चित्र बनाने का निर्णय किया गया और भवन में

अजायबघर, पुस्तकालय एवं एक सांस्कृतिक केन्द्र खोलने का निश्चय हुआ।

जब आचार्य कृपलानीजी कांग्रेस के सभापति थे उस समय उनसे निवेदन किया गया कि वे इस भवन का शिलान्यास करें। उन्होंने इस कार्य के लिए अपनी स्वीकृति भी दे दी, परन्तु उन्हें समय न मिल सका। आगे चलकर जब डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी कांग्रेस-अध्यक्ष हुए तब उनसे इस सम्बन्ध में प्रार्थना की गयी और उन्होंने ता० २८ अक्टूबर सन् १९४८ को इस काम के लिए जबलपुर आने का कार्यक्रम बनाया।

शिलान्यास की बड़ी भव्य तैयारी आरम्भ हुई। शिला के पाषाण पर खोदने के लिए अवसर के अनुकूल एक कविता रच कर भेजने के लिए राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त से निवेदन किया गया। उन्होंने चार पंक्ति की सुन्दर कविता भेजी। इस कविता के साथ शिला के पाषाण पर जो कुछ लिखा गया वह इतना सुन्दर हो गया कि उस कविता को यहाँ उद्धृत करने के अपने लोभ का मैं संवरण नहीं कर सकता—

आते रहें स्मरण हमको, वे मरण जई निज जन मानी।
मातृभूमि की परवसता की, पीर जिन्होंने थी जानी॥
उनकी परम्परा अक्षय हो, जो दधीचि से बलिदानी।
वही जाति है, वही ज्योति है, वही पुनीत पवन पानी॥

इस कार्य के लिए जब राजेन्द्रबाबू जबलपुर पधारे तब मध्य प्रदेश के उस समय के राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा और मध्य प्रदेश का पूरा मन्त्रि-मण्डल भी जबलपुर आया। इन मेहमानों के अतिरिक्त प्रान्त के प्रधान-प्रधान कांग्रेसजन और शहीद स्मारक के दानदाता तथा अन्य अनेक प्रतिष्ठित सज्जनों ने भी आने की कृपा की। श्री राजेन्द्रबाबू के इस अवसर पर हमारे अतिथि होने के कारण राजा गोकुलदास महल में दो दिन बड़ी चहल-पहल रही।

शिलान्यास के लिए एक सुन्दर मण्डप बनाया गया जहाँ शिलान्यास के अवसर पर अपार भीड़ इकट्ठी हुई। शिलान्यास शास्त्रोक्त विधि से पण्डितों ने कराया।

कांग्रेस-अध्यक्ष ने हमारी इस योजना को बहुत पसन्द किया। उन्होंने अपने भाषण में हमारी सारी योजना का समर्थन किया। अन्य प्रान्तों को भी

सलाह दी कि वे इस प्रकार के कार्य करें और प्रान्तीय सरकार से कहा कि वे इस कार्य में पूर्ण सहायता प्रदान करें।

जिस समय यह शिलान्यास हो रहा था उस समय एक बात और मेरे मन में बार-बार उठती थी—क्या बनने के बाद यह शहीद स्मारक हमारी भावी पीढ़ी के मन में वैसी ही भावनाएँ भरने में समर्थ हो सकेगा, जैसी भावनाएँ चित्तौड़ का विजय-स्तम्भ भरता है ?

शिलान्यास के इस उत्सव के पश्चात् डाक्टर साहब हमारे सांस्कृतिक केन्द्र के संरक्षक बन गये।

दूसरे दिन हमारे प्रदेश के राज्यपाल ने इस समारोह के साथ होने वाली प्रदर्शनी का उद्घाटन किया।

जबलपुर में होने वाले समारोहों में शहीद-समारक भवन के इस शिलान्यास का समारोह अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

कांग्रेस-सभापति के इस अवसर पर आने का अन्य संस्थाओं ने भी लाभ उठाया। जबलपुर में कई आयोजन हुए।

इस शिलान्यास के अवसर पर कांग्रेस-सभापति ने प्रान्त की कांग्रेस सरकार को इस काम में सहातता देने की जो सलाह दी थी उसके अनुसार प्रान्तीय सरकार ने एक बार पाँच लाख रुपये, दूसरी बार दो लाख रुपये और तीसरी बार दो लाख रुपये—इस प्रकार नौ लाख रुपये की हमारे ट्रस्ट को सहायता देने की कृपा की है। इस महान् सहायता के लिए मैं अपने प्रान्त के मन्त्रि-मण्डल को और उस मन्त्रिमण्डल में विशेषकर पं० रविशंकरजी शुक्ल एवं पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र को जितना भी धन्यवाद दूँ उतना थोड़ा है। बिना इस सहायता के यह कार्य सम्पन्न होना कठिन ही नहीं असम्भव था।

जबलपुर के सबसे सुन्दर स्थान पर यह भव्य भवन बनकर अब तैयार हो गया है। हमारे प्रान्त में तो ऐसी इमारत कहीं भी नहीं है, पर हमारे प्रान्त के अलावा समूचे देश में ही बहुत कम इमारतें इस कोटि की होंगी। इस भवन के मुख्य हाल में अब शान्ति निकेतन के कलाकारों द्वारा स्वतन्त्रता के युद्ध की चित्रकारी भी की गयी है। ये चित्र ऐसे वैज्ञानिक बोर्डों पर चित्रित किये गये हैं जो कई हजार वर्षों तक सुरक्षित रहेंगे, ऐसा वैज्ञानिकों का मत है।

भवन में अजायबघर, पुस्तकालय, रंगमंच और सांस्कृतिक केन्द्र के खोलने की व्यवस्था भी की जा रही है सारी व्यवस्था हो जाने के बाद इस भवन का उद्घाटन हमारे प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलालजी नेहरू के कर-कमलों द्वारा होगा।[1]

१. इसका उद्घाटन सन् ५६ में जवाहरलालजी नेहरू द्वारा हो गया है।

संविधान सभा

स्वतन्त्र भारत का संविधान तैयार करने के लिए जिस प्रकार संविधान सभा का निर्माण हुआ था उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस संविधान सभा की पहली बैठक ता० ९ दिसम्बर सन् ४६ को बुलायी गयी।

देश के विभाजन का प्रश्न इस समय जोरों से उठा हुआ था यद्यपि इस सम्बन्ध में अब तक कोई निर्णय नहीं हुआ था अतः मुस्लिम लीग की टिकिट पर चुने हुए सदस्य संविधान सभा की इस बैठक में नहीं आये।

संविधान सभा के स्थायी सभापति के चुनाव के पहले की कार्रवाई चलाने के लिए सदस्यों में सबसे वयोवृद्ध सदस्य सभापति का काम चलायें यह निर्णय हुआ था और इस निर्णय के अनुसार बिहार के डाक्टर सच्चिदानन्दसिंह सभापति नामजद किये गये।

ता० ९ दिसम्बर को संविधान सभा की पहली बैठक संसद् भवन के केन्द्रीय हॉल में हुई जो हाल कुछ लाख रुपया लगाकर इस बैठक के लिए पहले से तैयार कर लिया गया था।

यद्यपि मुस्लिम लीग की टिकिट पर चुने गये प्रतिनिधियों के न आने के कारण संविधान सभा खण्डित-सी जान पड़ती थी, पर इन मुस्लिम सदस्यों के न आने की वजह से संविधान बनाने का कार्य रोका जाना ठीक नहीं समझा गया जो सर्वथा उचित बात थी।

सारे भारतीय राज्य का एक छत्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त प्रजातन्त्रात्मक संविधान के निर्माण का यह आरम्भ महान् ऐतिहासिक अनुष्ठान था और कितने आनन्द तथा उल्लास से हम सब लोग वहाँ इस सर्वोपरि महत्तम कार्य के लिए एकत्रित हुए? किन-किन के हृदय में किस-किस तरह की भावनाएँ भरी हुई थीं उस दिन। मैं तो भावनाप्रधान व्यक्ति हूँ ही। धड़कते हुए मन, पुलकित तन और सजल नयन मैंने उस दिन उस भवन में प्रवेश किया। तो······तो······सचमुच ही मेरी जन्म-भूमि स्वतन्त्र हो रही

थी और उस स्वतन्त्र मातृभूमि का प्रजातन्त्रात्मक संविधान बनाने हम वहाँ एकत्रित हुए थे। यह स्वप्न नहीं वास्तविकता थी, सम्पूर्ण वास्तविकता। बार-बार अनेक प्रकार और अनेक रूप से ये भाव मेरे हृदय तथा मस्तिष्क में उठ नहीं उमड़ रहे थे उमड़ !

पहले दिन कुछ बधाई के रस्मी भाषण हुए, होने ही चाहिए थे ऐसे महान् शुभ दिन ! इसके बाद ता० ११ दिसम्बर के लिए सभा का अधिवेशन स्थगित हो गया जिस दिन सभा के स्थायी सभापति का चुनाव होना था। चूँकि इस पद के लिए एक ही नाम प्रस्तावित हुआ था इसलिए श्री सच्चिदानन्दसिंह ने ता० ११ को सभा के बैठते ही घोषित कर दिया कि देशरत्न डॉक्टर राजेन्द्र-प्रसादजी सर्वमत से संविधान सभा के सभापति निर्वाचित हुए। कैसा जयघोष हुआ इस घोषणा पर !

ता० १३ दिसम्बर को पं० जवाहरलालजी नेहरू ने संविधान सभा के उद्देश्य और कार्य के सम्बन्ध में पहला प्रस्ताव उपस्थित किया। इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टण्डन ने। कैसे भाव और तर्क-पूर्ण मार्मिक भाषण थे दोनों के। इस प्रस्ताव पर कई दिन तक बहस हुई। ता० १७ को मैं भी इस प्रस्ताव पर बोला। इस प्रस्ताव पर की बहस बड़े ऊँचे स्वर पर हुई। पर चूँकि मुस्लिम सदस्य अनुपस्थित थे इसलिए इस प्रस्ताव की बहस ता० २१ दिसम्बर को अगले अधिवेशन के लिए मुल्तवी कर दी गयी।

इस प्रस्ताव के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न कामों के लिए संविधान सभा की कुछ उपसमितियाँ नियुक्त हुईं।

संविधान बनाने के लिए कई उपसमितियाँ बनी थीं, कुछ इस अधिवेशन में और फिर जैसे-जैसे जरूरत पड़ी।

इनमें मुख्य दो ही समितियाँ थीं—

१. संविधान का मसौदा तैयार करने वाली समिति। इसके अध्यक्ष थे डॉ० अम्बेदकर।

२. अल्पमतों के विषय में राय देने वाली समिति।

इसके सभापति थे सरदार पटेल। मैं भी इसका एक सदस्य था। कहना

नहीं होगा कि मुसलमानों और सिक्खों के लिए संरक्षित स्थान न रखे जाने का सारा श्रेय इस समिति को है और इस समिति में भी प्रधानतया इसके सभापति को। इस समिति के अधिवेशनों में अनेक बार ऐसा अवसर आया कि जान पड़ता था कि मुसलमानों और सिक्खों के लिए स्थान संरक्षित किये जायेंगे। पर लौह-पुरुष के रूप में सरदार जो मौजूद थे। वे टस से मस न हुए।

इन समितियों में से सभा के काम चलाने को नियम बनाने के लिए जो कमेटी नियुक्त हुई थी उसकी रिपोर्ट ता० २३ दिसम्बर को सभा के सम्मुख उपस्थित की गयी। सभा का काम चलाने में मुख्यतः किस भाषा का उपयोग हो यह प्रश्न ता० २३ को ही मैंने उठा दिया। भाषा विषयक संघर्ष का एक प्रकार से यही आरम्भ था। इसके बाद संविधान निर्माण के सारे कार्य में बार-बार अनेक रूप से भाषा का प्रश्न उठता रहा, टलता रहा और अन्त में इसका निर्णय संविधान निर्माण के प्रायः सारे कार्य समाप्त होने पर लगभग तीन वर्ष के बाद १४ सितम्बर सन् ४९ को हुआ। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि सारे संविधान निर्माण में भाषा का विषय सर्वोपरि महत्त्व का विषय रहा और सारे संविधान के निर्माण के कार्य में देश की जनता का ध्यान भी सबसे अधिक इसी विषय की ओर आकर्षित रहा।

संविधान सभा का यह पहला अधिवेशन ता० २३ दिसम्बर को समाप्त हुआ। इसके बाद दो छोटे-छोटे अधिवेशन हुए—एक ता० २० जनवरी सन् ४७ से ता० २५ जनवरी सन् ४७ तक और दूसरा ता० २८ अप्रैल सन् ४७ से ता० २ मई सन् ४७ तक। इन दोनों अधिवेशनों में उपसमितियों का कुछ काम चलता रहा और कोई महत्त्वपूर्ण कार्य इसलिए नहीं हुआ कि देश के विभाजन और अंग्रेजों का बिदा होकर देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न चल रहा था। मुस्लिम सदस्य इन दोनों अधिवेशनों में भी अनुपस्थित रहे।

सभा का चौथा अधिवेशन ता० १४ जुलाई सन् ४७ को आरम्भ हुआ। अब वायुमण्डल साफ हो गया था। देश का विभाजन और अंग्रेजों की बिदा होकर ता० १५ अगस्त को देश का स्वतन्त्र होना तय हो चुका था।

इस अधिवेशन में पहले कुछ उपसमितियों की रिपोर्टें आयीं और ता० २९

जुलाई को हमारे राष्ट्र का झंडा कैसा हो इस सम्बन्ध में पण्डित नेहरू ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया। मैंने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। इस प्रस्ताव पर भी नेहरूजी का भाषण बड़ा मार्मिक रहा, मेरा भी शायद कम नहीं। कितनी घटनाएँ याद आयीं मुझे इस तिरंगे झंडे के नीचे स्वराज्य प्राप्त करने के प्रयत्नों की। अपने इस भाषण में मैंने सन् २२ की जवाहरलालजी के पिता मोतीलालजी को जबलपुर म्यूनिसिपैलिटी की ओर से मान-पत्र देने के अवसर पर जबलपुर के टाउनहॉल पर इस झंडे के फहराने और उसके बाद नागपुर में झंडा सत्याग्रह होने की घटनाओं का भी उल्लेख किया। स्मरण रहे सार्वजनिक भवन पर तिरंगा पहले-पहल जबलपुर के टाउनहॉल पर ही सर्वप्रथम सन् २२ में फहराया गया था। इस पर लंदन में हाउस ऑफ कामन्स में प्रश्न हुआ था और उस समय के भारत-मन्त्री ने वहाँ आश्वासन दिया था कि भविष्य में ऐसी घटना कभी न होने पायेगी। कभी न होने की बात आज कहाँ थी ? आज तो वही तिरंगा स्वतन्त्र भारत का झंडा बनने जा रहा था। जबलपुर की उस घटना के कारण ही कदाचित् मुझे इस प्रस्ताव का अनुमोदन करने के लिए बुलाया गया था।

सभा का यह अधिवेशन ३१ जुलाई को समाप्त हुआ।

पाँचवाँ संविधान सभा का अधिवेशन ता० १४ अगस्त ४७ से ता० ३० अगस्त ४७ तक हुआ और छठवाँ केवल १ दिन २७ जनवरी सन् ४८ को। ये दोनों अधिवेशन उपसमितियों की कुछ कार्रवाइयों को स्वीकृत करने के लिए हुए।

सभा का जो सातवाँ अधिवेशन ४ नवम्बर सन् ४८ से आरम्भ हुआ यथार्थ में संविधान बनाने का कार्य इस अधिवेशन से शुरू हुआ। डाक्टर अम्बेदकर की अध्यक्षता में संविधान का मसौदा बनाने के लिए संविधान सभा की जो मुख्य उपसमिति बनी थी उसकी रिपोर्ट ता० ४ नवम्बर को डाक्टर अम्बेदकर ने उपस्थित की। डाक्टर अम्बेदकर के इस प्रस्ताव पर एक लम्बी बहस हुई। यह बहस बौद्धिक बहस थी, जोशीली बहस नहीं। मैंने भी ता० ५ को एक लम्बा भाषण इस बहस में दिया। इसके बाद संविधान की एक-एक धारा पर वाद-विवाद, सुधार आदि आरम्भ हुए।

ता० २४ नवम्बर सन् ४७ को इस वाद-विवाद में थोड़ी गरमी आगयी, जब निर्देशों के अध्याय में गोरक्षा और गौसंवर्धन भी जोड़ा जाय यह प्रश्न उठा। यथार्थ में ता० २४ नवम्बर के बहुत पहले ही यह सवाल उठ गया था। मैंने ही इस विषय को उठाया था। जब संविधान में हर महत्त्वपूर्ण विषय का किसी न किसी प्रकार उल्लेख हो रहा था या होने वाला था तब इस देश की दृष्टि से गाय के सदृश महत्त्वपूर्ण विषय का संविधान में समावेश क्यों न हो, मैंने कहा। संविधान सभा के सदस्यों में से कई ने मेरा समर्थन किया; इनमें पं० ठाकुरदासजी भार्गव मुख्य थे। संविधान सभा के बाहर के भी कुछ महानुभावों ने हमारी सहायता की। इनमें बम्बई के श्री मानकर और पंजाब के श्रीहरदेवसहाय प्रधान थे। श्री ठाकुरदासजी ने इस विषय में एक धारा का मसौदा बनाया। मैंने जरा उससे बढ़-चढ़कर एक धारा बनायी, खासकर इस लिए कि मेरी धारा के कारण कम से कम भार्गवजी की धारा तो स्वीकार हो जाय। पार्टी मीटिंग में भार्गवजी की धारा स्वीकार कर ली गयी, पर मैं अपना सुधार भार्गवजी की इस धारा पर संविधान सभा में रख सकता हूँ, इस की मुझे इसलिए इजाजत दे दी गयी कि यह प्रश्न मेरी अन्तरात्मा (कान्शन्स) से सम्बन्ध रखता था। २४ नवम्बर को संविधान सभा में इस विषय पर बहस हुई। मेरा आज का भाषण बुरा तो नहीं था, पर बहुत अच्छा भी नहीं। इससे कई दर्जे कहीं अच्छा मैं गोरक्षा पर इसके पहले बोल चुका था और इस के बाद भी बोला हूँ। इसका कारण कदाचित् यही था कि मैं अपनी धारा भार्गवजी की धारा स्वीकृत हो जाय इस उद्देश्य से रख रहा था। उसके पीछे वह ईमानदारी नहीं थी जो किसी विषय पर मर्म लाने के लिए आवश्यक होती है। मेरी धारा स्वीकृत नहीं हुई, पर भार्गवजी की होगयी।

सभा का यह अधिवेशन ८ जनवरी सन् ४९ तक चला।

आठवाँ अधिवेशन हुआ ता० १६ मई से १६ जून तक। इस अधिवेशन में भी संविधान की भिन्न-भिन्न धाराएँ चलती रहीं।

सभा का नवाँ अधिवेशन ता० ३० जुलाई सन् १९४९ से आरम्भ हुआ। मेरी दृष्टि से यह अधिवेशन सब अधिवेशनों से महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि भाषा का प्रश्न जो लगातार टलता आरहा था, और जो मेरा संविधान सभा का

मुख्य विषय था, वह इस अधिवेशन में हल हुआ।

ता० १२ सितम्बर को ४ बजे संध्या को भाषा विषयक धाराएँ ली गयीं। ये स्वीकृत हुईं ता० १४ सितम्बर की रात्रि को। मेरा इस विषय पर ता० १२ को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ। इस विषय का इस पुस्तक में पृथक् रूप से ही निरूपण किया गया है, क्योंकि मैं अपने जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण कामों में एक काम इसे भी मानता हूँ।

इसी अधिवेशन में ता० १७ सितम्बर को संविधान का मूल रूप हिन्दी में हो इस पर मैं बोला।

और इसी अधिवेशन में देश का नाम भारत रखा जाय इस पर ता० १८ सितम्बर का मेरा भाषण हुआ।

ता० १८ सितम्बर को यह अधिवेशन समाप्त हुआ।

सभा का दसवाँ अधिवेशन ता० ६ अक्टूबर सन् ४९ से १७ अक्टूबर तक हुआ जिसमें संविधान की रही हुई धाराएँ स्वीकृत हुईं।

ता० ४ नवम्बर सन् ४९ से ता० २६ नवम्बर तक संविधान सभा का ग्यारहवाँ अधिवेशन हुआ, जिसमें मुख्यतः संविधान का तृतीय वाचन हुआ। इस पर भी ता० १७ नवम्बर को मैंने एक लम्बा भाषण दिया, जिसमें मैंने संविधान सभा के सारे कार्य के सिंहावलोकन का प्रयत्न किया।

ता० २४ जनवरी सन् ५० को केवल एक दिन का संविधान सभा का बारहवाँ अन्तिम अधिवेशन हुआ।

देश के राष्ट्रपति-पद पर डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी का चुनाव हो चुका था। उन्हें संविधान के निर्माण तथा उनके चुनाव पर बधाई देकर संविधान पर समस्त सदस्यों के हस्ताक्षर होने का कार्य ही इस अधिवेशन का कार्य था।

एक महान् यज्ञ के पश्चात् आज यज्ञ के अवभ्रत स्नान का दिन था। सदियों के बाद भारत की पुण्य-भूमि स्वतन्त्र हुई थी और उस भगवान की परम प्रिय भूमि का, जिस पर स्वयं भगवान अवतार लेते हैं, आज प्रजा-तन्त्रात्मक संविधान बनने का कार्य समाप्त होने जा रहा था। आज से अधिक महत्त्व का इस प्राचीन और साथ ही नवीन भारत का और कौनसा शुभ दिन हो सकता था? ता० ९ दिसम्बर सन् ४६ में हमने इस यज्ञ की दीक्षा ली थी।

आज २४ जनवरी सन् ५० को इस यज्ञ को तीन वर्ष से भी अधिक समय के बाद समाप्त कर हम इसके अवभ्रत स्नान को जा रहे थे। कैसी-कैसी भावनाएँ भरी हुई थीं सभी के मनों में और मेरी भावनाओं तथा जोश का तो कोई पारावार ही न था; ता० ९ दिसम्बर सन् ४६ के दिन से भी कहीं अधिक। हृदय बीतों उछल रहा था। आनन्द के उद्वेग से पैर और हाथ काँप रहे थे। नेत्रों में नीर उमड़ रहा था जिसे मैं बार-बार पीने का प्रयत्न कर रहा था।

सबसे पहले राष्ट्र-गीत के निर्णय की घोषणा हुई। जिसमें यद्यपि जन गण मन को राष्ट्र-गीत माना गया पर वन्देमातरम् को भी समान महत्त्व दिया गया। इसके बाद बधाई के भाषण हुए और अन्त में श्री लक्ष्मीकान्त मैत्रेय ने अपने प्रान्त के ही उस अमर गायक बंकिम बाबू का वन्देमातरम् गीत गाया तथा हम सबने जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपिगरीयसी की वन्दना कर महात्मा गान्धी के जय-घोष से सारे संसद् भवन को कँपाकर उस परम पवित्र संविधान पर अपने-अपने हस्ताक्षर कर अपने को अमर बना लिया।

२६ जनवरी सन् ५० को यह संविधान लागू किया गया, जो दिवस हम वर्षों से स्वतन्त्रता दिवस के रूप में मनाते आ रहे थे और जो इन आयोजनों के कारण पहले से ही इस देश का एक परम पवित्र दिवस हो चुका था।

मुझे इस बात का कम हर्ष नहीं है कि संविधान के निर्माण में मेरा भी कम हाथ नहीं रहा। व्यापक विषयों में तो शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिस पर मैंने कुछ न कुछ न कहा हो और हिन्दी को उसका उचित पद प्राप्त कराने में तो मेरा प्रमुख हाथ रहा है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मेरठ अधिवेशन

मेरा सार्वजनिक जीवन हिन्दी की सेवा से ही आरम्भ हुआ था। सन् १९४९ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मैं सभापति चुना गया। इसके पूर्व मध्यप्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मैं दो बार सभापति रह चुका था, जिसका उल्लेल पिछले अध्यायों में हो चुका है। हिन्दी में लिखने के सिवा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित कराने के आन्दोलन में भी मैं कुछ न कुछ भाग लिया ही करता था। परन्तु १९४९ में जब मैं अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति हुआ तब मुझे आगे आकर इस आन्दोलन में भाग लेने का अवसर मिला। सम्मेलन में दलबन्दी बहुत काल से हो रही है। मेरठ के इस अधिवेशन के अवसर पर भी थी। ऐसी ही स्थिति में मुझे सम्मेलन का सभापति चुना गया था। मेरा किसी भी दल की ओर झुकाव नहीं था और दोनों ही दलों के सदस्यों ने मुझे निष्पक्ष व्यक्ति मानकर सभापति बनाने के लिए उत्सुकता प्रकट की थी। टण्डनजी का सम्मेलन में उस समय पूर्ण आदर था और उनके मत को श्रद्धापूर्ण महत्त्व दिया जाता था। मेरे सभापति चुने जाने में मुझे उनका आशीर्वाद भी प्राप्त था।

सम्मेलन की दलबन्दी से मुझे कुछ चिन्ता तो हुई थी, परन्तु उस समय वह दलबन्दी वैसी उग्र नहीं थी जैसी कि बाद में हो गयी। अतः उस समय साधारण जनता के समक्ष सम्मेलन हिन्दी की प्रतिनिधि संस्था के रूप में अबाध गति से कार्य करता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था।

इस पृष्ठभूमि के साथ सम्मेलन का मेरठ अधिवेशन आरम्भ हुआ। यह अधिवेशन अपूर्व था। भीड़भाड़, धूमधाम, आयोजनों, विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति आदि सभी दृष्टियों से मेरठ अधिवेशन को आश्चर्यजनक सफलता मिली। मेरठ से निकट ही नयी दिल्ली में संविधान सभा का अधिवेशन चल रहा था। राजभाषा का प्रश्न अब तक तय नहीं हुआ था। हिन्दुस्तानी के समर्थक हिन्दी का कड़ा विरोध कर रहे थे। इधर हिन्दी के समर्थकों की संख्या

अधिक थी। इस आन्दोलन से देश भर में क्षुब्ध वातावरण उत्पन्न हो गया था और संविधान सभा में तो इस विषय से अधिक महत्त्व किसी अन्य विषय को मिला ही न था। मेरठ अधिवेशन में भी यह प्रश्न प्रमुख रूप में उपस्थित रहा। हिन्दी समर्थकों का नेतृत्व जिन नेताओं के हाथ में था उनमें मैं भी था। अतः मेरठ अधिवेशन में भी इस प्रश्न पर बड़े उत्साह से चर्चा होती रही। भाषणों और प्रस्तावों में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने की माँगें आयीं।

मेरठ अधिवेशन के साथ हुई राष्ट्रभाषा परिषद् का विशेष महत्व था। इसके अध्यक्ष संविधान सभा के प्रमुख सदस्य तेलुगु-भाषी श्री अनन्तशयनम् आय्यंगर थे। उन्होंने अपना भाषण सुन्दर हिन्दी में दिया और उसमें हिन्दी को अविलम्ब राजभाषा घोषित करने पर बल दिया। अधिवेशन में हिन्दी जगत के प्रतिनिधि तो बड़ी संख्या में आये ही थे, परन्तु अखिल भारतीय अहिन्दी-भाषी नेता भी बहुत बड़ी संख्या में पधारे थे। इनमें गुजरात के श्री कन्हैयालाल मुंशी, कन्नड़ के श्री रंगनाथ दिवाकर, आसाम के श्री रोहिणी कुमार चौधरी, तेलुगू के डा० पट्टाभिसीतारामैया, उड़ीसा के लक्ष्मीनारायण साहू के नाम उल्लेखनीय हैं। डा० पट्टाभि उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष भी थे।

सम्मेलनों की धूमधाम में सभापतियों का जो कार्य होता है वह सभी मैंने शान्तिपूर्वक निबाहा। अपने अभिभाषण में भी हिन्दी जगत की सभी समस्याओं पर मैंने विस्तार से प्रकाश डाला। परन्तु इस सबसे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। मेरा जी कुछ ठोस और रचनात्मक कार्य करने के लिए छटपटा रहा था जिससे हिन्दी प्रचार और सम्मेलन को बल मिले। अतः मेरठ से दिल्ली लौटते ही मैं इसी उद्देश्य से योजना बनाने में व्यस्त हो गया।

सम्मेलन का नयी दिल्ली कार्यालय

इलाहाबाद नगर को हम भारत का एक प्रधान सांस्कृतिक केन्द्र कह सकते हैं। देश के साहित्य और राजनीति का भी यह एक सर्वश्रेष्ठ केन्द्र रहा है। देश में राजनीतिक चेतना उत्पन्न होने पर यह देश की राजनीति का केन्द्र बन गया। पं० मोतीलाल नेहरू द्वारा अपने आनन्द भवन को स्वराज्य भवन में परिणत कर देने पर तो इलाहाबाद देश की राष्ट्रीय राजधानी ही बन गया था। इस प्रकार हमारी भाषा और साहित्य सम्बन्धी जागृति होने पर इलाहाबाद

साहित्य और संस्कृति का केन्द्र बना और हिन्दी साहित्य सम्मेलन का प्रधान कार्यालय वहाँ स्थापित हो जाने पर वह देश की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक राजधानी भी बन गया। परन्तु स्वराज्य होते ही देश में नया वातावरण और नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न हुईं जिनके परिणामस्वरूप देश की राजनीतिक राजधानी इलाहाबाद से हटकर नयी दिल्ली में आ गयी। हिन्दी को भी देश की परिवर्तित अवस्थाओं के अनुसार चलाने के लिए भी यह आवश्यक था कि उसका प्रधान कार्यालय भी इलाहाबाद से हटकर नयी दिल्ली पहुँच जाय। परन्तु सम्मेलन की वैधानिक कठिनाइयों एवं आन्तरिक राजनीति के कारण ऐसा होना दुरूह दिखायी देता था। साथ ही आवश्यकता की उपेक्षा भी नहीं हो सकती थी। अतः मैंने यह निश्चय किया कि सम्मेलन का एक शाखा कार्यालय नयी दिल्ली में तत्क्षण खोला जाय और उसके द्वारा कुछ विशेष आवश्यक कार्य तत्काल आरम्भ कर दिये जायँ। हर्ष की बात है कि सम्मेलन के सभी दलों ने मेरे इस प्रस्ताव का स्वागत किया और स्थायी समिति ने भी इसे पास कर दिया।

परन्तु नयी दिल्ली में उस समय कार्यालय खोल देना हँसी-खेल नहीं था। स्थान का अभाव बड़े ही उग्र रूप में उपस्थित था। मैंने बहुत चाहा कि कहीं कोई अच्छा-सा स्थान मिल जाय और इसके लिए नयी दिल्ली के कई चक्कर लगाये, परन्तु निराशा ही हुई। भारत सरकार से भी स्थान देने की प्रार्थना की, परन्तु उसमें भी सफलता नहीं मिली। इधर जैसा पहले कहा गया है कि संविधान परिषद् चल रही थी और उसमें राजभाषा के प्रश्न को लेकर एक आन्दोलन चल रहा था। हिन्दुस्तानी के समर्थक हिन्दी के विषय में भ्रामक प्रचार कर रहे थे और नाना प्रकार के हथकण्डों द्वारा इस प्रयत्न में थे कि हिन्दुस्तानी को देश की राजभाषा बनवा लें। ऐसी दशा में सम्मेलन कार्यालय के न खुलने से एक-एक दिन भारी हो रहा था। निदान विवश होकर मैंने अपने मकान ३, कैनिंग लेन में ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन का नयी दिल्ली शाखा कार्यालय खोलने का निश्चय किया। मेरे पास भी स्थान की बहुत कमी थी। छोटी-सी कोठी में मुझे अपना निवास तो रखना ही था साथ ही नित्य आने-जाने वाले मेहमानों को जिनमें गाँवों के साधारण कार्यकर्त्ताओं से लेकर प्रान्त

के मुख्य मन्त्री तक होते थे, ठहराना भी पड़ता था। फिर भी गुंजाइश तो निकालनी ही थी। अतः कोठी के एक बरामदे को लकड़ी की जाली से घेर कर और उसमें पर्दे आदि लगाकर एक कमरा बना लिया और कार्यालय चालू कर दिया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति के नाते अहिन्दी प्रान्तों का मेरा दौरा

नयी दिल्ली में सम्मेलन का कार्यालय चालू होते ही मैंने अपनी अन्य योजनाएँ भी तत्काल कार्यान्वित करनी प्रारम्भ कर दीं। इनमें सबसे पहली बात थी अहिन्दी प्रान्तों का दौरा।

अहिन्दी भाषी प्रान्तों में सम्मेलन के सभापति का जाना एक विशेष महत्त्व रखता था। दक्षिण के तेलगू (आन्ध्र), तमिल, कन्नड तथा मलयालम भाषी क्षेत्रों में मद्रास की दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा हिन्दी-प्रचार का कार्य करती है। यह सम्मेलन के द्वारा स्थापित की गयी थी, पर अब सम्मेलन से स्वतन्त्र संस्था है। हिन्दी हिन्दुस्तानी के विवाद में इसने हिन्दुस्तानी का समर्थन करके सम्मेलन से सर्वथा भिन्न मार्ग पर अग्रसर होना आरम्भ कर दिया था। इसके फलस्वरूप इसका सम्मेलन से विरोध होना स्वाभाविक था। इधर सम्मेलन का सभापति होते हुए भी इस सभा के कार्य-क्षेत्र दक्षिण का दौरा करने की मेरी उत्कृष्ट अभिलाषा थी। इस अभिलाषा के कई कारण थे। कुछ दलों की ओर से समय-समय पर यह कहा जाता था कि दक्षिण भारत हिन्दी के विरुद्ध है और यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन किया गया तो वह विद्रोह कर देगा। यदि किसी भी दशा में वह एक राजभाषा को स्वीकार भी करेगा तो वह हिन्दी नहीं हिन्दुस्तानी होगी। अपनी भाषाओं के प्रेम के कारण यदि कोई दक्षिणवासी हिन्दी का विरोध करने की बात कहे तो वह कुछ सीमा तक समझ में आ सकने वाली हो सकती थी, परन्तु हिन्दी के स्थान पर हिन्दुस्तानी को स्वीकार करने की बात तो रंचमात्र भी समझ में आने की नहीं थी। अरबी-फ़ारसी शब्दों को ठूँस-ठूँसकर बनायी जाने वाली बनावटी हिन्दुस्तानी की अपेक्षा संस्कृतनिष्ठ शब्दों की समर्थक हिन्दी निश्चय ही दक्षिण ही की नहीं

वरन् एक उर्दू को छोड़कर भारत की अन्य समस्त भाषाओं के अधिक निकट थी। फिर अपने में मेल खाने वाली हिन्दी को छोड़ सर्वथा भिन्न हिन्दुस्तानी का प्रेम दक्षिण भारत में उत्पन्न होने का कारण देखने को मैं अत्यन्त उत्सुक था। दक्षिण के अतिरिक्त देश के अन्य अहिन्दी भाषी प्रान्तों का भी दौरा करने का मैंने निश्चय किया।

अहिन्दी भाषी प्रान्तों की यात्रा करने का एक अन्य कारण यह भी था कि मुझसे पूर्व सम्मेलन का कोई भी सभापति शायद अहिन्दी भाषी प्रान्तों के निवासियों से सम्पर्क स्थापित करने उनके मध्य नहीं पहुँचा था। अतः इस यात्रा के परिणामस्वरूप हिन्दी तथा अहिन्दी भाषी दोनों ही प्रदेशों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने तथा सम्मेलन का सन्देश अहिन्दी भाषी प्रदेशों में पहुँच जाने की आशा थी। सब प्रकार से विचार करने के पश्चात् मैं इसी निर्णय पर पहुँचा कि मुझे सभी अहिन्दी भाषी प्रदेशों में अवश्य जाना चाहिए और उनकी हिन्दी सम्बन्धी कठिनाइयों और आवश्यकताओं को समझने का यत्न करना चाहिए।

अहिन्दी भाषी प्रान्तों का दौरा करने के मेरे निश्चय को सफलतापूर्वक कार्यान्वित होने में मुझे राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के विशाल संगठन से भी बड़ी सहायता मिली। समिति एक प्रकार से सम्मेलन का ही अंग है और इस नाते मुझे उससे सहयोग तो मिलता ही। परन्तु मेरे दौरे में इसके प्रयत्नों से जो धूमधाम हुई उसकी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। समिति के ठोस कार्य के विषय में जनता को साधारणतः बहुत कम जानकारी है। चुपचाप संगठित रूप से काम करना इस समिति का आदर्श है। यही कारण है कि लोगों को उसके कार्यों का व्यर्थ ढिंढोरा पिटता हुआ नहीं दिखायी देता। परन्तु जब हमें उसके कार्य को निकट से देखने का अवसर मिलता है तो आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। अहिन्दी प्रान्तों का दौरा करने का मेरा निश्चय जानते ही समिति के विभिन्न प्रान्तीय संगठनों ने इससे पूरा लाभ उठाने और मेरी पूरी सहायता करने का तत्काल निश्चय कर लिया। इस निश्चय के फलस्वरूप मैंने जो दृश्य देखे वे कभी भुलाये नहीं जा सकते। सर्वत्र इसके कर्मठ कार्य-कर्ताओं का परिश्रम, प्रचारकों की धुन, अहिन्दी भाषी परीक्षार्थियों और इस

के समर्थकों का स्नेह और उत्साह देखकर हृदय उल्लास से भर जाता था और यही जी करता था कि इनके दल में ही मिलकर कार्य करने का अवसर मिले। सभी अपने उच्च आदर्श एक हृदय हो भारत जननी के समक्ष रखे काम करने में जुटे हुए हैं। अहमदाबाद में श्री जेठालाल जोशी, बम्बई में श्री कान्तिलाल जोशी, पूना में श्री डोंगरेजी, कटक में श्री अनसूयाप्रसाद पाठक आदि ने भारत को एक और अखण्ड बनाये रखने के लिए राष्ट्रभाषा के अनुष्ठान में जो तपस्या की है, वह अनुपम है। इन तपस्वियों के प्रताप से हिन्दी का सन्देश अहिन्दी भाषी भारत के गाँव-गाँव में पहुँचता जा रहा है। मैं जहाँ भी गया इन सब हिन्दी सेवकों ने और वहाँ की अहिन्दी भाषी जनता ने मेरा धूमधाम के साथ स्वागत किया। सर्वत्र बड़ी-बड़ी सभाएँ और समारोह हुए, जिनमें राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की विभिन्न परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए अहिन्दी भाषी भाइयों को प्रमाण-पत्र दिये गये। इन समारोहों में अधिकांश लोग अहिन्दी भाषी ही दिखायी देते थे। अहमदाबाद, पूना आदि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में तो अहिन्दी भाषी भाई-बहनों की बहुलता होना स्वाभाविक ही था, परन्तु बम्बई और कलकत्ता जैसे नगरों में, जहाँ हिन्दी भाषियों की संख्या भी बहुत भारी तादाद में निवास करती है, वहाँ भी इन समारोहों में हिन्दी भाषी कम और अहिन्दी भाषी ही अधिक संख्या में सम्मिलित हुए। ये सब हिन्दी को कोई गैर भाषा के रूप में नहीं वरन् अपनी भाषा के रूप में अपनाये हुए उस पर अपने प्रेम की वर्षा कर रहे थे। इसी प्रेममयी वर्षा में मैंने दक्षिण जाने के पहले आसाम, बंगाल, उड़ीसा, नागपुर, महाराष्ट्र, बम्बई, हैदराबाद और गुजरात के दौरे किये। इनकी समाप्ति पर स्वयं मुझे बड़ा उत्साह और बल मिला।

अब मेरे समक्ष दक्षिण के अहिन्दी भाषी प्रदेशों का दौरा करने का प्रश्न था। इन प्रदेशों में मुख्यत: चार भाषाएँ, तेलुगू, तमिल, कन्नड और मलयालम बोली जाती हैं। इन सब का अत्यन्त प्राचीन और समुन्नत साहित्य है। इनमें तेलुगू, कन्नड और मलयालम अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ हैं। तमिल में भी संस्कृत शब्द बहुत हैं परन्तु शेष तीन की अपेक्षा कम हैं। उत्तर भारत से इन भाषाओं के क्षेत्र दूर होने के कारण उत्तर से उनका सम्पर्क भी बहुत कम हो पाता है। इनके अतिरिक्त इनके कुछ स्थानों पर विशेषत: तमिल भाषी क्षेत्रों में ब्राह्मण

अब्राह्मण की समस्या, राजनीतिक प्रतिस्पर्धा और प्रान्तीयता की भावना ने हिन्दी को भी एक वर्ग विशेष के विरोध का विषय बना दिया है। इस विरोध का ध्यान करके मेरे हृदय में भी अनेक प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न होने लगती थीं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति के नाते हिन्दी का सन्देश लेकर दक्षिण में जाना शायद एक बिलकुल नयी बात थी। परन्तु यह कार्य जितना कठिन और कष्टमय लगता था उतना ही अधिक इसे करने के लिए मैं दृढ़ संकल्प होता जाता था। मेरे अनेक मित्रों का विचार था कि मैं इस दौरे में अवश्य ही असफल होऊँगा, शायद मुझे काले झण्डे तक दिखाये जायँ। परन्तु मुझे इस असफलता से जरा भी भय नहीं लगता था। मैंने यहाँ तक भी सोच लिया था कि दक्षिण भारतीय भाई यदि मेरी बात न सुनें तो भी कोई चिन्ता नहीं, पर मैं अपने कर्त्तव्य का अवश्य पालन करूँगा। यदि मेरे विरुद्ध नारे लगाये जायँ, मुझे काले झण्डे दिखाये जायँ तो उन्हें भी मैं सहर्ष सहन कर लूँ, परन्तु दक्षिण में जाऊँ अवश्य, यह मेरी अन्तरात्मा पुकार-पुकार कर कहती। मेरा विश्वास रहा है कि हिन्दी ही देश को एकता के बन्धन में बाँधने वाली महान् शक्ति है। इस समय उसका किसी वर्ग विशेष की ओर से भले ही विरोध हो, परन्तु अन्ततोगत्वा यह विरोध टिक नहीं सकेगा। देश की आत्मा इसे सहन नहीं करेगी।

क्या उत्तर, क्या दक्षिण, सर्वत्र देश की आत्मा एक है। और आज इस परमाणु बम के युग में एकता की जितनी आवश्यकता है उसे प्रत्येक देशवासी भली प्रकार समझता है। अतः देश सदा सर्वदा के लिए एक रहेगा और हिन्दी उसे इस एकता में बाँधे रहेगी। इस एकता की भावना का समर्थन करने वाले अपने दक्षिणात्य भाइयों को मैं हिन्दी का सुन्दर सन्देश सुनाना चाहता था। उन्हें बताना चाहता था कि अब हिन्दी उनकी भी उतनी ही है जितनी कि किसी भी उत्तर भारतीय की।

दक्षिण भारत के दौरे के समय हिन्दी का सबसे अधिक विरोध हिन्दुस्तानी के समर्थकों से था। सच तो यह है कि दक्षिण भारतीय भाषा-भाषियों की ओर से तो कोई भी विशेष विरोध न था और जो कुछ भी था उसे हिन्दु-
यों ने तिल का ताड़ बना रखा था। हिन्दुस्तानी के हिमायती

संस्कृतनिष्ठ दक्षिण भारतीय भाषाओं के बोलने वाले भाइयों को अरबी-फारसी के शब्द सिखाते थे और नागरी के साथ फारसी लिपि का भी प्रयोग करने का उपदेश देते थे। ये दोनों ही बातें बड़ी कठिन लगती थीं। इसका यह फल हुआ था कि दक्षिण भारतीय भाइयों ने इनका विरोध करना आरम्भ किया था। इस विरोध से बचने के लिए हिन्दुस्तानी के हिमायतियों ने उसे हिन्दी के ऊपर फेंकना प्रारम्भ किया था। मैं जानता था कि हिन्दुस्तानी के नाम पर होने वाला हिन्दी का विरोध कुछ नेताओं तक ही सीमित था। वास्तव में दक्षिण भारत का जनसमुदाय उसके पीछे न था। वह तो नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी के ही पक्ष में था। अतः मैंने निश्चय किया कि हिन्दुस्तानी का समर्थन करने वाले अपने भाइयों को भी मैं अलग नहीं छोड़ूँगा और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैंने सबसे बड़ा आश्चर्यजनक कदम जो उठाया वह था स्वयं दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा को ही अपनी यात्रा की व्यवस्था करने के लिए लिखना, जो उस समय दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा बनकर हिन्दुस्तानी की समर्थक थी। मुझे यह देखकर कम आश्चर्य नहीं हुआ कि दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी सभा ने मेरी यात्रा की व्यवस्था करना तत्काल स्वीकृत कर लिया।

हिन्दी प्रचार के इतिहास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। अहिन्दी भाषी प्रदेशों में वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के पश्चात् यदि किसी अन्य संस्था ने विशाल परिमाण में कार्य किया है तो वह दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ही है। उसके अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप आज दक्षिण में सहस्रों की संख्या में नर-नारी हिन्दी सीखकर हिन्दी की परीक्षाएँ पास कर चुके हैं। स्थान-स्थान पर इसके केन्द्रों का जाल फैला हुआ है जिनमें प्रचारकों की एक विशाल संख्या कार्य करती है। इस कार्य की विशालता उसे निकट से ही देखने पर प्रकट होती है। इन सब प्रचारकों और सभा के नेताओं ने मुझे हृदय से सहयोग दिया। यह सहयोग भी बड़ा विचित्र था। हम दोनों में ही हिन्दी हिन्दुस्तानी के प्रश्न पर सैद्धान्तिक मत-भेद था, परन्तु फिर भी हम दोनों साथ-साथ थे। प्रबन्ध उनका था, परन्तु विचार मैं अपने व्यक्त करता था और इन सब आयोजनों से बल उनके संगठन

को मिलता था। दौरे का आरम्भ होते ही मैंने देख लिया कि यद्यपि यह कार्य-क्षेत्र उनका था, परन्तु विचारधारा की दृष्टि से मैं वहाँ के निवासियों के अधिक निकट था। अतः आरम्भ से ही मुझे सफलता प्राप्त होने लगी। जनता में तो कहीं कोई विरोध दिखायी दिया ही नहीं। वही विशाल आयोजन, वही बड़ी-बड़ी सभाएँ और वही धूमधाम दिखायी दी जो राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के कार्य-क्षेत्र में देखने को मिली थी। इस सब के फलस्वरूप मैंने ऐसा अनुभव किया कि दक्षिण उत्तर से दूर है ही नहीं।

एलूर में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्रचारकों का सम्मेलन होने वाला था। मैं भी उसी अवसर पर वहाँ पहुँचा। उस सम्मेलन में नागरी तथा फारसी दो लिपियों में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी को राजभाषा बनाने के विषय में प्रस्ताव पास होने वाला था। परन्तु मेरा भाषण होने के पश्चात् इस प्रस्ताव को कहीं से समर्थन न मिला और प्रस्तावक महोदय ने उसे उपस्थित तक करने का साहस नहीं दिखाया। एलूर से मैं विजयवाड़ा, गुण्टूर, मद्रास, त्रिवेन्द्रम तक गया। इस लम्बे दौरे के अन्त में मैंने अनुभव किया कि समय-समय पर उत्तर से दक्षिण में और दक्षिण से उत्तर में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक प्रतिनिधियों का आना-जाना होता रहना देश की एकता के लिए अत्यावश्यक है।

मेरे दक्षिण के दौरे की सफलता का सबसे अधिक श्रेय हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मुख्य कार्याध्यक्ष श्री मोटूरि सत्यनारायणजी को है।

हिन्दी के सन्देश के साथ ही मैंने अपने इन दौरों में अपना एक कर्त्तव्य और भी पूरा किया। इन्हीं दिनों मैं भारत गौसेवक समाज का भी सभापति था। अतः जहाँ कहीं भी मैं गया मैंने गोरक्षा के लिए जनता से अपील की।

संविधान सभा में हिन्दी का प्रश्न

जैसा पहले कहा जा चुका है कि संविधान परिषद् के काम में मैंने अपने लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर आसीन कराना, गौरक्षा के लिए सविधान में एक धारा जुड़वाना और देश का नाम भारत रखवाना, प्रधानतया ये तीन विषय चुने थे। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण था हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर आसीन कराना। अंग्रेजी सत्ता के साथ ही अंग्रेजी को भी जाना ही था। अंग्रेजी सत्ता तो हमारे भीतर घर नहीं कर पायी थी, परन्तु अंग्रेजी भाषा की दशा दूसरी थी। उसने हमारे मनों और हृदयों तक को रंग डाला था। हमारे मस्तिष्क में यह बात घुसती ही न थी कि अंग्रेजी को छोड़कर हम अपना काम चला सकेंगे। ऐसी दशा में अंग्रेजी को हटाकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात पर यदि गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया जाता था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। परन्तु इस वातावरण ने मुझे निराश नहीं किया। मैंने इस सम्बन्ध में अपने परिचितों और मित्रों से चर्चा आरम्भ कर दी।

संविधान सभा के सदस्यों से बातचीत करने पर ज्ञात हुआ कि स्थिति ऐसी निराशाजनक नहीं है जैसी कि प्रतीत होती थी। यह तो सभी मानते थे कि अंग्रेजों के समान अब अंग्रेजी को भी भारत से चले जाना है, परन्तु यह बात मानने में सभी हिचकिचाते थे कि अंग्रेजी के बदले हिन्दी को आ जाना है। फिर अंग्रेजी के कट्टर समर्थकों की भी कमी न थी। वे हिन्दी का जहाँ उपहास उड़ाते थे वहाँ अंग्रेजी की प्रशंसा और उपयोगिता के गीत गाते हुए भी न अघाते थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि ऐसे लोग जो हिन्दी नहीं जानते थे और जीवन भर अंग्रेजी के माध्यम से ही काम करते रहे थे अनेक महत्त्वपूर्ण स्थानों पर विराजमान थे। भारत सरकार के कार्यालयों में काम करने वाले उच्च अफसरों की भी यही दशा थी। ये मानते थ कि अंग्रेजी के बदले हिन्दी आ जाने से उनके लिए बड़ी भारी कठिनाई उत्पन्न हो जायगी।

इन सभी अंग्रेजी भक्तों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से विरोध का एक बड़ा तूफान उठा दिया।

कांग्रेस दल में भी ऐसे बहुत से अहिन्दी भाषी सदस्य थे जो हिन्दी चल जाने से होने वाली अपनी असुविधा का विचार करके डरते थे और इसी कारण हिन्दी का विरोध करते थे। परन्तु अंग्रेजी के इन समर्थकों का विरोध अडंगा लगाने तक ही सीमित रहता था। नैतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उनके विरोध को टिके रहने का कोई आधार नहीं था। स्पष्ट बात होने पर वे भी अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने का समर्थन न तो कर पाते थे और न करते ही थे; फिर भी उनकी विरोधी भावना हिन्दी के मार्ग में काँटे तो उत्पन्न कर ही रही थी।

हिन्दी का दूसरा विरोधी दल जैसा पहले कहा जा चुका है, हिन्दुस्तानी वालों का था। पाकिस्तान बन जाने पर भी यह दल नागरी तथा फारसी दो लिपियों में लिखी जाने वाली अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दुस्तानी को ही भारत की राष्ट्रभाषा बनाने पर अड़ा हुआ था। इस दल में राष्ट्रपिता बापू के कई प्रिय अनुयायी थे। काका साहब कालेलकर और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के मन्त्री श्री मोटूरि सत्यनारायण इस दल के स्तम्भ थे और इसे सबसे बड़ा बल भीष्म पितामह के समान हमारे अग्रगण्य श्री जवाहरलाल नेहरू से मिल रहा था। हिन्दुस्तानी वालों ने प्रचार और पारस्परिक सम्पर्क द्वारा हिन्दी का विरोध करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। बापू के नाम पर बार-बार ये अपीलें करते थे और हिन्दुस्तानी को राष्ट्रीय बताकर हिन्दी को साम्प्रदायिक बताने से भी नहीं चूकते थे। दो दलों में संघर्ष होने पर प्रचार के क्षेत्र में ऐसी बातें कही ही जाती हैं, इस कारण मैं इनके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहना चाहता। मैंने इनका अत्यधिक साहस से सामना किया और इनके विरोध की चिन्ता न कर हिन्दी के पक्ष में प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया।

मैंने एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया जिसमें हिन्दी को राष्ट्रभाषा और नागरी को राष्ट्रलिपि मानने की बात कही गयी थी। मैंने इस प्रतिज्ञा-पत्र पर संविधान सभा के सदस्यों के हस्ताक्षर कराने आरम्भ कर दिये। यह कार्य

आरम्भ होते ही हिन्दी के समर्थकों का बल बढ़ने लगा, देखते-देखते अनेक गण्यमान्य सदस्य हिन्दी के दल में सम्मिलित हो गये और उन्होंने सहर्ष अपने हस्ताक्षर प्रतिज्ञा-पत्र पर कर दिये। हिन्दी के प्राण श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डन से यहाँ भी बड़ी सहायता मिली और वे हमारे अग्रतम नेता बनकर आगे आ खड़े हुए। श्री अनन्तशयनम् अय्यंगार, श्री निजलिंगप्पा, श्री हनुमन्थैया, श्री पट्टाभि सीतारामय्या, श्री गोपालस्वामी अय्यंगार, श्री के० एम० मुंशी, श्री रोहिणीकुमार चौधरी, डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी, प्रभृति सज्जनों के हस्ताक्षर हिन्दी के पक्ष में शीघ्र प्राप्त हो गये। हस्ताक्षर कराने के इस प्रयत्न में मुझे संविधान परिषद् के हाल में एक सीट से दूसरी और दूसरी से तीसरी सीट पर निरन्तर घूमने में सब मिलाकर न जाने कितने मील पैदल चलना पड़ा होगा। कई बार मुझे वह समय याद आता है। किस तरह सनकियों के सदृश घूमा करता था मैं वहाँ इस काम के लिए !

हस्ताक्षर कराने का कार्य निरन्तर जारी रहा और शीघ्र ही हमने ३९६ सदस्यों के हस्ताक्षर करा लिये। इस प्रकार संविधान सभा का बहुमत हिन्दी के पक्ष में हो गया। हिन्दुस्तानी वालों के दल में इस समाचार से खलबली मच गयी। यह था भी निश्चित कि यदि उसी समय यह प्रश्न संविधान सभा में आ जाता तो हिन्दी तथा नागरी के पक्ष में तत्काल घोषणा हो जाती। परन्तु ऐसा नहीं हो सका। कांग्रेस दल का बहुमत भी हिन्दी और नागरी के पक्ष में ही था। इस प्रकार सीधे संघर्ष में पराजय की सम्भावना देख विरोधी दल की ओर से राष्ट्रभाषा के प्रश्न को बाद के लिए स्थगित कराने के यत्न किये जाने लगे। विरोधी दल यह चाहता था कि कुछ समय मिल जाय तो हिन्दी के दल से कुछ सदस्यों को तोड़ने का यत्न किया जाय। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हुई कि विरोधी दल को इसमें सफलता मिल गयी और यह निश्चय किया गया कि राष्ट्रभाषा का प्रश्न विवादास्पद होने के कारण बाद को उठाया जाय। मुझे उस समय कुछ निराशा तो अवश्य हुई, परन्तु मैंने साहस नहीं छोड़ा और उसी उत्साह के साथ हिन्दी के पक्ष में प्रचार करता रहा।

हिन्दी के पक्ष में उस समय जो प्रचार-कार्य चलता था वह हिन्दी साहित्य

सम्मेलन के नयी दिल्ली कार्यालय से होता था। और इस विषय को लेकर उन दिनों मेरा घर दिन-रात हिन्दीमय हो गया था। पत्रों को प्रतिदिन सामग्री भेजी जाती थी। राष्ट्रभाषा नाम से एक पत्र अंग्रेजी में प्रकाशित होता था। गोष्ठियों का आये दिन आयोजन होता था और बाद को कुछ विशेष भोजों का आयोजन भी किया गया था। इन सभी में हिन्दी की चर्चा होती थी, उसके समर्थक सदस्यों को और भी पक्का किया जाता था तथा नये सदस्यों को हिन्दी दल में सम्मिलित करने का यत्न होता था। संक्षेप में कह सकते हैं कि उस समय हमें सदैव हिन्दी का नशा-सा चढ़ा रहता था।

इस प्रचार के साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि देश के विद्वानों का मत भी इस सम्बन्ध में प्राप्त किया जाय। इसके लिए मैंने नयी दिल्ली में उच्च-स्तर पर एक राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद् करने का निश्चय किया। इसके विषय में अगले अध्याय में अलग प्रकाश डाला गया है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि इस परिषद् से जितना लाभ हुआ उतना अन्य प्रकार के प्रचार के कार्य से न हुआ था। इसके निर्णयों की घोषणा होते ही विरोधियों के हौसले पस्त हो गये और उसी दिन स्पष्ट हो गया कि अब हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन होने से कोई नहीं रोक सकता।

राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद्

देश के स्वतन्त्र होने से पूर्व ही हिन्दी और उर्दू के विवाद ने भाषा के क्षेत्र में बड़ी कटुता उत्पन्न कर रखी थी। यदि उदार दृष्टि से देखें तो उर्दू भी हिन्दी की एक शैली मात्र है जिसमें अरबी और फारसी के शब्दों की प्रचुरता रहती है। हिन्दी का विकास देश की संस्कृति से प्राकृतिक सहयोग रहते हुए हुआ है अतः देश की वास्तविक राष्ट्रभाषा वही है। यही कारण था कि अंग्रेज शासकों का समर्थन न मिलने पर भी वह जनता के हृदय का हार बनी रही और निरन्तर प्रगति करती गयी। दूसरी ओर उर्दू को अंग्रेज शासकों का समर्थन प्राप्त होने पर भी वह निरन्तर राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में हारती चली गयी। देश की वास्तविक संस्कृति और जीवन से दूर भारतीय हिन्दी से अनभिज्ञ और दूर रहे और अपनी असुविधाओं को ध्यान में रखकर बराबर हिन्दी के विरोध में रत रहे। दूसरी ओर उर्दू के समर्थक इनके साथ मिलकर हिन्दी का विरोध करते रहे, परन्तु इस संयुक्त विरोधी मोर्चे के होते हुए भी हिन्दी आगे बढ़ती गयी और एक समय आया जब उसे कांग्रेस तथा राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी का भी समर्थन प्राप्त हो गया।

इसके बाद भाषा के क्षेत्र में एक नया दौर आरम्भ हुआ। भाषा के सरल बनाने के नाम पर हिन्दी के विरुद्ध एक नया मोर्चा खड़ा हो गया। इसके समर्थकों ने बड़ी न्याय-भावना प्रकट करते हुए कहा कि हिन्दी-उर्दू का झगड़ा है इसलिए इन दोनों को छोड़कर एक नयी चीज हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाया जाय। इनके मत से हिन्दुस्तानी एक आम फहम भाषा थी जिसे सब कोई समझ सकते थे। परन्तु वास्तव में हिन्दुस्तानी भी एक प्रकार की उर्दू ही थी जिसमें उर्दू-ए-मुअस्सल की तुलना में अरबी और फारसी शब्द कम परिमाण में रहते थे।

इसी समय दुर्भाग्य से महात्मा गान्धी पर हिन्दी का प्रचारक होने और इस प्रकार मुसलमानों के साथ अन्याय करने के आरोप लगाये जाने लगे।

बनारस विश्वविद्यालय के दी ान्त समारोह में भाग लेने जब महात्माजी गये तो उर्दू के कुछ समर्थकों ने उनके ऊपर ये आरोप बड़े जोर से लगाने आरम्भ किये। तत्कालीन राजनीतिक स्थिति और इन आरोपों का कुछ ऐसा परिणाम हुआ कि महात्माजी ने हिन्दी को छोड़कर हिन्दुस्तानी का समर्थन करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन से त्याग-पत्र दे दिया, जिसके सम्बन्ध में उनके साथ राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का बड़े मार्के का पत्र-व्यवहार हुआ। विचारों की विभिन्नता ने देश के इन दो महान् तपस्वियों को एक दूसरे से भिन्न पथों पर खड़ा कर दिया। महात्माजी के महान् व्यक्तित्व का समर्थन पाकर हिन्दुस्तानी के समर्थकों का बल तो बढ़ा, परन्तु उसके फलस्वरूप हिन्दी का बल घटा नहीं। उस सबके कारण भाषा के क्षेत्र में और अधिक कटुता उत्पन्न हो गयी और अब राष्ट्रभाषा के पद के लिए होने वाला संघर्ष त्रिमुखी हो गया। हिन्दी को अब दो मोर्चों पर लड़ना पड़ा। देश के विभाजन का इस संघर्ष पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। पाकिस्तान बन जाने के कारण उर्दू के अधिकांश समर्थक पाकिस्तान चले गये, जहाँ उन्हें उर्दू को अपनी कौमी जबान बनाकर सन्तोष प्राप्त करने का अवसर मिला। भारत में शेष रह जाने वाले उर्दू के समर्थकों का बल नगण्य रह गया अतः संविधान सभा में हिन्दी का केवल हिन्दुस्तानी से सीधा संघर्ष रह गया। दोनों ही पक्षों से समय-समय पर अनेक प्रकार के वक्तव्य और प्रतिवक्तव्य निकलते, जो निरन्तर कटुता में वृद्धि करते रहते थे। इस कटुता को देखकर मेरे हृदय को बड़ा दुःख होता था। मैं चाहता था कि हिन्दुस्तानी का समर्थन करने वाले अपने भाइयों को प्रेम से जीतूँ। आये दिन के प्रकाशित होने वाले वक्तव्यों का मूल्य कोरी तू-तू मैं-मैं के अतिरिक्त और कुछ न था। आवश्यकता यह थी कि इस तू-तू मैं-मैं के बीच राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर कोई ऐसी गम्भीर घोषणा आये जिससे देश की जनता और संविधान सभा में बैठे उसके प्रतिनिधियों का सन्तोष हो सके। इसका जो उपाय मुझे सूझा वह था देश की समस्त भाषाओं के विद्वानों की एक परिषद् बुलाना और उससे राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि के विषय में व्यवस्था दिलाना।

राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद् करने का विचार तो मेरे मस्तिष्क में तभी

आ गया था जब मैं मेरठ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन का सभापतित्व करने गया था, परन्तु अब मैंने अनुभव किया कि इस परिषद् को करने का समय आ पहुँचा है और संविधान सभा में राष्ट्रभाषा का प्रश्न आने से पूर्व ही उसका होना आवश्यक है। अतः मैंने यह विचार कार्य रूप में परिणत करना आरम्भ कर दिया। श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डन को यह विचार अत्यन्त पसन्द आया। उनका समर्थन मिलते ही मैंने तत्काल कुछ विद्वानों की एक बैठक बुलायी और योजना बनाने का श्रीगणेश कर दिया। इतना होते ही हिन्दी जगत में उत्साह का प्रभाव उमड़ पड़ा। हर्ष की बात तो यह थी कि हमें शीघ्र ही देश के समस्त भागों से अधिकारपूर्वक मत दे सकने वाले विद्वानों का समर्थन प्राप्त हो गया। यहाँ प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत के आचार्य श्री क्षेमेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का उल्लेख विशेषतः आवश्यक है। बंगालियों को प्रायः हिन्दी-विरोधी बताया जाता है, परन्तु राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद् का आयोजन करने में हमें सबसे पहले जो निस्वार्थ सहयोग मिला वह बंगाली श्री क्षेमेशचन्द्र चट्टोपाध्याय से ही। क्षेमेशबाबू को हम आधुनिक युग का एक ऋषि मान सकते हैं। वे अनेक बार परिषद् के कार्यों और बैठकों में योग देने के लिए प्रयाग से दिल्ली पधारे और इस कार्य के लिए उन्होंने कभी परिषद् से एक पैसा तक लेना स्वीकार नहीं किया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने क्षीण आर्थिक साधनों में से भी परिषद् को धन की सहायता दी। उनके परिपक्व अनुभव और ज्ञान से हमें जो सहायता मिली वह तो अनुपम है।

योजना बनने पर परिषद् के रूप की कल्पना करके जहाँ मेरा मन उत्साह से भर गया वहाँ उसके लिए साधन जुटाने की चिन्ता भी मेरे आगे किंचित् टेढ़ा रूप धारण करके आ खड़ी हुई। हिसाब लगाने पर ज्ञात हुआ कि उसका कम से कम व्यय २० हजार की सीमा पार कर जायगा। इसमें १ हजार और जोड़कर मैंने विचार किया कि २१ हजार में सब कार्य हो जायगा, परन्तु बाद को यह बढ़कर २५ हजार से भी अधिक हो गया। इस व्यय का भार हमने तीन संस्थाओं पर डालने का निश्चय किया। एक तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन पर, जिसका सभापति मैं स्वयं था; दूसरे वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति पर, जो सम्मेलन की ही एक संस्था थी; और तीसरे दिल्ली प्रान्तीय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन पर। यह भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ही सम्बद्ध संस्था थी। इस प्रकार हम मान सकते हैं कि परिषद् को करने का सम्पूर्ण भार हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दी जगत ने ही उठाया।

परिषद् में किस-किस को बुलाया जाय यह निश्चय करना बड़ा दायित्व-पूर्ण था। इतना समय न था कि देश भर की भाषा संस्थाओं से अपने प्रति-निधि निर्वाचित करके भेजने का अनुरोध किया जाता। परन्तु फिर भी यह यत्न किया गया कि देश की विभिन्न भाषाओं की प्रतिनिधि पूर्ण संस्थाओं से अपने प्रतिनिधि भेजने का अनुरोध किया जाय। इसके अतिरिक्त यह यत्न भी किया जाय कि किसी भी भाषा का कोई प्रमुख विद्वान् अनिमंत्रित न रह जाय। ऐसे ऐतिहासिक अवसर पर किसी भी अधिकारी विद्वान् की उपेक्षा हो जाना एक महान् राष्ट्रीय भूल होती। अतः यह कार्य बड़ी सावधानी के साथ किया गया। जिन प्रतिनिधियों को बुलाने का निश्चय किया गया उनमें कश्मीरी, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, असमिया, उड़िया, मणिपुरी, नेवारी, तेलुगू, तमिल, कन्नड़, मलयालम, उर्दू तथा हिन्दी के उच्च कोटि के विद्वान् थे और हिन्दी के विद्वानों में उसकी समस्त बोलियों का प्रतिनिधित्व करने वाले विद्वान्।

परिषद् की व्यवस्था अत्यन्त उच्च सतह पर की गयी थी। समस्त विद्वानों को वायुयान अथवा रेलगाड़ी के फर्स्ट क्लास में आने-जाने का मार्ग-व्यय देना निश्चित हुआ। दिल्ली में ठहरने के लिए इम्पीरियल होटल तथा मेरीना होटल में प्रबन्ध किया गया। श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर के व्यवस्था-पकों ने अपनी धर्मशाला भी प्रतिनिधियों को ठहराने के लिए सहर्ष प्रदान की। नयी दिल्ली में ठहरने के अतिरिक्त प्रतिनिधियों की अन्य सभी सुख-सुविधाओं का भी सुन्दर प्रबन्ध किया गया।

दो दिन के अधिवेशन के पश्चात् परिषद् ने अपना निर्णय दिया। उसमें संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को राष्ट्रभाषा और नागरी को राष्ट्रलिपि बनाने की माँग की गयी। यह व्यवस्था देश की इच्छा के सर्वथा अनुरूप थी। इसके सम्बन्ध में उस समय पत्रों तथा विभिन्न क्षेत्रों में जो मत प्रकट किये गये वे इसके प्रमाण हैं। इन सभी का यह मत था कि इस प्रकार की परिषदें भविष्य में भी

समय-समय पर होनी चाहिएँ, जिससे देश की विभिन्न भाषाओं के मध्य घनिष्ठ सम्पर्क हो सके। परिषद् में हुए इनके सम्पर्क से यह बात भी स्पष्ट हो गयी कि देश में यद्यपि अनेक प्रादेशिक भाषाएँ हैं तथापि उनकी भी आत्मा एक है और सभी की भावना एवं विचारधारा तथा गतिशीलता भी एक-सी है। हिन्दी के प्रति विरोध की भावना तो कहीं भी नहीं दिखायी दी। परिषद् में आये विद्वानों की सूची तथा परिषद् के प्रस्ताव परिशिष्ट २ में दिये गये हैं।

संविधान सभा का भाषा विषयक निर्णय

इसी प्रकार समय व्यतीत होता गया पर अन्त में वह दिन आ ही गया जब संविधान सभा को राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार करना पड़ा। इस सम्बन्ध का पहला संघर्ष कांग्रेस दल की बैठक में हुआ।

कांग्रेस दल की बैठक में जब राष्ट्रभाषा का प्रश्न आया तो प्रकट हुआ कि जिस उद्देश्य से हिन्दुस्तानी के समर्थकों ने इसे टलवाया था उसमें वे बहुत बड़ी सीमा तक सफल हो गये हैं। इसी बीच श्री जवाहरलालजी का एक विशेष लेख भी पत्रों में प्रकाशित हो चुका था जिसे आधार बनाकर हिन्दुस्तानी वाले हिन्दी का भरसक विरोध कर चुके थे। दल की बैठक में नेता के मत का भारी प्रभाव पड़ता है। अतः जिन सदस्यों ने आरम्भ में हिन्दी के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे उनमें से कुछ ढुलक गये। इनमें से कुछ तो अपनी प्रतिज्ञा को भी भूलकर हिन्दुस्तानी दल में जा बैठे। कुछ ने स्पष्ट विरोध करने का साहस न होने के कारण बैठक में आना ही ठीक नहीं समझा। कुछ मन्त्री आदि के पदों पर रहने के कारण भी दल के नेता के विरुद्ध मत देने के पक्ष में न थे अतः वे भी बैठक में नहीं आये। राज्यों के मन्त्रियों में मेरे अपने राज्य मध्य प्रदेश के मुख्य मन्त्री श्री रविशंकर शुक्ल ही इसके एकमात्र अपवाद रहे। वे अन्त तक हिन्दी का समर्थन करते हुए मेरे साथ बैठक में उपस्थित रहे। बैठक में विचार तो होना ही क्या था। सभी सदस्य अपने-अपने विचारों में पक्के बने बैठे थे। अन्त में जब मत लिये गये तो हिन्दी के पक्ष में ७८ और हिन्दुस्तानी के पक्ष में ७७ मत आये। इतना प्रयत्न करने पर भी हिन्दी का पक्ष अधिक रहा। यह हिन्दुस्तानी के समर्थकों को अच्छा न लगा और वे धांधागर्दी पर उतर आये। एक मत कम मिलने पर भी वे चिल्लाने लगे कि हमारी ओर अधिक मत आये हैं। इधर हिन्दी के समर्थकों में यह सोचकर कि अब हमारी विजय तो हो ही गयी है शिथिलता आ गयी। पटियाले के श्री काका भगवन्तराय हिन्दी के पक्ष में अपना मत देकर और

परिणाम हिन्दी के पक्ष में प्रकट हुआ मान कर किसी आवश्यक कार्यवश बाहर चले गये थे। हिन्दुस्तानी के समर्थकों के जोर देने पर जब फिर मत लिये गये तो हिन्दी के पक्ष में एक मत कम होगया था और इस प्रकार दोनों पक्षों की संख्या बराबर ७७ हो गयी। विरोधी दल में उत्साह की लहर दौड़ गयी। वे समझते थे कि अब संविधान सभा में यह प्रश्न उपस्थित होने पर वे मुस्लिम दल की तथा अन्य स्वतन्त्र सदस्यों की सहायता से हिन्दुस्तानी को सदा के लिए भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार करा लेंगे। परन्तु यह उनका भ्रम था। कांग्रेस दल के जो सदस्य दल की बैठक में हिन्दी के पक्ष में मत देने में झिझक गये थे वे संविधान सभा में मत देने को तैयार थे। दल की बैठक में जो कुछ हुआ था उससे उनमें भी फिर जोश आ गया था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस दल से बाहर के सदस्यों में भी हिन्दी के बहुत अधिक समर्थक थे। ऐसी दशा में हिन्दुस्तानी वालों ने स्पष्ट देख लिया कि संविधान सभा में उनकी नहीं चलेगी और निश्चित रूप से पराजय होगी। फल यह हुआ कि समझौते की बात होने लगी। यह बात ऐन वक्त तक चली और इसमें सफलता के लक्षण तभी प्रकट हुए जब यह प्रश्न संविधान सभा में आया। मामला बहुत तूल पहले ही पकड़ गया था। उसने केवल संविधान सभा में ही नहीं वरन् समस्त देश में कटुता का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। नेताओं ने इसे अनुभव किया और अन्त में संविधान सभा का अधिवेशन थोड़ी देर के लिए स्थगित किया गया जिससे समझौता करने का अन्तिम प्रयत्न कर लिया जाय। विचित्र दृश्य था। दर्शकों की गेलरियाँ भरी हुई थीं। संवाददातागण निर्णय को देश के कोने-कोने तक तत्काल पहुँचाने को कमर कसे तैयार खड़े थे। ऐसी दशा में हम उठकर राज्य परिषद् वाले सदन में गये और वहाँ फिर राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर एकमत होने का यत्न करने लगे। अन्त में हिन्दुस्तानी वाले झुककर हिन्दी को राष्ट्रभाषा और नागरी को राष्ट्रलिपि मान लेने को तैयार हो गये, परन्तु एक बात पर अड़ गये कि भाषा में जो अंक रहें वे नागरी के न होकर रोमन रहें। इसके समर्थन में यह कहा गया कि चूँकि दक्षिण भारत की सभी भाषाओं में ये रोमन अंक ही प्रचलित हैं और समस्त संसार में भी इनका चलन है अतः इन्हें मान लिया जाय। यह टेक इतनी साधारण-सी थी कि

हिन्दी के समर्थकों ने इसे स्वीकार कर लिया। केवल टण्डनजी इसके विरुद्ध रहे और मैं उनके साथ रहा। इसके कुछ मिनट पश्चात् ही संविधान सभा में भी यही उपस्थित किया गया और सर्वसम्मति से हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा और देवनागरी राष्ट्रलिपि घोषित हो गयी। वह दिन भारत के इतिहास का स्वर्णिम दिन था। उसी दिन पुनः देश की अखण्डता का सुदृढ़ आधार स्थापित हो गया। सभा के सभापति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद का उत्साह एक बड़े सुन्दर भाषण के रूप में प्रकट हुआ, जिसमें समस्त देश को इस सुन्दर निश्चय पर बधाई दी गयी। मेरे हर्ष का पार न था। आज मेरे जीवन की एक और चिर कामना पूर्ण हो गयी थी। साहित्य सम्मेलन के मेरे सभापतित्व काल में हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हुई यह सोचकर मैं अपने अन्तःकरण में परम सन्तोष का अनुभव कर रहा था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर आज तक जिन शत-शत तपस्वियों ने हिन्दी सेवा का व्रत लेकर निस्वार्थ भाव से अनवरत हिन्दी की जो अलख जगायी थी आज उनकी तपस्या सफल होगयी। उस हर्ष पूरित सदन में मैं अखण्ड भारत राष्ट्र के दर्शन कर रहा था। उस राष्ट्र के जिसमें सूर, तुलसी, मीरा, कबीर, पूर्व में चण्डीदास, गोविन्ददास, बंकिम और रवीन्द्र गले मिल रहे थे तो पश्चिम में गुजराती, मराठी के कवि आदि से, उत्तर में नानक और गुरु गोविन्द की संगति में हिन्दी मिलकर गा रहे थे तो दक्षिण में त्यागराज, कम्ब आदि से मिलकर एक संघम् बना रहे थे।

संविधान सभा के कार्य पर एक दृष्टि

जैसा पहले भी कहा गया है ९ दिसम्बर १९४६ को भारतीय संविधान सभा की प्रथम बैठक हुई थी। इस ऐतिहासिक गौरव और महत्ता की अनुभूति सब ही उपस्थित सदस्यों को हो रही थी। उस समय अनजाने ही मन में अनेक शताब्दियों का इतिहास चित्रित हो उठता था। कितना अनोखा था यह इतिहास ! मानव संस्कृति के आदिकाल में ही हमारा देश इतिहास में उच्च स्थान पर पहुँच गया था। संसार की सब सभ्य जातियों में हमारे देश की विद्या, विज्ञान, कला-कौशल का अत्यन्त आदर और सम्मान था। यहाँ तक कि अनेक जातियों में यह विचार फैला हुआ था कि भारत के लोग जादू में पारंगत हैं और इसी कारण वहाँ के कहानी साहित्य में यह वर्णन था कि जादूगर भारत से ही आते हैं। चमत्कारिक यंत्रों के बारे में भी कई जगह यह विचार फैला हुआ था कि वे भारत से ही आते हैं। केवल कल्पना जगत् में ही भारत के बारे में यह विचार न था, वास्तविकता भी यही थी कि सभ्यता के आदि युग में ही भारत ने धातु उद्योग तथा यन्त्र निर्माण में अभूतपूर्व प्रगति कर ली थी एवं यहाँ के अस्त्र-शस्त्र और अन्य यन्त्र दूर-दूर बिकने को जाते थे। भारत को सारा संसार कुबेरागार तो मानते ही थे। वास्तव में ही भारत उन युगों में संसार भर में सर्वाधिक सम्पन्न देश था। अपनी उर्वरा भूमि के कारण, अपने उद्योग-धन्धों तथा कला-कौशल के कारण इसके धन का कोई पारावार न था। दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में भी यह संसार भर में प्रथम स्थान रखता था। दूर-दूर के देशों से सहस्रों की संख्या में विद्यार्थी यहाँ विद्या लाभ करने आते थे। जिस प्रकार आज यूरोप और अमरीका में अन्य देशों के विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए जाते हैं उसी प्रकार उन दिनों वे भारत आया करते थे। विज्ञान के अनेक मूलभूत सिद्धान्त भारत से ही संसार में फैले थे।

राजनैतिक क्षेत्र में उसकी महत्ता कम न थी। गणराज्यों में अनेक प्रकार

की राजनैतिक संस्थायें वर्त्तमान थीं। उनमें लोकतन्त्रात्मक प्रणाली भी थी और प्रतिनिधि प्रणाली भी। बौद्ध संघ ने अपनी कार्य-प्रणाली इन्हीं गणतंत्रों की शासन-प्रणाली के अनुरूप बनायी थी। यहाँ की धर्म संघ की कार्य-प्रणाली के आधार पर ही बाद में ईसाई धर्म संघ की कार्य-प्रणाली किसी सीमा तक बनी और उसी ईसाई धर्म संघ की प्रणाली का ही संसदीय प्रणाली पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। अपनी पंचायत प्रणाली के कारण तो भारत के स्थानीय प्रदेशों में जनतन्त्रात्मक व्यवस्था अंग्रेजों के आने तक बनी रही।

कहाँ तो उसका जगत में यह महान् स्थान था और कहाँ सहसा वह विदेशियों के पैरों के नीचे दबकर कुचला जाने लगा। इस राजनैतिक पराभव की कथा भी हमारे हृदय को मथ देती थी। इसी दिल्ली के पास ही तो हमारे राष्ट्रीय पतन की भूमिका प्रारम्भ हुई थी। यहीं तो विदेशियों ने अड्डा जमाया था एवं अपना दलबल इकट्ठा कर भारत के अन्य प्रदेशों पर अपना राज्य फैलाना आरम्भ किया था। यही दिल्ली तो अभारतीयता का एक दिन प्रतीक बन गयी थी।

इतिहास ने पुनः करवट बदली थी। दासता रात्रि का अंधकार समाप्त हो चुका था और भारत के प्रत्येक प्रदेश से प्रतिनिधि इस संविधान सभा में भावी भारत की रूपरेखा बनाने के लिए एकत्रित हुए थे। भारत के इस अनोखे इतिहास में यह घटना भी अनोखी थी, क्योंकि इसके पूर्व कदाचित् ही ऐसी कोई सभा हुई हो जिसमें भारत के प्रत्येक प्रदेश, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक जाति के लोग इतने महान् कार्य का सम्पादन करने एकत्रित हुए हों। इस सभा के समक्ष हमारा सारा अतीत इतिहास इस अपेक्षा से खड़ा प्रतीत होता था कि देखें यह सभा भारत को किस ओर अग्रसर करती है। हमारे पूर्वज इस सभा में अदेह भी वर्त्तमान प्रतीत होते थे और सभा के सदस्यों से अपेक्षा करते थे कि वे अपने कर्त्तव्य के गौरव को पहचानकर, इतिहास की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर और भारत के अमर सन्देश को आत्मसात् करके ही भारत को आगे का पथ दिखायेंगे और भावी भारत को उसी गौरव का अधिकारी बनायेंगे जो उसने सुदूर अतीत में अपने परिश्रम तथा

अपनी साधना से प्राप्त किया था।

वास्तव में ही इस सभा के समक्ष महान् कार्य था। इसे भारत को ऐसा राजनैतिक तन्त्र प्रदान करना था जो भारत की उन सब संकटों एवं आपत्तियों से रक्षा कर सके, जिनमें पड़कर भारत अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता को भूत काल में खो बैठा था। इसे भारत के राजनैतिक तन्त्र का जनता से ऐसा गठबन्धन करना था जिससे राज्य तथा प्रजा के बीच की ऐतिहासिक दीवार टूट जाय, उनके बीच की ऐतिहासिक खाई पट जाय। इसे भारतीय समाज का ऐसा नियमन करना था कि वह एकता की रज्जु में इस प्रकार बँध जाय कि पुनः टुकड़ों-टुकड़ों में वैसे न बिखर जाय जैसे कि लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व बिखर गया था। इसे नगर और ग्राम में पैदा हुई खाई को भी पाटना था। साथ ही भारत में ऐसा आर्थिक तन्त्र बनाना था जिसमें एक व्यक्ति दूसरे का अनुचित दोहन न कर सके। थोड़े शब्दों में इसे भारत को ऐसे सामूहिक संगठन में बाँध देना था जिसके द्वारा भारत अपनी रक्षा कर सके, अपनी समृद्धि बढ़ा सके, अपना गौरव प्राप्त कर सके।

इस कार्य का सम्पादन करने को यह सभा अग्रसर हुई। इसने तीन वर्ष के परिश्रम तथा विचार-विनिमय के पश्चात् भारत के लिए संविधान बनाया। यह संविधान सन् १९५० की २६ जनवरी को प्रवर्तन में आया और इसके अनुकूल भारत का शासन चलने लगा।

इस संविधान का ब्यौरेवार वर्णन करना यहाँ आवश्यक नहीं है, किन्तु इसके पीछे कौनसी प्रेरक शक्तियाँ थीं, इसके लय में कौनसे मानवी आदर्श थे, इसके निर्माण करने में कौनसे वर्गों का प्रधान हाथ था, इन प्रश्नों के बारे में यहाँ कुछ कहना अनुपयुक्त न होगा।

किसी देश का भी संविधान उसकी जातीय चेतना का बाह्य प्रतीक होता है। अपना जीवन चलाने के लिए नर-नारी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नियमित करते हैं। कालान्तर में प्रत्येक मानव समूह में इन नियमों का पूरा ताना-बाना बुन जाता है और वे सब इसी ताने-बाने से बँधे रहकर अपना जीवन यापन करते हैं। नियमों के इसी ताने-बाने को मैं सामाजिक चेतना का नाम देता हूँ। यह सामाजिक चेतना अनेक दशाब्दियों में बनती है और

प्रत्येक नयी पीढ़ी इसे दाय के रूप में पिछली पीढ़ी से सहज में ही पाती है। राजनैतिक क्षेत्र में इस सामाजिक चेतना का जो व्यक्त रूप होता है उसे हम उस समाज का संविधान कहा करते हैं। उदाहरणार्थ इंगलैंड ने अपने इतिहास के दबाव से राज-काज चलाने के कुछ नियम बना लिये हैं। इनमें से अधिकांश नियम केवल सामूहिक मन में ही अंकित हैं, उसके बाहर किसी पुस्तक या प्रस्तर पर अंकित नहीं हैं। उन्हीं नियमों के अनुकूल वहाँ का राज शासन चलता है और यह किसी एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है कि वह उनका व्यक्तिक्रम कर सके। व्यक्तिक्रम करने का प्रश्न पैदा होता ही नहीं, क्योंकि वहाँ के ९९ प्रतिशत लोगों की सामाजिक चेतना का ही तो वह दूसरा नाम है।

संसार के अन्य देशों ने भी इंगलैंड की इस राजनैतिक चेतना को अपनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु न तो वे सर्वथा उसे अपना ही पाये हैं और न अपना ही सकते थे। कारण स्पष्ट है। इन अन्य देशों की अपनी पुरानी सामाजिक चेतना तो थी ही। उसी चेतना में थेगली की तरह यह उधार ली हुई चेतना लगायी गयी। फल यह हुआ कि यह उन देशों की सामाजिक चेतना में अपना मूल रूप रखते हुए घुल-मिल न सकी, वरन् उस सामाजिक चेतना से मेल खाने में यह पर्याप्तरूपेण परिवर्त्तित होगयी।

भारतीय संविधान सभा का कार्य जिस दिन समाप्त हुआ और स्वतन्त्र भारत के नव-निर्मित संविधान पर हम लोगों ने हस्ताक्षर किये उस दिन की मेरी मानसिक भावनाओं का वर्णन किया जा चुका है। आज भी मुझे इस बात का कम हर्ष नहीं है कि हमारा देश स्वतन्त्र होगया और हमने अपने स्वतन्त्र देश का संविधान बना डाला। इस संविधान के प्रति पूर्ण रीति से वफादार रहना हमारा कर्त्तव्य है।

परन्तु जहाँ तक संविधान के रूप का सम्बन्ध है मुझे यह कहना ही पड़ता है कि भारत की संविधान सभा भारत के संविधान का रूप भारत के अनुकूल नहीं बना पायी। उसने जिन लोगों के हाथ में नवभारत के संविधान के निर्माण का कार्य सौंपा था उनमें अधिकांश लोग भारतीय ऐतिहासिक चेतना से लगभग अपरिचित ही थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा बाल्यकाल से ही अंग्रेजी

में हुई थी और वह भी अंग्रेजी आदर्शों के अनुसार । अपने रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार में वे पूर्णतः अंग्रेज थे । उनका यह अडिग विश्वास था कि अंग्रेजी राजनैतिक आदर्श ही मानव-जाति के परम कल्याण के उचित साधन हैं और उन्हीं के अपनाने में भारत का भावी कल्याण है। सच तो यह है कि ये लोग नाम को ही भारतीय थे, नहीं तो उनके अंग्रेज होने में कोई कमी या कसर थी ही नहीं । यहाँ तक कि ये लोग भारत की किसी जनवाणी में अपने विचार व्यक्त करने में भी असमर्थ थे । अतः उनके विचार में यह बात आयी भी नहीं, आ सकती भी नहीं थी, कि भारत का भावी विधान भारत की पिछली ऐतिहासिक अनुभूति एवं चेतना के आधार पर ही निर्मित होना चाहिए । यहाँ मैं स्पष्ट कर दूँ कि मेरे विचार में यह प्रश्न सर्वथा भ्रममूलक है कि अंग्रेजी सामाजिक चेतना श्रेष्ठ है या भारतीय । सामाजिक चेतना की श्रेष्ठता और निम्नता का प्रश्न तो तब पैदा हो सकता है जब आम या जामुन की तरह एक देश की चेतना दूसरे देश को निर्यात की जा सकती, किन्तु वस्तुओं के आयात-निर्यात के समान ही सामाजिक चेतना का आयात-निर्यात नहीं हो सकता । यह कहने से मेरा यह आशय नहीं है कि हम विदेशों की कोई बात नहीं सीख सकते या हमें नहीं सीखना चाहिए । हम इन्हें सीख सकते हैं, किन्तु व्यक्तिगत दृष्टि से न कि सामूहिक दृष्टि से ; भारत के कुछ व्यक्ति अंग्रेजी ढंग का रहन-सहन, खान-पान सीख सकते हैं, किन्तु यदि कोई यह कहे कि समस्त भारत को वह रहन-सहन, खान-पान अपना लेना चाहिए, क्योंकि वह भारतीय रहन-सहन, खान-पान से अधिक कल्याणकर है, तो उसका यह वचन थोथी बात के अतिरिक्त और कुछ न होगा । किसी देश की सामूहिक चेतना में जो परिवर्त्तन भी होता है या हो सकता है वह राष्ट्रव्यापी आवश्यकता के आधार पर ही हो सकता है । यदि राष्ट्र के समक्ष किसी क्षण ऐसी आवश्यकता आ पड़ती है कि उसका नये ढंग से हल किये बिना राष्ट्रीय जीवन नहीं चल सकता तभी वह सामाजिक चेतना उस नये ढंग को अपनाती है अथवा नहीं । किन्तु इस राष्ट्रव्यापी आवश्यकता का अनुभव पूरी जातियों और उसके अधिकांश लोगों को होना चाहिए । यदि कुछ ही लोग उस आवश्यकता का अनुभव करते हैं तो वे क्रान्ति के अग्रदूत भले ही

बन जायें वे राष्ट्रीय सामाजिक चेतना को नहीं बदल सकते। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस सामाजिक चेतना का थोड़े अंश में ही परिवर्त्तन होता है, अधिक भाग तो वैसे का वैसा ही बना रहता है। अतः किसी समय यह प्रश्न पैदा होता ही नहीं कि एक जाति की सामाजिक चेतना दूसरी जाति की सामाजिक चेतना से पूर्णतः और निरपेक्ष रूप से श्रेष्ठ है। प्रत्येक जाति की ऐतिहासिक चेतना उस जाति के जीवन को बनाये रखने के प्रयास में ही तो बनती है। अतः उस जाति के जीवन के सब पहलुओं की दृष्टि से वह सामाजिक चेतना उसके लिए श्रेष्ठ और कल्याणकर होती ही है। अन्य जाति की सामाजिक चेतना उस अन्य जाति के लिए कितनी ही कल्याणकर क्यों न सिद्ध हुई हो वह दूसरी जातियों के लिए उतनी ही कल्याणकर सिद्ध हो ही नहीं सकती। अतः विभिन्न जातियों की सामाजिक चेतना की तुलना करना इस ऐतिहासिक तथ्य के प्रति आँखें मूँद लेना है।

इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि जाति विशेष की सामाजिक चेतना में किसी क्षण कोई दोष होता ही नहीं। दोष होता है और उसी तरह से होता है जिस प्रकार प्रत्येक मानव-शरीर तथा प्रत्येक मन में दोष होता है। यह दोष तब पैदा होता है जब चेतना या शरीर का कोई अवयव या अंग नयी परिस्थितियों के अनुरूप नहीं हो जाता। उदाहरणार्थ जब कड़ाके की सर्दी में शरीर अपना उचित तापमान रखने में असमर्थ हो जाय तो निमोनिया हो ही जायगा। इसी प्रकार जब किसी जाति की सामाजिक चेतना उसकी अपनी आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप नहीं रहती तब वह जाति की भावी प्रगति के हेतु दोषमय हो जाती है। सामाजिक चेतना को इन आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल करते रहने में ही जाति की प्रगति होती है और वैसा करने में ढील डालने से जाति का पतन होता है। परन्तु आर्थिक परिस्थितियों के प्रति अनुरूपता का यह अर्थ नहीं है कि अन्य जाति की चेतना को यथावत् अपनाने का निरर्थक प्रयास किया जाय। भारत के जो लोग अंग्रेजी संस्कृति के दूध पर ही पले थे और जिनके मन में भारतीय ऐतिहासिक चेतना प्रवेश न कर पायी थी उनके लिए यह समझना भी कठिन था कि वे ऐसी कोई बात कर रहे हैं जो सामाजिक चेतना के सर्वथा अनुकूल नहीं है।

वे तो अपनी चेतना के अनुकूल ही संविधान बना रहे थे और उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे यह समझें कि वही संविधान भारत के लिए उचित है। जो हो भारत के संविधान के प्रारूप को तैयार करने का कार्य ऐसे ही लोगों के सुपुर्द हुआ।

सम्भवतः ऐसा होना अनिवार्य भी था। लगभग ६ पीढ़ी से शिक्षित भारतीय अंग्रेजी संस्कृति, अंग्रेजी इतिहास, अंग्रेजी साहित्य के दुग्ध पर पल रहे थे अतः जितने भी शिक्षित भारतीय थे वे किसी न किसी सीमा तक अंग्रेजों के ही अनुयायी थे। कुछ तो पूर्णतः अंग्रेज हो गये थे, किन्तु अन्यों में से कुछ में ९९ प्रतिशत, कुछ में ९० प्रतिशत, कुछ में ८० प्रतिशत, कुछ में ६० प्रतिशत, कुछ में ५० प्रतिशत, कुछ में २५ प्रतिशत अंग्रेजी सामाजिक चेतना वर्त्तमान थी। कम से कम संविधान सभा में ऐसा कोई भारतीय न था जिसमें अंग्रेजियत किसी न किसी अंश में वर्त्तमान न रही हो। इन पंक्तियों का लेखक भी संविधान सभा का सदस्य था। उसकी सामाजिक चेतना में भी किसी न किसी सीमा तक अंग्रेजियत का अंश वर्त्तमान है। इसके अतिरिक्त भारतीय राजनैतिक क्रान्ति के भी अग्रगणी ऐसे ही लोग थे।

अतः उन्होंने भारतीय संविधान के प्रारूप को यथासम्भव इंगलैंड के ही संविधान के अनुरूप रखा। स्वभावतः उन्होंने उसका प्रारूप भी अंग्रेजी भाषा में ही बनाया। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने तो यह विचार अवश्य व्यक्त किया कि स्वतन्त्र भारत का संविधान भारत की ही भाषा में बने, किन्तु जिन लोगों को यह प्रारूप बनाना था वे तो भारतीय भाषाओं से लगभग अपरिचित ही थे ; साथ ही वे यह भी समझते थे कि भारतीय भाषाओं में उन राजनीतिक तथ्यों एवं आदर्शों को व्यक्त नहीं किया जा सकता जो इंगलैंड के संविधान में बुने हुए हैं। अतः वे यह अनिवार्य मानते थे कि स्वतन्त्र भारत का संविधान केवल अंग्रेजी में ही बनाया जा सकता है। हो सकता है कि कुछ लोगों को यह ऐतिहासिक विडम्बना लगे कि स्वतन्त्र भारत का संविधान भारत की वाणी में न होकर इंगलैंड की बोली में हो। किन्तु जिन लोगों ने इस बात पर लेशमात्र भी विचार किया है कि भारतीय राजनैतिक क्रान्ति के अधिकांश अग्रणी कौन लोग थे, उन्हें यह बात विडम्बना

नहीं लग सकती। मैं कह चुका हूँ कि भारतीय राजनैतिक क्रान्ति में अधिकतर अग्रगणी वे ही लोग थे जो अंग्रेजी संस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित थे। यह होना भी अनिवार्य था। अंग्रेजों ने समस्त शिक्षा-पद्धति में अंग्रेजी का ही एकाधिपत्य स्थापित कर दिया था। फलतः उन लोगों के सिवा जो गैरसरकारी तथा जनता के ही चन्दे से चलने वाली पाठशालाओं एवं मकतबों में न पढ़े थे अन्य शिक्षित भारतीय अंग्रेजी के रंग में रंगे हुए थे और अंग्रेजियत से प्रभावित थे। शिक्षित वर्ग में इन्हीं लोगों का बोलबाला था। अतः भारत का शिक्षित वर्ग अंग्रेजी में ही सोचता है और अंग्रेजी में ही अपने विचार अधिक आसानी से व्यक्त कर सकता है। ऐसी स्थिति में यह आश्चर्य की बात नहीं कि स्वतन्त्र भारत का संविधान का प्रारूप अंग्रेजी में बना। हाँ, यह लज्जा की बात अवश्य है। इन पंक्तियों के लेखक का यह विश्वास है कि यदि अंग्रेजियत से पूर्णतः ओत-प्रोत लोगों के हाथ ही यह कार्य न सौंप दिया जाता, यदि भारतीय संस्कृति से प्रभावित लोगों के हाथ में भी इस कार्य का भार होता तो कोई कारण नहीं है कि स्वतन्त्र भारत का संविधान भारत की जनवाणियों में क्यों न बन सकता। यदि आयलैंड अपना संविधान मृतप्राय गैलिक भाषा में बना सकता है तो कोई कारण नहीं कि भारत अपनी सजीव बोलियों में अपना संविधान बना सकता। भाषा की दृष्टि से ही यह संविधान विदेशी नहीं है वरन् अन्तर्वस्तु की दृष्टि से भी यह लगभग विदेशी ही है।

हमारे संविधान का ढाँचा सन् १९३५ के गवर्नमैंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट से लिया गया है। अनेक अनुच्छेदों की भाषा भी उसी अधिनियम की भाषा की प्रतिध्वनि है। कैसी अजीब बात है यह कि जिस अधिनियम को भारतीय राष्ट्रवादी चिमटे के छोर से भी न छूना चाहते थे वही अधिनियम भारतीय संविधान का मुख्य आधार बने। किन्तु कभी-कभी वास्तविकता कल्पना से भी अनोखी होती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि शुद्ध राजनैतिक दृष्टि से संविधान के ये अंश कुछ हेय हैं। सच बात तो यह है कि भारतीय शासन की एक प्रमुख समस्या यह है कि किस प्रकार महाद्वीप के लगभग विशाल देश के अनेक भाषा-भाषी, अनेक धर्मावलम्बी, अनेक आचार-विचार वाले लोगों को एक राजनैतिक सूत्र में बाँधा जाय। अंग्रेजों ने इस समस्या

का हल सारी राजनैतिक शक्ति को एक केन्द्र तथा एक परिषद् में संकेन्द्रित करके किया था। उन्होंने प्रान्त बनाये, उनके शासक एवं शासन भी रखे। किन्तु ये प्रान्त और ये शासक सभी गवर्नर-जनरल के पूर्णतः मातहत थे। गवर्नर-जनरल उन्हें जो भी आदेश देता उसका पालन करने को वे बाध्य थे। इसके अतिरिक्त उनके शासन में एकता इस हेतु भी थी कि शासक वर्ग के अधिकांश कर्मचारी तथा सदस्य अंग्रेज जाति के ही होते थे एवं वे अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति ही निष्ठावान् रहते थे। ये अंग्रेज कर्मचारी जानते थे कि उनकी अपनी अलग कोई सत्ता और शक्ति नहीं है। वे भारत में तभी तक शासक हैं जब तक वे सब मिलकर शासन चलाते हैं। यदि वे अपनी ढपली पर अपना राग शुरू करेंगे तो वे सब एक-एक करके मारे जायँगे। इस सत्य को न तो पठानों ने और न मुगलों ने पहचाना था। उनके शासक वर्ग के विभिन्न लोग अपनी ही शक्ति को बटाने में लगे रहते थे। फलतः वे पारस्परिक संघर्ष से इतने क्षीण बल हो गये कि सहज में ही दूसरों द्वारा परास्त कर दिये गये। जिन भारतीयों को अंग्रेजों ने शासन में लिया था उन्हें भी उन्होंने भारतीयों से इतना अलग कर दिया था कि ये भारतीय अपना कल्याण अंग्रेजों का साथ देने में ही समझते थे। अतः समस्त भारत के राजकर्मचारी साम्राज्य के प्रति निष्ठा की एकसूत्रता में बँधे हुए थे। राजकर्मचारियों का यह लौह ढाँचा और गवर्नर-जनरल में सब राजनैतिक शक्ति का संकेन्द्रण ये दो बातें थीं जिनसे अंग्रेजों ने भारत की विभिन्न जातियों की अलग बिखर जाने की प्रवृत्ति को रोका था। एक अन्य तरीका भी हो सकता है जिसे महात्मा गान्धी अपनाना चाहते थे। वे चाहते थे कि भारत की ये विभिन्न जातियाँ परस्पर कल्याण के हेतु एक सूचित हो जायँ। किन्तु वे ऐसा तभी कर सकती हैं जब उनका यह गठबन्धन स्वेच्छा से हो तथा इस जानकारी के आधार पर हो कि इस गठबन्धन में ही उन सब का कल्याण है। इसी दृष्टि से उन्होंने कांग्रेस का संगठन भाषा-वार प्रान्तों के आधार पर बनाया था तथा उन सब को स्वतन्त्रता के युद्ध में एकत्रित किया था। किन्तु स्वातन्त्र्य-संग्राम के पश्चात् क्या ऐसी कोई बात थी जिसकी प्रबल प्रेरणा से ये सब विभिन्न प्रदेश एक सूत्र में बँधे रहना पसंद करें। जिन दिनों संविधान बन रहा था उन दिनों इस प्रश्न का उत्तर देना

सहज न था। किसी कारण से क्यों न हो उन दिनों धार्मिक विभेद और विद्वेष अत्यन्त तीव्र हो गया था। इसके अतिरिक्त राजनैतिक शक्ति के लिए कांग्रेस के ही अन्दर विभिन्न नेताओं में कशमकश पैदा हो गयी थी। आर्थिक उन्नति की प्रेरणा इतनी बलवती न हुई थी कि उससे दूसरी सब प्रेरणाएँ दब जायँ। अतः यह पूरा भय था कि कहीं इन विभाजक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप भारत फिर छोटे-छोटे टुकड़ों में न बट जाय। इनसे भी कहीं अधिक भयंकर देशी राजाओं की महत्त्वाकांक्षाओं की समस्या थी। देश में लगभग ६ सौ देशी राज्य थे जिनमें से कुछ बड़े थे, शेष अत्यन्त छोटे। इन देशी राज्यों के शासकों के पूर्वज कभी भारत के राजनैतिक भाग्यविधाता रहे थे इस कारण यह बात स्वाभाविक थी कि ये लोग भी यह स्वप्न देखें कि भारत का राजनैतिक भाग्य पुनः उनके हाथ में आ जाय। अतः यह भी भय था कि कहीं इन शासकों की महत्त्वाकांक्षा के कारण भारत की रही-सही एकता छिन्न-भिन्न न हो जाये। ऐसी परिस्थितियों में यह आवश्यक-सा था कि स्वतन्त्र भारत की भारतीय राजनैतिक एकता का आधार वे ही दो साधन बनाये जायँ जिन्हें, अंग्रेजों ने इस हेतु अपनाया था। इसके परिणामस्वरूप संविधान में पूर्ण प्रभुता संघ सरकार में निहित की गयी और राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान की गयी कि किन्हीं आपद अवस्थाओं में वे समस्त देश का शासन सँभाल लें और यदि किसी प्रान्त विशेष का शासन संविधान के अनुकूल न चल सके तो उसे भी अपने हाथ में ले लें। इन्हीं दो बातों के कारण भारत के राष्ट्रवादियों ने १९३५ के ऐक्ट का विरोध किया था। उस समय इन दो बातों का अर्थ यह था कि भारत पर अंग्रेजों का पूरा प्रभुत्व रहे; स्वतन्त्र भारत में इन दो बातों का यह अर्थ था कि सब अराजक शक्तियों पर राष्ट्रीयता का पूर्ण प्रभुत्व रहे। किन्तु यह तो मानना पड़ेगा ही कि ये दोनों बातें उन सिद्धान्तों के अनुरूप न थीं जिन्हें महात्माजी मानते थे। उनका तो यह मत था कि प्रत्येक प्रदेश तथा जाति स्वेच्छा से भारत का अंग रहे। इसके लिए प्रत्येक प्रदेश का शासन वहाँ के लोगों के हाथ में हो और वहीं के लोगों की भाषा में चले। संविधान में इन बातों को सर्वोपरिता न दी जा सकी। हाँ, इतना विधान अवश्य किया गया कि राष्ट्रपति संघाधीन राज्य क्षेत्र में से कोई नया प्रान्त निर्माण कर सकेंगे या

किसी विद्यमान प्रान्त को बाँट सकेंगे। यह विधान इसीलिए किया गया था कि आवश्यकता पड़ने पर भाषावार प्रान्तों का निर्माण किया जा सके।

भारतीय संविधान १६३५ के ऐक्ट की तो बहुत अंश में प्रतिलिपि थी ही, अन्य अंशों में भी वह इंगलैंड के संविधान की प्रतिलिपि बना। अनेक लोगों को यह बात दिल से पसंद न थी, किन्तु कुछ तो नेताओं के आदेश से और कुछ परिस्थितियों के दबाव से उन्होंने इस पर कोई विशेष आपत्ति न की।

संविधान ने कुछ मूलभूत अधिकारों के सम्बन्ध में भी विधान किया। इन अधिकारों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता, समता और सामाजिक न्याय को विशिष्ट स्थान दिया गया। समता के सिद्धान्त के विरुद्ध होने के नाते इसने अस्पृश्यता को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया। नर-नारियों को समान अधिकार प्रदान किये। किन्तु इन सब अधिकारों को भी पर्याप्त रूप से घेर दिया गया। ऐसा करना भी कुछ अनिवार्य ही था। भारत की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों में इस बात का पूरा भय था कि कहीं इन अधिकारों की ओट में कुछ लोग ऐसे कार्य न करें जो समस्त भारत के लिए अहितकर हों अतः यह विधान किया गया कि राज्य इन अधिकारों के प्रयोग पर युक्ति-युक्त नियन्त्रण लगा सकेगा। अतः एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान राज्य के स्थायित्व की दृष्टि से उचित ही है।

किन्तु मुझे यह लगता है कि राजनैतिक स्थायित्व के लिए यह भले ही उचित हो, भारतीय राज्य-क्रान्ति के आदर्शों को पूर्णतः फलीभूत करने का यह प्रभावशाली साधन नहीं है। मेरा यह मत तीन बातों के कारण है। पहली बात तो यह है कि यह ऐसी भाषा में है जिसे जनता न तो आज समझती है और न सहस्रों वर्ष पश्चात् ही समझेगी। इसने अंग्रेजी भाषा-भाषी वर्ग के हाथ में सारी राज-सत्ता सौंप दी है। जहाँ तक प्रशासन और न्यायालयों का सम्बन्ध है वहाँ तो अंग्रेजी न जानने वालों के लिए कोई प्रवेश है ही नहीं। इन पर तो अंग्रेजी जानने वालों का ही एकाधिपत्य है और भगवान जाने कब तक रहेगा क्योंकि १५ वर्ष की अवधि हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रयोग करने के लिए ही है न कि उसे न्यायालयों की भाषा बनाने के हेतु। राजतन्त्र को अंग्रेजी वर्ग को ही सौंप देने का यह परिणाम हुआ है कि भारत का साधारण

जन अब तक यह अनुभव नहीं कर पाया कि यह राज्य उसी का है एवं उसी के कल्याण के लिए है। राज्य तथा जनता के बीच की खाई को दूर करने का जो आदर्श भारतीय राजनैतिक क्रान्ति का था उसे यह पूरा नहीं कर पाया है।

दूसरी बात जिसके कारण यह क्रान्ति का साधन नहीं हो सकता यह है कि इसने भारतीय नौकरशाही को ऐसे विशेषाधिकार दे दिये हैं जो जन-हित के लिए कल्याणकर नहीं हैं। आज भी यह संभव नहीं है कि किसी सरकारी नौकर के किसी अनधिकारपूर्ण एवं अत्याचारी कार्य के विरुद्ध कोई कार्रवाई सरकार की अनुमति के बिना की जा सके। साधारणतः यह अनुमति नहीं मिलती। अतः जनसाधारण के लिए यह संभव नहीं है कि वे सरकारी कर्मचारियों के अत्याचार के विरुद्ध समुचित न्यायिक कार्रवाई कर सकें। कहा तो यह जाता है कि हमारा संविधान इंगलैंड के संविधान के अनुरूप है, किन्तु इंगलैंड के संविधान का प्रधान आधार जनता का यह अधिकार है कि वह किसी भी सरकारी कर्मचारी के अनधिकारी कार्य के खिलाफ उस कर्मचारी पर मुकदमा चला सकता है और उससे हरजाना वसूल कर सकता है। इसी अधिकार के कारण वहाँ के राजकर्मचारी कोई अनधिकारी कार्य करने से सर्वदा बचते रहते हैं। किन्तु भारत में इस अधिकार के न होने के कारण भारत के सरकारी कर्मचारी कभी मनमानी करने से नहीं डरते। इंगलैंड में किसी हद तक विधि का वास्तविक राज्य है, परन्तु भारत में आज भी नौकरशाही का ही राज्य है।

तीसरी बात जिससे मैं इस संविधान को क्रान्ति का साधन नहीं समझता यह है कि इसने निहित हितों को पर्याप्त रक्षण दे दिया है और उनका उन्मूलन करने के लिए संसद् को पर्याप्त शक्ति प्रदान नहीं की है।

पर इन सब कमियों के बावजूद इतना तो स्पष्ट है ही कि यह संविधान भारत में राजनैतिक स्थायित्व, राजनैतिक एकता एवं किसी सीमा तक सामाजिक न्याय की स्थापना का साधन सिद्ध हुआ है, और सर्वोपरि वह एक स्वतन्त्र देश का संविधान है, जिसे हमने शताब्दियों के बाद प्राप्त की है। फिर हमारा यह संविधान इतने बड़े देश में बालिग मताधिकार पर लोकतन्त्र की स्थापना करता है। मानव इतिहास में इतना बड़ा लोकतन्त्र संसार में कभी स्थापित

नहीं हुआ। पश्चिम के एक प्रसिद्ध विद्वान् ल्यूइस एच० मारगन ने एक स्थान पर लिखा है—

"सरकार में लोकतन्त्र, समाज में भ्रातृत्व, अधिकारों एवं विशेषाधिकारों में समता एवं सार्वभौम शिक्षा समाज के उस उच्च स्तर के प्रतीक हैं जिसकी ओर मानवीय अनुभव, बुद्धि एवं ज्ञान निरन्तर क्रियाशील रहते हैं।"

संसार के सबसे पुराने छः देश हैं, मिश्र, यूनान, चीन, मेसोपुटेमियाँ, बैबोलोनियाँ और भारत। मेसोपुटेमियाँ और बैबोलोनियाँ का आज के संसार में कोई स्थान नहीं है। मिश्र और यूनान की प्राचीन सभ्यता अब वहाँ के खण्डहरों और अजायबघरों में ही रह गयी है। चीन की प्राचीनता पर भारत का बहुत प्रभाव पड़ा है और अब तो वहाँ साम्यवादियों के नेतृत्व में एक नयी सरकार स्थापित हुई है, जिसके प्रभाव में नये चीन का निर्माण हो रहा है। दुनियाँ के पुराने देशों में केवल भारत ही ऐसा है जिसकी संस्कृति और सभ्यता में अभी भी प्राचीन परम्परा मौजूद है। यातायात के आधुनिक शीघ्रगामी साधनों के कारण इस काल का संसार बहुत छोटा हो गया है और आधुनिक विनाशकारी युद्ध के साधनों के कारण भावी युद्ध के भय से काँप रहा है। ऐसे समय में महात्मा गान्धी ने भारत को सत्य और अहिंसा के मार्ग से स्वराज्य दिला दुनियाँ को त्राण का एक नया रास्ता दिखाया है। स्वतन्त्र भारत का जो संविधान बना है उसमें चाहे आधुनिक संविधानों की पूरी छाया क्यों न हो, उसमें चाहे वे सब दोष भी विद्यमान हों जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, फिर भी उसमें भारत की प्राचीन परम्परा और गान्धी-वाद के तत्त्वों के बीज भी मौजूद हैं। श्री मारगन के उपर्युक्त कथन के अनुसार इस देश की समाज-रचना एवं संसार की ऐसी समाज-रचना में इस बूढ़े भारत का यह नया संविधान उचित योग दे सके यही भगवान से मेरी प्रार्थना है।

हिन्दी आन्दोलन पर एक दृष्टि

भारत से अंग्रेजों के हट जाने के पश्चात् लोगों के मन में यह बात पैदा होनी स्वाभाविक थी कि अब राज-काज देश की बोली में ही चलेगा, किन्तु ऐसा न हुआ। संसार के इतिहास में और विशेषतः राष्ट्रीय राज्य-क्रान्तियों के इतिहास में यह बात अनोखी थी। जहाँ कहीं भी विदेशी शासकों के विरुद्ध सफल राज्य-क्रान्ति हुई थी वहीं विदेशियों के हटने के तुरन्त पश्चात् ही देश की भाषा में ही राजकाज चलना आरम्भ हो गया था। भूत काल की बात जाने भी दें इसी युग में बर्मा में भी यही बात हुई। बर्मा भी लगभग उन्हीं दिनों स्वतन्त्र हुआ जब कि भारत स्वतन्त्र हुआ। स्वतन्त्रता के दूसरे दिन से ही बर्मी लोगों ने अपनी भाषा में राजकाज चलाना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु भारत में यह न हुआ। आखिर क्यों ?

साधारणतः इस प्रश्न का यह उत्तर दिया जाता है कि भारतीय भाषाओं में यह क्षमता नहीं है कि आधुनिक विज्ञान या संस्थाओं के लिए सफल साधन या माध्यम बन सकें ; उनमें वैज्ञानिक विचारों तथा तथ्यों को व्यक्त करने के हेतु पर्याप्त शब्द भी नहीं हैं। अतः उन भाषाओं को राजकाज की भाषा बनाने का यह अनिवार्य फल होगा कि भारत वैज्ञानिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में पिछड़ जायगा।

दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि भारत बहु भाषा-भाषी देश है। इस बहु भाषा-भाषी देश में अब तक अंग्रेजी ही एकता का साधन रही है। चाहे कोई भारतीय किसी प्रदेश का रहने वाला क्यों न हो अंग्रेजी की सहायता से उसके लिए यह सम्भव है कि देश के कोने-कोने में किसी भाषाजन्य कठिनाई के बिना घूम आये। हर प्रदेश में अंग्रेजी जानने वाले लोग मिल जायेंगे, उनकी सहायता से ऐसे यात्री का काम सहज में चल जायगा। साथ ही यदि किसी भारतीय भाषा को राज्य भाषा बनाया गया तो अन्य भाषा-भाषियों के लिए वह अंग्रेजी के समान ही विदेशी रहेगी, किन्तु उस भाषा के बोलने वालों को

यह विशेष सुविधा मिल जायगी कि अपनी भाषाजन्य योग्यता से वह राज्यतन्त्र पर छा जायँ। अतः सब भारतीयों को प्रशासन क्षेत्र में एक सी ही सुविधा प्रदान करने के लिए अंग्रेजी बनाये रखना आवश्यक है।

तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि जब भारत राजनैतिक क्षेत्र में अंग्रेजी संविधान को अपना रहा है, जब सामाजिक क्षेत्र में वह अंग्रेजी मूल्यों को अपना रहा है तब यह भी आवश्यक है कि इन मूल्यों और आदर्शों के शाब्दिक साधन अंग्रेजी को भी अपना लिया जाय। किसी भारतीय भाषा को अपनाने से ये सब आदर्श हम उस सुगमता से न पा सकेंगे जैसे कि हम अंग्रेजी के माध्यम द्वारा पा सकते हैं। साथ ही यह भी कहा जाता है कि अंग्रेजी तो अब अंग्रेजों की ही भाषा नहीं है वह तो संसार-भाषा है और इस संसार-भाषा के बोलने वालों की पर्याप्त संख्या भारत में भी है। अतः अंग्रेजी पर जितना अंग्रेजों का अधिकार है उतना ही भारतवासियों का भी है; उसे विदेशी भाषा कह कर घृणा करना संकुचित मनोवृत्ति का द्योतक है; जो अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतन्त्रता संग्राम में चाहे किसी सीमा तक उपयोगी रही हो, स्वतन्त्रता के पश्चात् तो उपयोगी रही नहीं है। अब तो इसी बात में भारत की भलाई है कि वह इस संसार-भाषा के माध्यम द्वारा संसारव्यापी विज्ञान और साहित्य का पूरा-पूरा लाभ उठाये।

इन तर्कों को सुन कर मैं बहुधा यह सोचा करता हूँ कि अपनी स्वार्थ साधना को लोग कैसे जन-कल्याण का रूप दे दिया करते हैं। यह कहावत है कि अंग्रेज जाति अपने निजी स्वार्थों को सर्वदा विश्व कल्याण का रूप देती रही है। बर्नार्ड शॉ ने अपने नाटक 'दि मेन ऑफ डेस्टिनी' में एक जगह नेपोलियन से कहलाया है—"कोई चीज न इतनी बुरी है और न इतनी अच्छी है जिसे अंग्रेज न करते हों। अंग्रेज कोई चीज कदापि गलत नहीं करता ; हर चीज किसी न किसी सिद्धान्त पर करता है। वह देश-भक्ति के सिद्धान्तों पर लड़ता है और व्यापारिक सिद्धान्तों पर लूटता है। वह साम्राज्यवादी सिद्धान्तों पर गुलाम बनाता है और मर्दानगी के सिद्धान्तों पर धमकाता है। अपने राजा का राजभक्ति के सिद्धान्तों पर समर्थन करता है और प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर गला काटता है। उसका सांकेतिक शब्द 'सदाकर्त्तव्य' रहता

है और वह यह बात कभी नहीं भूलता कि जो राष्ट्र अपने हितों के विरुद्ध अपने किसी भी कर्त्तव्य का पालन करता है वह समाप्त हो जाता है।"

ऐसी हालत में यदि अंग्रेजों के ये मानसिक भारतीय वंशज अपने निजी वर्गीय स्वार्थों को भारत के कल्याण के बाने में हमारे सामने रखें तो कोई अचरज की बात नहीं।

सच बात यह है कि अंग्रेजों के भारत छोड़ने के समय अंग्रेजी जानने और बोलने वाला वर्ग ही भारत के राष्ट्रीय जीवन के सब क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन था, उसी का एकाधिपत्य प्रशासन में था, उसी के सदस्य भारतीय राजनैतिक क्रान्ति के भी अग्रगणी थे। अतः स्वभावतः अंग्रेजों के हाथ से छूटने वाला राजनैतिक सूत्र इसी वर्ग के हाथ लग गया और अंग्रेजों के स्थान में वही भारत का शासक बन बैठा। यह तो स्पष्ट है कि शासन पर उसका यह एकाधिपत्य तभी तक है जब तक अंग्रेजी ही भारत की राजभाषा रहती है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि अंग्रेजी जानने वालों का यह वर्ग यह सिद्ध करने का पूरा प्रयास करे कि भारत के भावी कल्याण के हेतु यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत का सारा काम-काज अंग्रेजी में ही चलता रहे तथा उन लोगों को यह प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक, पोंगा पन्थी इत्यादि की संज्ञा प्रदान करे जो अंग्रेजी को अपदस्थ करके भारत का काम-काज भारतीय जनवाणियों के माध्यम द्वारा चलाना चाहते हैं।

अंग्रेजी वर्ग के लोगों को उन लोगों की प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न सहायता मिलती है, जो चाहे अंग्रेजी के भक्त न हों, किन्तु जो भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत और उसकी बेटियों से चिढ़ते हैं। भारत में ऐसे लोगों का वर्ग इसलिए है क्योंकि पठान और मुगलों के युग में भारत में अरबी और फारसी मिश्रित एक वर्णशंकर बोली का जन्म हुआ जिसे उर्दू कहते हैं। जैसे अंग्रेजी साम्राज्यवादिता का साधन और माध्यम थी उसी प्रकार उर्दू पठान और मुगल साम्राज्यवादिता का माध्यम और साधन थी। आज अंग्रेजी वर्ग की ही तरह उर्दू वर्ग वाले यह कहते फिरते हैं कि उर्दू भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतीक और साधन है, क्योंकि उसका जन्म हिन्दू-मुस्लिम मिलन के कारण ही हुआ था, किन्तु वे लोग यह नहीं बताते कि यह हिन्दू-मुस्लिम मिलन मुगल साम्राज्यवादिता के दबाव से हो रहा

था न कि स्वेच्छा से और इस अनिच्छा के गठबन्धन का एक साधन ही यह उर्दू भाषा थी। हो सकता है कि मेरी यह बात कुछ लोगों को कड़वी लगे, किन्तु निहित स्वार्थ वालों को सच्ची बात कड़वी लगा ही करती है। चूंकि मुगल साम्राज्यवादिता के ये अवशेष इस बात का भरोसा नहीं रखते कि भारत की राजभाषा उर्दू हो सकती है अतः वे यह प्रयास कर रहे हैं कि कम से कम वे हिन्दी या संस्कृतनिष्ठ अन्य भारतीय भाषाएँ तो न हों। परिहास की बात तो यह है कि ये प्रच्छन्न मुगल साम्राज्यवादी हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के प्रेमियों पर साम्प्रदायिकता का लांछन लगाते हैं और अपने को शुद्ध राष्ट्रीयता से प्रेरित बताते हैं।

इन दोनों वर्गों की साजिश के फलस्वरूप ही यह बात आसान न थी कि किसी शुद्ध भारतीय भाषा को भारत की राजभाषा मनवाया जा सके।

इस बारे में एक और कठिनाई भी थी। भारत में बारह ऐसी भाषाएँ हैं जो पर्याप्त समृद्ध कही जा सकती हैं। स्वभावतः यह नहीं कहा जा सकता कि इन भाषाओं में कौनसी समस्त भारत की राजभाषा बनायी जाय। यह ठीक है कि इन भाषाओं में से केवल हिन्दी ऐसी भाषा है जिसे किसी न किसी रूप में भारत के चौदह करोड़ वासी बोलते और कुछ को छोड़ प्रायः सभी समझते हैं। अन्य भाषाओं के बोलने वालों की संख्या ३५ लाख से लेकर ३ करोड़ तक है। अतः यदि केवल संख्या की दृष्टि से ही कोई निश्चय किया जाय तो यह स्वाभाविक ही है कि भारत की राजभाषा हिन्दी हो; किन्तु केवल संख्या के आधार पर ही तो औचित्य, अनौचित्य, नैतिकता, अनैतिकता के प्रश्नों का हल नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भारतीय भाषाओं में पर्याप्त समृद्ध साहित्य मिलता है जब कि हिन्दी के सम्बन्ध में यह धारणा है कि उसमें वैसा साहित्य या कम से कम वैसा आधुनिक साहित्य नहीं मिलता। साथ ही जब कोई भाषा राजभाषा होती है तो वह अनेक प्रकार के आर्थिक राजनैतिक लाभों का भी साधन हो जाती है। जो लोग हिन्दी भाषा-भाषी नहीं हैं उनके मन में स्वभावतः यह भय होता है कि कहीं हिन्दी के राजभाषा बन जाने से वे लोग हिन्दी वालों की तुलना में उन बातों से किसी सीमा तक वंचित न रह जायें जो राजभाषा द्वारा उपलब्ध हुआ करती हैं। हिन्दी इतर

भाषा-भाषियों की इस मानसिक आशंका को दूर किये बिना भी हिन्दी को राजभाषा नहीं बनाया जा सकता था।

एक और कठिनाई भी इस सम्बन्ध में थी। पूज्य बापू यह बात भली भाँति समझते थे कि भारत में अंग्रेजों का राज्य मुख्यतः इस कारण से जमा कि यहाँ हिन्दू-मुसलमानों के बीच भारी राजनैतिक संघर्ष वर्त्तमान था और उनका यह निश्चित मत था कि जब तक हिन्दू-मुसलमानों के बीच का यह राजनैतिक संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता और वे एक दूसरे से मन में हिल-मिल नहीं जाते तब तक भारत को स्वतन्त्र करना सम्भव न होगा और यदि किसी घटनावश भारत स्वतन्त्र हो भी गया तो उस स्वतन्त्रता की रक्षा करना भी सहज बात न होगी। अतः उनका यह अथक प्रयत्न रहता था कि हिन्दू-मुसलमानों के भेद के सब कारणों को दूर किया जाय। यद्यपि वे हर प्रकार की साम्राज्यवादिता के घोर विरोधी थे तथा दरिद्रनारायण के ही पक्षपाती थे एवं चाहते थे कि मानवों में ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित हो जिसमें कोई मनुष्य या वर्ग दूसरों का दोहन या शोषण न कर सके तथापि वे यह समझते थे कि जो शब्दावलि तुर्की, पठानी और मुगली साम्राज्यवादिता के साथ भारत पर छा गयी है उसके प्रति जान या अनजान में अनेक अपढ़ मुसलमानों तक के मन में यह भावना पैदा हो गयी है कि वह उनकी अपनी है। बापू यह जानते थे कि साधारण मुसलमानों में यह विश्वास किसी ठोस सत्य पर आश्रित नहीं है। सचाई तो यही है कि भारत के मुसलमानों में से लगभग ६० प्रतिशत लोग इस तुर्की, पठानी, मुगली साम्राज्यवादी शब्दावली से सर्वथा अपरिचित हैं और वही भाषा बोलते और समझते हैं जो उनके पड़ोसी हिन्दू बोलते समझते हैं। गुजराती मुसलमान गुजराती बोलते हैं, बंगाली मुसलमान बंगाली बोलते हैं, मराठा मुसलमान मराठी बोलते हैं और पंजाबी मुसलमान पंजाबी बोलते हैं। इस साम्राज्यवादी शब्दावली से वे ही कुछ मुसलमान परिचित हैं और वे ही उसका प्रयोग करते हैं जो इन तुर्क, पठान या मुगल साम्राज्यवादियों के वंशज हैं; इतना ही के हिन्दू भी जो उस साम्राज्य के निचले भागीदार बन गये थे और उनका शासन चलाते थे इस शब्दावली का प्रयोग करते हैं। अतः यह कहना कि यह साम्राज्यवादी शब्दावली मुसलमानों की अपनी है भारी ऐति-

हासिक भ्रम और भूल पर आश्रित है। इस बात को भली भाँति जानते हुए भी बापू यह जानते और मानते थे कि मुसलमानों के हृदय से यह भूल दूर करना सम्भव नहीं है, कम-से-कम यदि वे या अन्य उन्हीं के समान अन्य हिन्दू नेता इस बात को कहें तो साधारण मुसलमान उस बात पर विश्वास करने ही क्यों लगे। अतः उन्होंने यह मान लिया था कि यह व्यर्थ प्रयास करना उचित नहीं है। उनका यह प्रयत्न था कि भारत की राष्ट्रीय भाषा का ऐसा विकास किया जाय कि उसमें यह शब्दावली भी आत्मसात हो जाय। लेखक इस बात का विचार किये बिना इस शब्दावली का प्रयोग करें कि यह तुर्की, पठानी, मुगली साम्राज्यवादिता का अवशेष और स्मृति है, किन्तु इसका प्रयोग करते समय इस बात का ध्यान रखें कि उनकी भाषा ऐसी न हो जाये कि उसे साधारण जन समझ ही न पायें। इस शब्दावली को संस्कृत शब्दावली से मिलाकर ऐसी गंगा-जमुनी का प्रयोग किया जाय कि हिन्दुओं को तो यह न लगे कि उन पर विदेशी भाषा लादी जा रही है और मुसलमानों को यह न लगे कि उन पर संस्कृत लादी जा रही है। भाषा के इस नये रूप को उन्होंने हिन्दुस्तानी की संज्ञा दी और यह कहा कि भारत की राजभाषा यह हिन्दुस्तानी ही हो।

मैं समझता हूँ कि जितने भी ख्यातिनामा हिन्दी लेखक हैं उनमें से सम्भवतः किसी के मन में यह बात नहीं आयी है कि वह चुन-चुन कर संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग और अन्य शब्दों का जानकर बहिष्कार करे। बात यह है कि जिन लोगों ने हिन्दी में गद्य या पद्य लिखना आरम्भ किया उनमें से अधिकांश ऐसे व्यक्ति थे जिनके घर-द्वार में तुलसी, सूर इत्यादि का एकछत्र प्रभुत्व था और शास्त्र पुराण की कथा-वार्ता के कारण जिनकी जिह्वा पर संस्कृत शब्दावली बैठी हुई थी। अतः जब उन्होंने भाषा में अपने विचार व्यक्त करने आरम्भ किये तो स्वभावतः वे संस्कृत से उत्पन्न शब्दावली द्वारा ही किये। हिन्दी लेखकों में से जो भी इस तुर्की, पठानी, मुगली साम्राज्यवादी शब्दावली से परिचित थे उन्होंने अपनी कृतियों में अनेक स्थलों पर इस शब्दावली का प्रयोग किया है। अतः यह कहना कि हिन्दी लेखक जानकर इस शब्दावली को निकाल कर उसके स्थान में संस्कृत शब्दावली ठूँस देना चाहते हैं पूर्णतः मिथ्या आरोप है। मैं यह बात आग्रहपूर्वक कह सकता हूँ कि पूज्य बापू ने हिन्दी लेखकों पर

ऐसा आरोप न तो कभी लगाया और न कभी वैसा करने का मन में विचार ही किया। सच बात तो यह है कि राजनैतिक कारणों से उन्होंने केवल यही अपेक्षा की कि जो भी हिन्दी लेखक हैं वे प्रयत्न करके ऐसी शब्दावली को लिखें और प्रयोग करें जिससे कि मुसलमानों के मन में छिपे सन्देह और मलिनता को दूर किया जा सके। उनकी यह माँग साहित्यिक न थी, राजनैतिक थी। यदि अनेक हिन्दी लेखक उनकी इस माँग को पूरा न कर सके या मान न सके तो वह इसी हेतु कि उनके लिए ऐसा करना अपनी शिक्षा को पुनः आरम्भ करना होता। बापू तो जीवन भर विद्यार्थी बने रहे। उन्होंने यह कभी नहीं माना कि नवज्ञान उपार्जन की उनकी वयस समाप्त हो गयी है। उनका जीवन ही सत्य के प्रयोगों की कहानी था। अतः आश्चर्य नहीं कि सत्तर वर्ष की अवस्था में उन्होंने तेलुगु और तमिल सीखना आरम्भ की। किन्तु अन्य लोग जो उनकी सी अपार शक्ति, और एकाग्रता न रखते थे। अतः इस बारे में किसी को खेद या आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अन्य लोग और विशेषतः साधारण आर्थिक स्थिति वाले हिन्दी लेखक अपना समय तथा शक्ति इस शब्दावली से परिचित होने में न लगा सकें। बापू भले ही इस सम्बन्ध में हिन्दी लेखकों को झिड़क सकते थे, किन्तु जिन्होंने बापू की इस माँग को स्वयं नहीं अपनाया, जिन्होंने स्वयं बापू की हिन्दुस्तानी को न सीखा और न बोला, उन लोगों को तो क्षण भर के लिए भी यह अधिकार नहीं है कि वे हिन्दी लेखकों पर यह आक्षेप करें कि उन्होंने बापू की यह बात न मानी या उस पर कार्य रूप से अमल नहीं किया। किन्तु सम्भवतः ये लोग यह नहीं मानते कि बापू की बात मानने के लिए वे भी उतने ही बाध्य हैं जितने कि वे औरों को समझते हैं। वे अपने को अन्य भारतीयों से सर्वथा भिन्न समझते हैं। सम्भवतः वे समझते हैं कि वे ऐसे देवता हैं जिन्हें साधारण मानवों के धर्म का पालन करना आवश्यक नहीं है। नहीं तो भला क्या' वे लोग जो देवनागरी के अक्षर भी नहीं पहचानते, जिनकी जिह्वा से एक भी संस्कृत से उत्पन्न शब्द निकल नहीं सकता, और कभी भूल-चूक से निकल भी जाता है तो इतने भौंडे ढंग से कि संस्कृत-ज्ञाता भी उसे समझ नहीं सकता, और जिन्होंने भूल से भी अपनी किसी कृति में एक भी संस्कृत शब्दावली का प्रयोग नहीं किया, हिन्दी वालों पर यह

आक्षेप करते कि वे बापू की नीति को मानने में आनाकानी कर रहे हैं तथा राष्ट्रपिता के आदेशों की अवहेलना कर रहे हैं, एक साम्प्रदायिक या राष्ट्र-विरोधी मनोवृत्ति का परिचय दे रहे हैं। किन्तु जो लोग अपने स्वार्थ के कारण सुध-बुध खो बैठे हैं, उनसे न्याय्य बात सुनने की अपेक्षा भी तो नहीं की जाती। हो सकता है कि वे लोग यह समझते हों कि जो लोग उनकी बात में हाँ-में-हाँ नहीं मिला सकते वे लोग "पुरफरेब तखय्युल" के दोषी हैं। पर यदि वे कृपा करके अपने मन को ही देखें तो उन्हें यह स्पष्ट पता चल जायगा कि उन्हें संसार पुरफरेब इसलिए दिखायी पड़ता है क्योंकि उनके हृदय में ही वह फरेब भरा हुआ है।

इसके अतिरिक्त जिन लोगों ने पाकिस्तान का सृजन स्वीकार किया उन लोगों को तो इस सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकार है ही नहीं। मैं कह चुका हूँ कि बापू पहचानते थे कि भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता का हल हिन्दू-मुसलमानों के अलग होने या बट जाने में नहीं है वरन् उनके आपस में एक हो जाने में है। इसी राजनैतिक सिद्धान्त का एक पहलू उनकी भाषा सम्बन्धी नीति थी। किन्तु जिन लोगों ने बापू के इस राजनैतिक सिद्धान्त की अवहेलना करके अंग्रेजों और मुस्लिम लीगियों के इस सिद्धान्त को मान लिया कि भारत की स्वतन्त्रता की समस्या का हल हिन्दू-मुसलमानों के बटवारे में है उन लोगों को यह शोभा नहीं देता कि बात-बात में वे बापू के नाम की दुहाई दें और दूसरे लोगों पर यह आरोप लगायें कि वे बापू के सिद्धान्तों के अनुकूल कार्य नहीं कर रहे हैं।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि बापू देश के बटवारे के पक्ष में न थे। यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि उन्हें इस बात का अत्यन्त खेद था कि उनके अनुयायियों ने इस बटवारे को स्वीकार कर लिया। वास्तव में उन्हें यह लगता था कि उनके जीवन-प्रयास को उनके साथियों ने ही निरर्थक-सा कर दिया है और इसीलिए उनके मन में और जीने की इच्छा भी न रही थी। जब बापू के मूलभूत सिद्धान्त को ही भारत के राज्यतन्त्र में तिलांजलि दे दी गयी थी, जब हिन्दू-मुस्लिम समस्या का हल बटवारा करके किया गया था तब बापू की भाषा नीति का भी प्रमुख आधार जाता रहा था। मैं यह भी

बता चुका हूँ कि उस नीति पर पूर्णतः अमल करना कोई साधारण बात नहीं थी और लोगों को उससे पूर्व भी यह लगता था कि वे उस पर अमल न कर पायेंगे। किन्तु उस नीति के प्रमुख कारण के लोप हो जाने पर भी अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए कुछ लोग बापू का नाम लेकर उसी भाषा-नीति के अपनाने का आग्रह करने लगे। बापू के नाम के जादू को अपना कर उन्होंने यह प्रयास किया कि जो इस सम्बन्ध में कुछ विशेष परिचय न रखते थे उन्हें भ्रम में डाल दिया जाय।

भाषा सम्बन्धी ये सब कठिनाइयाँ हमारे सामने थीं। मेरा तो यह स्पष्ट मत था कि भारत की राजभाषा समस्या को सुलझाने का एक ही तरीका था और वह यह कि सर्वसम्मति से हिन्दी को भारत की राजभाषा स्वीकार कर लिया जाय। मेरा यह विचार इसलिए न था कि मैं स्वयं हिन्दी भाषा-भाषी हूँ। न मेरा यह विचार इस हेतु था कि हिन्दी बोलने वालों की संख्या अन्य भाषा बोलने वालों की संख्या से अपेक्षातर अधिक है। मैं तो इस नीति के अपनाने में केवल इस कारण पक्ष में था कि वैसा करने से हम भारतीय इतिहास की मूल प्रवृत्तियों की पूर्ति करेंगे। यह भौगोलिक, आर्थिक और ऐतिहासिक तथ्य है कि भारत का केन्द्र वह प्रदेश है जिसे प्राचीन काल में मध्य देश कहा जाता था। उसी में होकर भारत के सब प्रसिद्ध यात्रा पथ जाते थे। उत्तरा पथ, दक्षिणा पथ इसी मध्य देश में मिलते थे और इस कारण इसी मध्य देश की बोली ही भारत के सन्तों, भारत के व्यापारियों, भारत के यात्रियों की बोली हो गयी थी। यदि भारत में गंगा की इतनी महिमा है तो वह लोगों की केवल मिथ्या धारणाओं या विश्वासों के कारण नहीं है। वास्तव में गंगा भारत का प्राण है, भारत का हृदय है, भारत का स्नायु जाल है, भारत का केन्द्र है। गंगा के बिना भारत की एकता नहीं, ओज नहीं, शक्ति नहीं। उसी गंगा के आस-पास का देश भारत इतिहास के प्रारम्भ से ही भारत का केन्द्र रहा है। मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि मैं स्वयं उस प्रदेश का निवासी नहीं हूँ और इस बात से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मिथ्या देश-प्रेम की प्रेरणा से मैं यह बात नहीं कह रहा हूँ। हम लोग चाहें या न चाहें इस ऐतिहासिक सत्य से इंकार नहीं किया जा सकता, इसके प्रति आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं। इसी

ऐतिहासिक तथ्य को पहचान कर स्वामी दयानन्द ने अपनी पुस्तक हिन्दी में लिखी। इसी सत्य को आत्मसात् करके अनेक हिन्दीतर भाषाओं के विचारकों और लेखकों ने यह मत व्यक्त किया कि भारत की राजभाषा हिन्दी हो। इसी बात को मानकर पूज्य बापू ने भी १९१७ में हिन्दी ही को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने की योजना बनायी और हिन्दीतर प्रदेशों में उसका प्रसार करने के लिए योजना बनायी। अतः मुझे यह स्पष्ट दिखायी पड़ता था कि अन्ततोगत्वा भारत की राजभाषा क्या हो इसका निर्णय स्वयं भारतीय इतिहास, भारतीय भूगोल, भारतीय अर्थतन्त्र ने कर दिया है और इतिहास के इस निर्णय को हम सब को स्वीकार कर लेना चाहिए।

इस निर्णय के स्वीकार करने में यह कठिनाई अवश्य थी कि पिछले तुर्की, पठानी, मुगली और अंग्रेजी साम्राज्यों से गठबन्धन होने के कारण जो लोग भारतीय समाज में राज्य और आर्थिक तन्त्र में प्रभुतापूर्ण स्थिति पा गये थे उन लोगों की स्थिति पूर्ण रूप से बदल जाय। देश-हित के लिए उन लोगों को यह त्याग करने को तत्पर होना चाहिए था। किन्तु उनमें से अधिकांश उसके लिए तैयार न थे और भ्रमपूर्ण विचारों को पैदा कर हिन्दीतर भाषा-भाषियों में यह भय और आशंका पैदा कर रहे थे कि हिन्दी के राजभाषा हो जाने से उन पर हिन्दी वालों का साम्राज्य लद जायगा। किन्तु इन लोगों के ये हथकण्डे सब राष्ट्र-भक्तों को विमुख न कर सके।

संविधान सभा को इस सम्बन्ध में निर्णय करना था। अतः मैंने इस बात का प्रयास किया कि वस्तुस्थिति से सब लोग परिचित हो जायँ। हिन्दीतर भाषा-प्रदेशों के प्रतिनिधियों से मिलकर हम लोगों ने उनके समक्ष यह सत्य रखा कि भारतीय सब भाषाओं में संस्कृत शब्दावली ही एकता का सूत्र है। अतः संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को भारत की राजभाषा बनाने में उन्हें कोई विशिष्ट कठिनाई न होगी। साथ ही भारत की राजनैतिक एकता के लिए यह आवश्यक तो था ही कि भारत की राजभाषा कोई एक भारतीय भाषा हो। हिन्दीतर भाषा-भाषियों ने भी अपनी उदारता का पूरा परिचय दिया। उनमें से किसी ने भी क्षणभर के लिए यह प्रस्ताव न किया कि अंग्रेजी के बदले में भारत की राजभाषा कोई हिन्दीतर भाषा हो। वे सब इस बात को मानते थे कि

भारत की राजभाषा हिन्दी ही हो सकती है। यदि कुछ भेद था तो केवल इतना ही कि उस भाषा का नाम हिन्दी हो या हिन्दुस्तानी। सब बातों पर सोच-बिचार कर वे इस बात पर सहमत हो गये कि उस भाषा का नाम हिन्दी ही हो। वे भली भाँति समझते थे कि हिन्दुस्तानी नाम के पीछे यह भावना है कि हिन्दी में जानकर तुर्की, पठानी, मुगली साम्राज्यवादी शब्दावली ठूँस-ठाँस की जाय। इस शब्दावली से वे लोग लगभग सर्वथा अपरिचित थे। अतः उस ठूँस-ठाँस को वे पसन्द कर भी न सकते थे।

किन्तु हिन्दी के तुरन्त राजभाषा बना दिये जाने में उन्हें यह आपत्ति अवश्य थी कि वैसा करने से केन्द्रीय शासन में जो लोग हिन्दीतर भाषा-भाषी हैं उन्हें पर्याप्त कठिनाई और असुविधा हो जायगी। इसलिए वे यह आवश्यक समझते थे कि हिन्दी को राजभाषा मान लेने पर भी इतनी अवधि तक उस का प्रयोग स्थगित रखा जाय जितनी में कि ये हिन्दीतर भाषा-भाषी लोग हिन्दी पर्याप्त रूप में सीख लें। हमें इस बारे में आपत्ति हो ही क्या सकती थी। अतः हमने यह बात मान ली। यह अवधि पन्द्रह वर्ष की ठहरायी गयी और इसी के आधार पर संविधान सभा ने सर्वसम्मति से निश्चय किया कि भारत की राजभाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी होगी, किन्तु उसका पूर्ण प्रयोग पन्द्रह वर्ष के पश्चात् आरम्भ होगा।

स्वतन्त्र भारत की प्रथम संसद्

संविधान बनने का काम समाप्त होते ही संविधान के अनुसार बालिग मताधिकार पर नये चुनाव की तैयारी आरम्भ हुई। परन्तु बालिग मताधिकार पर इतने बड़े देश में चुनाव बहुत जल्दी तो न हो सकते थे और जब तक ये चुनाव होकर नयी संसद् तथा प्रान्तों में नयी विधान सभाएँ न बनतीं तब तक देश का राजनैतिक कार्य भी न रोका जा सकता था-अतः निर्णय किया गया कि नये चुनाव होने तक केन्द्र तथा प्रान्तों की सरकारें जैसी की तैसी कायम रहें। संविधान सभा ही संसद् का कार्य करे और प्रान्तों में प्रान्तीय धारा सभाएँ ज्यों की त्यों चलें; परन्तु संविधान सभा में कुछ ऐसे सदस्य भी थे जो प्रान्तीय धारा सभाओं के सदस्य थे। अतः यह निर्णय हुआ कि प्रान्तीय धारा सभाओं के सदस्य इस संसद् के सदस्य न रहें और इनके स्थान पर प्रान्तीय धारा सभाएँ नये सदस्य चुन दें।

मैं प्रान्तीय धारा सभा का सदस्य न होकर केन्द्र का ही सदस्य था। ऐसे और भी बहुत से लोग थे अतः हम लोग तो इस नयी संसद् के सदस्य बने रहे। शेष जो लोग प्रान्तीय धारा सभाओं के सदस्य थे उनकी जगह प्रान्तीय धारा सभाओं ने नये सदस्य चुन दिये।

स्वतन्त्र भारत की यह प्रथम संसद् सन् ५० की २८ जनवरी से आरम्भ हुई। श्री मावलंकर फिर इसके अध्यक्ष हुए और श्री जवाहरलालजी नेहरू के नेतृत्व में पुराने मन्त्रिमण्डल ने ही फिर नया रूप लिया। पहले दिन मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों तथा हम सबने स्वतन्त्र भारत के नये शासन-विधान के प्रति ईमानदार रहने की शपथ ली।

ता० ३१ जनवरी को भारत के प्रथम राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद का संसद् में पहला भाषण हुआ और नयी बात जो इस संसद् में आरम्भ हुई वह थी राष्ट्रपति के भाषण पर पार्लियामेंट में इंगलेंड के सदृश वाद-विवाद।

बाकी सारा कार्य पूर्ववत् ही आरम्भ हुआ, परन्तु एक मौलिक और महान्

अन्तर था। पहले की केन्द्रीय धारा सभा थी "डिबेटिंग सुसाइटी" ; यह संसद् थी सार्वभौम अधिकार प्राप्त सभा।

यह प्रथम संसद् सन् ५१ के अन्त में बालिग मताधिकार पर चुनी हुई नयी संसद् के आने तक कार्य करती रही।

मेरा काम इसमें भी अच्छी तरह चलता रहा। वैदेशिक नीति सम्बन्धी बहसों में मैं बराबर भाग लेता रहा और हिन्दी के प्रचलन तथा गौवध विरोध के कार्यों को भी आगे बढ़ाने का प्रयत्न करता रहा।

ध्यान रहे संविधान परिषद् के निर्माण के बाद कौंसिल ऑफ स्टेट नहीं रह गयी थी। वह फिर से आयी सन् ५१ के चुनावों के बाद एक नये रूप से। अब दोनों सभाओं के मिले हुए रूप का नाम संसद् तथा बालिग मताधिकार पर चुनी हुई सभा का नाम लोक सभा एवं राज्य विधान सभाओं द्वारा चुनी हुई सभा का नाम राज्य सभा है जो सभी लोगों को ज्ञात है।

इन चुनावों तक प्रान्तों में भी पुराने मन्त्रिमण्डल तथा पुरानी विधान सभाएँ चलती रहीं।

यह स्वाभाविक ही था कि सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त इन सभाओं के प्रति देश और देश के बाहर की भी जनता का अधिक ध्यान आकृष्ट हो।

नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ

सन् ४२ से ४५ तक के जेल जीवन में मैंने जेल से निकलकर जिन कार्यों को करने का संकल्प किया था और जेल से निकलते ही इस संकल्प को जिस प्रकार कार्य रूप में परिणत करना आरम्भ किया था उसका उल्लेख पिछले एक अध्याय में हो चुका है। इन कार्यों में जबलपुर से एक दैनिक पत्र का प्रकाशन भी था और यह पत्र "जयहिन्द" के नाम से निकला था यह भी पहले लिखा जा चुका है। "जयहिन्द" पत्र को आर्थिक दृष्टि से सफल करने के लिए आरम्भ में कुछ विज्ञापनों की आवश्यकता हुई और इस काम के लिए श्री रामगोपालजी माहेश्वरी और मैं कई बार बम्बई, कलकत्ता आदि स्थानों के अनेक उद्योगपतियों से मिले। "जयहिन्द" पत्र को तो इनमें से अनेक महानुभावों ने सहायता दी ही पर इन्हीं में से कलकत्ते के एक ऐसे तरुण उद्योगपति से सम्पर्क स्थापित हो गया कि उनसे आगे चलकर एक बहुत बड़े अन्य काम का सिलसिला बैठा। ये सज्जन कलकत्ते के मारवाड़ी अग्रवाल व्यापारी घराने के सेठ रामसहायमल मोर के मालिकों में से एक थे। इनका नाम है श्री विश्वनाथ मोर और इनके द्वारा जो काम हुआ वह था पं० जवाहरलाल नेहरू को उनकी इकसठवीं वर्षगाँठ पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करना।

यों तो आजकल न जाने कितने लोगों के लिए कितने अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार होते हैं, पर इस अभिनन्दन ग्रन्थ की अनेक विशेषताएँ थीं। जहाँ तक मैंने देखा है इस देश में ही नहीं परन्तु दुनिया के किसी देश में किसी के लिए ऐसा अभिनन्दन ग्रन्थ अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। यह अभिनन्दन ग्रन्थ हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में है और इसमें लगभग ढाई लाख रुपया व्यय हुआ है। यह कुल रकम उदारतापूर्वक श्री विश्वनाथजी मोर ने लगायी है। इस अभिनन्दन ग्रन्थ की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

इस ग्रन्थ की सबसे पहली विशेषता है इसका सम्पादकमण्डल। शायद

इस देश में ऐसे सम्पादकमण्डल ने किसी भी ग्रन्थ का सम्पादन नहीं किया। सम्पादकमण्डल में निम्नलिखित महानुभाव थे—श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, श्री डॉ० राधाकृष्णन्, श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, श्री कन्हैयालाल मुंशी, श्री नन्दलाल बोस, श्री डॉ० लंकासुन्दरम्, श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन, श्री विश्वनाथ मोर और मैं।

इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता है इसके लेख आदि। इस सामग्री के मुख्यतः पाँच विभाग किये गये हैं। पहले विभाग में नेहरूजी पर देश और विदेश के राजनीतिज्ञों, साहित्यिकों एवं अन्य प्रकार के महान् व्यक्तियों के लेख हैं। दूसरे विभाग में नेहरूजी से जिनका व्यक्तिगत सम्पर्क रहा है ऐसे देश के और विदेशों के महानुभावों के संस्मरण हैं। तीसरे विभाग में नेहरूजी की जीवनी है। चौथे विभाग में कुछ विशिष्ट विषयों पर देशी और विदेशी विद्वानों के विशेष लेख हैं और पाँचवें विभाग में भारतीय साहित्य, कला और शिल्प पर भारतीय विद्वानों के लेख हैं।

तीसरी विशेषता इस ग्रन्थ की है इसके चित्र। नेहरूजी की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाले चित्र और भारतीय कला तथा शिल्प पर कुछ प्राचीन तथा अर्वाचीन चित्र। कुछ चित्र रंगीन भी हैं। सारे चित्रों की संख्या सैकड़ों तक गयी है। एक फुट लम्बाई और ९ इंच चौड़ाई ग्रन्थ का नाप है। पृष्ठ संख्या ६१५ है। इस ग्रन्थ के लिए टीटागढ़ के कागज के मिल ने एक खास तरह का कागज बनाया था और इलाहाबाद के ला जर्नल प्रेस ने इसकी छपाई भी बड़ी सुन्दर की है। जिल्द, गेटअप आदि सभी दृष्टियों से यह ग्रन्थ अपनी विशेषता रखता है।

सन् १९५० की जनवरी में नयी दिल्ली में राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टण्डन की अध्यक्षता में एक विशेष समारोह कर नेहरूजी को यह ग्रन्थ भेंट किया गया था। वह समारोह और उसके भाषण आदि भी अपनी एक विशेषता रखते थे।

देश और विदेश के अनेक पत्रों तथा विद्वानों ने इस ग्रन्थ की प्रशंसा में न जाने क्या-क्या और कितना कहा है।

नासिक-कांग्रेस, उसके कुछ पहले, उसके कुछ बाद

कांग्रेस अधिवेशन को जितना महत्त्व है उससे कम अधिवेशन के सभापति के चुनाव को नहीं ; वरन् कांग्रेस अधिवेशन से भी कांग्रेस के सभापति के चुनाव का अधिक महत्त्व है। इसका कारण है कि अधिवेशन तो दो-चार दिन में समाप्त हो जाता है, परन्तु अधिवेशन का जो सभापति चुना जाता है वह अगले अधिवेशन तक कांग्रेस का सभापति रहता है। स्वराज्य मिलने के पहले तो कांग्रेस अध्यक्ष का पद देश का सर्वोच्च पद माना जाता था और कांग्रेस सभापति को राष्ट्रपति कहते थे। यह सर्वथा स्वाभाविक था, क्योंकि देश पर विदेशी सत्ता थी और उस सत्ता से युद्ध कर स्वराज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाली एक मात्र संस्था कांग्रेस थी। यह सभी जानते थे कि आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों देश स्वतन्त्र होगा ही अतः जो संस्था देश को स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न कर रही थी उसके अध्यक्ष को स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पहले ही देश की जनता ने राष्ट्रपति पद की उपाधि दे दी थी। गान्धीजी के कांग्रेस की बागडोर सँभालने के बाद जिस प्रकार कांग्रेस की प्रतिष्ठा बढ़ी थी उसी प्रकार कांग्रेस के अध्यक्ष की। पर कांग्रेस का अध्यक्ष वही व्यक्ति चुना जाता था जिसके सिर पर गान्धीजी का वरद हस्त रहता। एक बार ही इस नियम का अपवाद हुआ था, वह त्रिपुरी कांग्रेस में, जब गान्धीजी की इच्छा के विरुद्ध सुभाष बाबू इस पद पर चुने गये थे, पर चुने जाने के बाद भी बहुत समय तक सुभाष बाबू इस पद पर रह न सके थे।

गान्धीजी के बाद जब पहले-पहल जयपुर में कांग्रेस अधिवेशन हुआ तब सभापति के चुनाव में मुठभेड़ हो गयी। डॉक्टर पट्टाभिसीतारमैया और श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डन के बीच मत पड़े और थोड़े से बहुमत से डॉक्टर पट्टाभि कांग्रेस अध्यक्ष चुन लिये गये।

नासिक अधिवेशन में भी सर्वमत से कांग्रेस अध्यक्ष का चुनाव न हो सका

और इसके लिए तीन महानुभाव खड़े हुए—श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डन, श्री आचार्य कृपालानी और श्री शंकरराव देव। श्री देव को बहुत कम मत मिले, पर टण्डनजी और आचार्यजी के चुनाव में खासी कशमकश रही। थोड़े से बहुमत से टण्डनजी सभापति निर्वाचित हुए।

यह सभी जानते हैं कि टण्डनजी को परोक्ष रूप से सरदार पटेल ने सहायता दी थी।

टंडनजी का यह चुनाव जवाहरलालजी को पसन्द न आया और पण्डितजी और भड़क उठे तब जब टण्डनजी के इस चुनाव पर देश की कुछ साम्प्रदायिक संस्थाओं ने हर्ष प्रकट किया। टण्डनजी कभी भी किसी साम्प्रदायिक संस्था में नहीं रहे थे, वे सदा कांग्रेस में ही रहे थे, हाँ, हिन्दी भाषा एवं भारतीय संस्कृति के वे अनन्य उपासक हैं, पर हिन्दी भाषा तथा भारतीय संस्कृति की उपासना का संकुचित साम्प्रदायिकता से जरा भी सम्बन्ध नहीं। जब टण्डनजी ने उत्तर प्रदेश की विधान सभा की अध्यक्षता से त्याग-पत्र दिया उस समय उस सभा के मुस्लिम सदस्यों तक ने टण्डनजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। यदि टण्डनजी के चुनाव पर कुछ मनचली साम्प्रदायिक संस्थाएँ हर्ष प्रकट करें तो इसमें बेचारे टण्डनजी का क्या दोष ?

नासिक का कांग्रेस अधिवेशन इस तनातनी के वायुमण्डल में हुआ। जवाहरलालजी ने कहा कि वे अपने सिद्धान्तों और कार्यक्रम को कांग्रेस के सामने रख इस बात को जानना चाहते हैं कि कांग्रेस का मत कहाँ तक उनके मत से मिलता है। बरसात का मौसम था अतः कांग्रेस का अधिवेशन ढके पंडाल में किया गया और दर्शकों की एक निश्चित संख्या के लिए ही व्यवस्था की गयी। बहुत सोचने पर भी अब तक मेरी यह समझ में नहीं आता कि इस अधिवेशन को करने में इतनी जल्दी क्या थी और यह अधिवेशन यदि वर्षा ऋतु के बाद होता तो इसमें क्या हानि हो जाती। खैर वर्षा ऋतु होने और दर्शकों की परिमित संख्या होने पर भी नासिक में काफी धूम-धाम रही। स्वागताध्यक्ष श्री हिरे थे। सभापति का भाषण कोई तीन घण्टे चला और वह अत्यन्त सारगर्भित था। इसके बाद जवाहरलालजी के सिद्धान्तों तथा कार्यक्रम सम्बन्धी प्रस्ताव आये। मुख्यतः ये प्रस्ताव तीन विषयों से सम्बन्ध रखते थे—

वैदेशिक नीति, साम्प्रदायिकता और आर्थिक कार्यक्रम ।

नेहरूजी के प्रस्तावों के कांग्रेस में सर्वमत से पास होने पर भी उन्हें सन्तोष न हुआ । उन्होंने कहा कि उन्हें अब यह देखना है कि कांग्रेस को उनके सिद्धान्तों और कार्यक्रम से केवल शाब्दिक सहानुभूति है या वह इस सम्बन्ध में कुछ करना भी चाहती है, इसीलिए उन्होंने कांग्रेस की कार्यकारिणी में रहने से इंकार कर दिया । परन्तु बिना उनके और उनके कुछ साथियों के टण्डनजी ने अपनी कार्यसमिति बनाने में जल्दी न की । कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हुआ सन् ५० की २१ सितम्बर को और कांग्रेस कार्यकारिणी की घोषणा हुई १६ अक्टूबर को । अन्त में जवाहरलालजी तथा मौलाना आजाद भी कार्यकारिणी में आ गये । सुना यह गया कि नेहरूजी श्री रफी अहमद किदवई को किसी भी तरह कार्यकारिणी में रखवाना चाहते थे, पर टंडनजी ने किदवई साहब को कार्यकारिणी में रखना स्वीकार नहीं किया । उन्होंने कहा कि कांग्रेस के संविधान में कार्यकारिणी के नामजद करने का अधिकार सभापति को है और यदि वे किसी को नहीं रखना चाहते तो वह किसी के द्वारा भी जबर्दस्ती नहीं रखवाया जा सकता । टण्डनजी ने कार्यकारिणी को यथासाध्य अधिक-से-अधिक प्रतिनिध्यात्मक बनाने का प्रयत्न किया, इसीलिए उन्होंने कई प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों के अध्यक्षों को भी अपनी कार्यसमिति में रखा । इनमें से एक मैं भी था ।

टण्डनजी ने एक नयी परिपाटी और डाली—कांग्रेस संस्था में जो प्रधान-प्रधान व्यक्ति हैं, वे यदि कार्यकारिणी के सदस्य नहीं हैं तो भी उन्हें कार्यकारिणी की बैठक में विशेष निमन्त्रण देकर बुलाया जाय । यद्यपि पहले भी विशेष निमन्त्रण पर कुछ लोग बुलाये जाते थे, पर इतनी बड़ी संख्या में नहीं ।

इस प्रकार जान पड़ा कि कम-से-कम कांग्रेस में जो लोग हैं उनमें अब आपसी कोई झगड़ा नहीं है । हाँ, श्री कृपलानीजी ने हारने के बाद यह कह कर कि कांग्रेस में बड़ा भ्रष्टाचार आ गया है, और कांग्रेस के प्रतिनिधियों का चुनाव ही ठीक नहीं हुआ है, कांग्रेस से स्तीफा दे दिया । कई लोगों की यह कभी भी समझ में नहीं आया कि जब तक सभापति का चुनाव नहीं हुआ था तब तक तो कृपलानीजी की राय के अनुसार कांग्रेस रहने योग्य थी, वे स्वयं अध्यक्ष पद के लिए खड़े ही हुए थे, पर उनके हारते ही कांग्रेस इतनी बुरी

कैसे हो गयी तथा कांग्रेस के जिन प्रतिनिधियों के वोट के लिए कृपलानीजी खड़े हुए थे उन्हीं प्रतिनिधियों का चुनाव अवैधानिक हुआ है, यह बात उन्होंने हारने पर कैसे कही। कृपलानीजी का साथ देने वाले कुछ असन्तुष्ट जन तो सभी जगह मिल ही गये। चुनाव का वर्ष था अतः यह सारी कशमकश कदाचित् स्वाभाविक थी।

न्यूजीलैंड में कामनवैल्थ परिषद्

सन् १९५० में न्यूजीलैंड की राजधानी वैलिंगटन में कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी एसोसियेशन की परिषद् थी। इस एसोसियेशन की परिषद् दो वर्ष में एक बार कामनवैल्थ के किसी देश में होती है और इसमें कामनवैल्थ के स्वतन्त्र देशों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं। सन् ४८ में इस एसोसियेशन की परिषद् लन्दन में हुई थी। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद और भारतवर्ष के कामनवैल्थ में रहने के कारण लन्दन की परिषद् में भारतीय लोकसभा के अध्यक्ष श्री मावलंकर के नेतृत्व में भारतीय प्रतिनिधिमण्डल गया था। इस बार यह परिषद् न्यूजीलैंड में थी और इस बार भारतीय प्रतिनिधिमण्डल मेरे नेतृत्व में न्यूजीलैंड भेजा जाना तय हुआ। इस प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य थे—श्री सिधवा, श्री चमनलाल शाह, श्री देवकान्त बरुआ और श्री वेंकटरामन्।

परिषद् तथा मेरी इस यात्रा का वर्णन करने के पूर्व कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी एसोसियेशन तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातों का दिग्दर्शन करा देना उपयुक्त होगा—

सन् १९११ में सम्राट् पंचम जार्ज के राज्याभिषेक के समय एक संस्था का निर्माण हुआ, जिसका नाम एम्पायर पार्लियामेंटरी एसोसियेशन रखा गया। विशाल ब्रिटिश साम्राज्य के सभी देशों में पारस्परिक स्नेह बढ़ाने और विचारों के आदान-प्रदान के लिए इस स्थायी संस्था की स्थापना की गयी थी। इस संस्था का सर्वप्रथम उद्देश्य था ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत सभी देशों की पार्लियामेंट सभाओं में घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना।

पिछले ३५ वर्षों में इस संस्था की आशातीत उन्नति हुई—इसके कार्यक्षेत्र का प्रसार हुआ और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रायः सभी देशों में एम्पायर पार्लियामेंटरी ऐसोसियेशन की शाखाएँ स्थापित हुई। इसी अवधि में राजनैतिक उथल-पुथल के कारण ब्रिटिश साम्राज्य के देशों में अनेक परिवर्त्तन हुए और कई देशों में स्वशासन की स्थापना हुई। फलस्वरूप एम्पायर पार्लियामेंटरी

एसोसियेशन के विधान में परिवर्त्तन करने की आवश्यकता हुई। इस एसोसियेशन के सदस्य देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में तथा ब्रिटिश सरकार के इन सभी देशों के सम्बन्धों में आमूल परिवर्त्तन होने के कारण एसोसियेशन के विधान की कई बातें अब अनुपयुक्त सिद्ध हो गयीं।

इन वैधानिक परिवर्त्तनों के लिए ५ फरवरी सन् १९४८ को एसोसियेशन की कैनेडा शाखा ने एक प्रस्ताव पास किया। अक्तूबर १९४८ में लन्दन में कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी कान्फ्रेंस ने इन वैधानिक परिवर्त्तनों को स्वीकार किया। इसी समय इस एसोसियेशन का नाम एम्पायर पार्लियामेंटरी एसोसियेशन की जगह कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी एसोसियेशन हुआ। यह भी सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया कि एसोसियेशन का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए एक जनरल कौंसिल, उसके दफ्तर और आवश्यक निधि का प्रबन्ध किया जाय। सभी शाखाओं की स्वीकृति प्राप्त होने पर मई सन् १९५० में जनरल कौंसिल की बैठक ऑटावा में हुई। इस समय एसोसियेशन के नये विधान का मसौदा बनाया गया। नवम्बर सन् १९५० में जनरल कौंसिल ने यह नया विधान स्वीकार किया।

कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी एसोसियेशन संसार की कदाचित् एकमात्र ऐसी संस्था है जिसकी परिषदों में कोई प्रस्ताव पास नहीं होते और कोई मतदान नहीं होता। इस परिषद् की सारी कार्यवाही गोपनीय (कैमरा में) होती है, पत्र-प्रतिनिधियों के लिए खुली नहीं। केवल इस वर्ष इसकी कुछ बैठकों में पत्र-प्रतिनिधियों को बुलाया गया था।

न्यूजीलेंड की इस परिषद् की तारीखें घोषित होने के पश्चात् एसोसियेशन की भारतीय शाखा की बैठक नयी दिल्ली में हुई और इस बैठक ने तय किया कि भारतीय पार्लियामेंट के अध्यक्ष श्री मावलंकर भारतीय प्रतिनिधिमण्डल के नामों का निर्णय करें। श्री मावलंकरजी ने मण्डल के नेता का चुनाव कहाँ तक उपयुक्त किया इस पर तो मुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं है, परन्तु जहाँ तक मण्डल के सदस्यों का सम्बन्ध है, मेरे मतानुसार यह चुनाव सर्वथा उपयुक्त सिद्ध हुआ। मण्डल के सदस्यों में श्री शाह की गम्भीरता, श्री वेंकटरमन की कार्यतत्परता, श्री बरुआ की मिलनसारी और श्री सिधवा की वाचालता

सभी श्लाघनीय रहीं। परिषद् में हमारे मण्डल के सदस्यों ने जो भाग लिया उससे तो उनकी योग्यता सिद्ध हुई ही, परन्तु परिषद् में भाग लेने के सिवा जो सम्बन्ध इस मण्डल के सदस्यों ने अन्य देशों के प्रतिनिधिमण्डलों के सदस्यों से स्थापित किया उससे भारत देश और भारतीय संस्कृति का सभी पर गहरा प्रभाव पड़ा। इन परिषदों में परिषद् की कार्यवाही के अतिरिक्त आपसी सम्बन्धों को बहुत अधिक महत्त्व है, कदाचित् परिषद् की कार्यवाही से भी कहीं अधिक और इस दिशा में भारतीय प्रतिनिधिमण्डल ने आशातीत सफलता प्राप्त की थी।

भारतीय प्रतिनिधिमण्डल के अतिरिक्त जिन देशों के प्रतिनिधिमण्डल इस परिषद् में भाग लेने के लिए आये थे उन देशों के नाम हैं—

१. युनाइटेड किंगडम
२. कैनेडा
३. आस्ट्रेलिया
४. यूनियन ऑफ साउथ अफ्रिका
५. पाकिस्तान
६. सीलोन
७. दक्षिण रोडेशिया
८. जमैका
९. बरमूडा
१०. बारबाडोस
११. बहामा
१२. गोल्ड कोस्ट
१३. ब्रिटिश गायना
१४. मारीशस
१५. उत्तर रोडेशिया
१६. सिंगापुर
१७. ब्रिटिश होन्डूरास
१८. विन्डवर्ड द्वीप
१९. नाइजीरिया
२०. फेडरेशन ऑफ मलाया
२१. न्यूज़ीलैंड

सन् १९३७ में अफ्रिका की यात्रा के बाद यह मेरी दूसरी वैदेशिक यात्रा थी। फिर मैं जा रहा था एक अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् में भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का नेता होकर। इसी वर्ष मैं कांग्रेस की वर्किंग कमेटी का सदस्य भी हुआ था। अतः जहाँ तक मेरी बिदाई का सम्बन्ध है, बम्बई, जबलपुर, दिल्ली और कलकत्ता में सभी जगह भिन्न-भिन्न संस्थाओं तथा मित्रों ने मुझे जिस प्रेम और उत्साह से बिदा किया वह जीवन भर मेरे विस्मृत करने की बात नहीं है। कांग्रेस कार्यसमिति में मेरे आने तथा न्यूज़ीलैंड के इस प्रतिनिधिमण्डल के नेता

नियुक्त होने से जबलपुर के लोगों में तो जिस उत्साह की लहर दौड़ी थी वह जबलपुर के इतिहास में एक उल्लेखनीय घटना है। सन् ३० में जब मैं पहली जेल-यात्रा के बाद छूटा था तथा सन् ३२ के सत्याग्रह के समय जो सभा मैंने जबलपुर में चार दिन और चार रात तक चलायी थी इन दो अवसरों के सिवा जबलपुर में मैंने ऐसा उत्साह कभी नहीं देखा था। मेरे कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य और उसी के साथ इस प्रतिनिधिमण्डल के नेता होने का सम्मान जबलपुर निवासियों ने मेरा सम्मान न मानकर अपना सम्मान माना। लगातार चार दिनों तक बिदाई के इन समारोहों की बाढ़-सी आ गयी थी। हर १५ मिनट पर एक समारोह! कैसा प्रेम का प्रवाह था! कैसे उत्साह की लहर! कैसी आत्मीयता का प्रदर्शन!

इस सब में मेरी इतनी लम्बी यात्रा के कारण करुण रस का भी कम मिश्रण न था। मेरे कुटुम्बियों, खास कर मेरी माताजी और पत्नी के मन में तो चिन्ता की भी अत्यधिक मात्रा थी। कुटुम्बियों से बिदा लेते समय मुझे पिताजी का कितना स्मरण आया। जब मैं अफ्रिका गया था, पिताजी थे। उस समय पिताजी ने मुझे बड़ी कारुणिक भावनाओं से बिदा किया था, पर मेरे हृदय में उनके कारण एक प्रकार का धैर्य था। आज मैं वृद्धा माताजी को उनकी रुग्ण अवस्था में छोड़कर उनके इकलौते पुत्र होते हुए भी ८,००० मील दूर जा रहा था।

कलकत्ते मुझे पहुँचाने के लिए मेरे बड़े पुत्र मनमोहनदास और उनके मित्र सन्तकुमार तिवारी आये थे। वे अपने साथ माताजी का एक पत्र लाये थे। जब मैंने वह पत्र पढ़ा, भावुक होने के कारण मेरी आँखों से आँसू बह निकले। इस पत्र को मुझे लिखे गये पत्रों में मैं अत्यन्त महत्त्व का पत्र मानता हूँ। यह पत्र परिशिष्ट १ में दिया गया है।

कलकत्ते से मैं हवाई जहाज से रवाना हुआ। इतनी दूर किसी भी कुटुम्बी या मित्र अथवा संगी-साथी के बिना अकेले मेरी यह पहली यात्रा थी। यद्यपि इन दिनों अकेले रेल अथवा एरोप्लेन में मैं अनेक बार यात्रा किया करता था, पाँच बार की जेल-यात्राओं में भी कई बार अकेला रखा गया था, पर उस अकेलेपन और इस अकेलेपन में अब मुझे स्वयं ही कुछ अन्तर जान

पड़ा। सदा इस प्रकार की यात्राएँ करनेवालों के मन पर चाहे इस प्रकार के अकेलेपन का कोई प्रभाव न पड़ता हो, पर इसके भी अभ्यास की आवश्यकता होती है।

मुझे आज अपने जीवन की अनेक घटनाएँ याद आने लगीं। माताजी ने मुझे आशीर्वाद का जो पत्र कलकत्ता भेजा था उसमें लिखा था, "मुझे वह जमाना याद आता है जब बिना बीस-पच्चीस संगी-साथियों, नौकर-चाकरों के तुम्हें कहीं बाहर नहीं जाने दिया जाता था।" ठीक लिखा था उन्होंने। मेरे जीवन का एक वह अध्याय भी था। सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने के पश्चात् भी यात्रा में कुछ न कुछ नौकर-चाकर, संगी-साथी रहते थे, अर्दली तो बहुत समय तक और यह अर्दली बड़े शहरों में सड़क तक पार करने में मुझे सहायता देता था। सन् १६२२ में एक बार जब मैं अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक के लिए लखनऊ गया था और एक दिन अर्दली साथ न रहने के कारण मुझे सड़क पार करने में असमंजस हुई थी तब मेरे मित्र पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र ने मेरा खूब मजाक उड़ाया था। मुझे अपना वह समय भी याद आया। सन् ३० में जब मैं जेल में सर्वप्रथम अकेला रखा गया उस समय की घटनाएँ भी मेरे मन में उठीं। और आजकल जो मैं अनेक बार अकेले यात्रा किया करता था वे प्रसंग भी याद आये। तो धीरे-धीरे मुझे पुराने ढंग के सहारे की आवश्यकता न रह गयी थी यह तो स्पष्ट था, पर फिर भी अब तक मैं जिन परिस्थितियों में अकेला रहा था उनमें और आज की इस परिस्थिति में मुझे अन्तर जान पड़ा। बहुत देर तक इस अन्तर का कारण मेरी समझ में न आया, पर एकाएक मुझे वह कारण ज्ञात हो गया। अब तक यदि मैं कहीं भी अकेला रहा था तो अपने देश की भूमि पर। चाहे मेरी जान-पहचान वाले मेरे साथ न हों, पर मेरे देश के निवासी किसी न किसी रूप में मेरे आस-पास अवश्य रहे थे। आज मैं जा रहा था देश के बाहर, अपने देश के एक भी साथी के बिना। सदा नौकरों-चाकरों, संगी-साथियों से घिरे रहने के अभ्यास से मुक्त हो अपने देश में ही अकेले रहने की स्थिति का तो मुझे अभ्यास हो गया था, पर अपने देश के बाहर अपने देश के निवासियों के संग से रहित इस प्रकार अकेले रहने का यह पहला प्रसंग था और इसका उस समय मेरे मन पर कम

प्रभाव न पड़ा। इस प्रभाव को मेरी बिदाई के उन समारोहों ने तथा मेरे कुटुम्बियों ने जिन भारी हृदयों से मुझे बिदा किया था उन सारे संस्मरणों ने और बढ़ा दिया और कुछ देर के लिए मैं व्यथित-सा हो गया। पर धीरे-धीरे इस अकेलेपन का भी मुझे अभ्यास हो गया।

मैंने यह यात्रा चार देशों की की—न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, फीजी और मलाया। इन देशों को देखने के सिवा मैंने कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी परिषद् में भाग लिया। कुछ सार्वजनिक भाषण दिये। इन देशों की समस्याओं तथा संसार की इस काल की समस्याओं पर अध्ययन किया और इन समस्याओं के अपने कुछ हल निकाले।

चूँकि मैं कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी परिषद् के लिए गया था, इसलिए पहले उस परिषद् का ही कुछ हाल लिखना उचित होगा।

ता० २७ नवम्बर से ता० १ दिसम्बर तक पाँच दिनों तक कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी परिषद् चली। बाकी सब प्रतिनिधि तो ता० २४ को ही आ गये थे, पाकिस्तान के प्रतिनिधियों में ता० २४ की जनरल कौंसिल की बैठक में केवल बंगाल का एक प्रतिनिधि सम्मिलित था। ता० २७ को पाकिस्तान के भी सब प्रतिनिधि परिषद् में सम्मिलित हुए। इनमें दो ने सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया—श्री तमीजुद्दीन खाँ ने अपनी लम्बी दाढ़ी के कारण और श्री चट्टोपाध्याय ने अपनी धोती के कारण। तमीजुद्दीन खाँ के सिवा अन्य किसी प्रतिनिधि के दाढ़ी नहीं थी और चट्टोपाध्याय के अतिरिक्त और कोई धोती नहीं पहने था। तमीजुद्दीन खाँ पाकिस्तान की विधान परिषद् के अध्यक्ष थे और पाकिस्तान के प्रतिनिधिमण्डल के नेता। चट्टोपाध्याय पाकिस्तान की धारा सभा के बिरोधी दल के नेता थे और अपने को कांग्रेस-वादी कहते थे। ये दोनों ही सज्जन भारतवर्ष के स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग ले चुके थे और जेल भी हो आये थे।

ता० २७ से ता० १ तक परिषद् ने एक-एक दिन एक-एक विषय पर चर्चा की। ये विषय थे—(१) कामनवैल्थ देशों का आर्थिक सम्बन्ध और विकास, (२) पार्लियामेंटरी प्रथा के अनुसार चलने वाली सरकारें, (३) प्रशान्त महा-सागर के देशों का सम्बन्ध और सुरक्षा, (४) कामनवैल्थ के देशों में एक देश

से दूसरे देश में जनसंख्या का तबादला, और (५) वैदेशिक नीति। विषय सभी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे।

यद्यपि कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी एसोसियेशन के सभापति फिर से कैनेडा के सेनेटर श्री रूबक चुन लिये गये थे, परन्तु पाँचों दिन की उपर्युक्त बहसों में हर दिन उस दिन के लिए अलग-अलग सभापति चुना गया। पाँचवें दिन भारतवर्ष को भी अवसर मिला और पाँचवें दिन सभापति का आसन मैंने ग्रहण कर उस दिन की कारंवाई का संचालन किया।

हर दिन की बहस का प्रातःकाल एक महाशय और भोजन के बाद तीसरे पहर एक महाशय उद्घाटन करते थे। वे आधा घंटा बोलते थे। जिन्होंने प्रातःकाल बहस का उद्घाटन किया होता था उन्हें अन्त में उत्तर के लिए बीस मिनिट दिये जाते थे। इन वक्ताओं के अतिरिक्त हर प्रतिनिधिमण्डल की ओर से एक-एक वक्ता बोलता था, इसे पन्द्रह मिनिट का समय दिया जाता था और इनके बाद जो सदस्य खड़े होते थे और जिन्हें सभापति पुकार लेता था उन्हें दस मिनिट का समय मिलता था। पहले कहा जा चुका है कि इस परिषद् में कोई प्रस्ताव पास नहीं होता, केवल विचार-विनिमय तथा एक-दूसरे की राय समझने का प्रयत्न किया जाता है। अतः हर दिन की बहस, परिषद् के बिना किसी निर्णय के, समाप्त हो जाती थी। भारतीय प्रतिनिधि श्री सिधवा ने यह प्रश्न भी उठाया कि बिना किसी प्रस्ताव इत्यादि के संसार यह जान कैसे पावेगा कि इतने देशों के प्रतिनिधि इकट्ठे होकर किस निष्कर्ष पर पहुँचे, परन्तु श्री सिधवा के इस प्रश्न पर परिषद् की राय यही रही कि जहाँ एक बार प्रस्तावों के चक्कर में पड़ा गया कि फिर मतभेद आरम्भ होंगे, अपने-अपने प्रस्ताव पर बहुमत प्राप्त करने के लिए प्रयत्न शुरू होगा और बहुमत अल्पमत के झगड़े आरम्भ होकर सारा वायुमण्डल गन्दा हो जायगा एवं जो मिठास का वातावरण इस परिषद् में रहता है वह न रहने पायगा; खासकर तब जब इस परिषद् के प्रतिनिधियों के हाथ में अपने-अपने देश की सरकारों का संचालन नहीं है, वहाँ कोई प्रस्ताव पास करना गुनाह बे लज्जत ही होगा।

अब तक परिषद् की कारंवाई अखबारवालों के लिए खुली भी न रहती थी, पर इस बार तीसरे और पाँचवें दिन की कारंवाई को छोड़ तीन दिनों

की कार्रवाई पत्रों के लिए भी खोल दी गयी।

पाँचों दिन की बहस का स्तर बहुत ऊँचा रहा। कई बड़े सुन्दर भाषण सुनने को मिले और अनेक नयी बातें भी मालूम हुईं। भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल ने पाँच दिन अपने पाँच प्रतिनिधियों में बाँट दिये थे। पहले दिन श्री वेंकटरामन्, दूसरे दिन श्री शाह, तीसरे दिन श्री बरुआ, चौथे दिन मैं और पाँचवें दिन श्री सिधवा बोले। तीसरे दिन तीसरे पहर की कार्रवाई का उद्‌घाटन भारत को दिया गया था अतः वह श्री बरुआ ने किया। भारतीय प्रतिनिधियों के भाषण भी उच्चकोटि के रहे।

मुझे जो विषय दिया गया था वह मेरा पुराना विषय था—कामनवैल्थ देशों में एक देश से दूसरे देश में जनता का तबादला। यह बहस दक्षिण अफ्रिका के एक प्रतिनिधि के कारण बड़ी दिलचस्प हो गयी। मैंने अपना भाषण आरम्भ किया इस बात के अंक उपस्थित कर कि भारत आदि देशों में कितनी अधिक जनसंख्या है और आस्ट्रेलिया आदि देशों में कितनी कम तथा जिन देशों की जनसंख्या कम है उन्होंने, इस बात के लिए आतुर रहते हुए भी कि उनके यहाँ और जनता आवे, किस प्रकार अपने देशों के दरवाजे, जो श्वेतांग नहीं हैं, उनके लिए बन्द कर रखे हैं। मैंने इस बात पर भी आश्चर्य प्रकट किया कि जिस जर्मनी और इटली से कामनवैल्थ के देश घोर युद्ध कर चुके हैं उन देशों से आस्ट्रेलिया को आबादी लेना मंजूर है, पर कामनवैल्थ के देश भारत और पाकिस्तान आदि से नहीं। आगे चलकर मैंने आस्ट्रेलिया, कैनाडा, न्यूजीलैंड आदि देशों के नेताओं के भाषण उद्धृत कर बताया कि कितने आतुर हैं ये देश अधिक जनसंख्या के लिए, पर मैंने कहा कि जब तक इमीग्रेशन कानून तथा इमीग्रेशन की नीति में परिवर्त्तन नहीं होता एवं जो भारतीय अभी भिन्न-भिन्न देशों में बसे हुए हैं उनके साथ वहाँ बसे हुए अन्य लोगों के व्यवहार के समान व्यवहार नहीं होता तब तक भारत और पाकिस्तान आदि देशों से जनता का अन्य देशों में जाना असम्भव है। और यहाँ मैंने भारतीयों तथा पाकिस्तान के निवासियों के साथ दक्षिण अफ्रिका में कैसा व्यवहार किया जाता है इसका उल्लेख करते हुए, जब मैं दक्षिण अफ्रिका में था उस समय मुझ तक को एक लिफ्ट में जाने से रोक दिया गया था, यह बताया।

मेरा यह कहना था कि बस दक्षिण अफ्रिका के एक प्रतिनिधि उठ खड़े हुए और आग बबूला होते हुए यू० एन० ओ० वाला तर्क यहाँ भी उपस्थित कर कि किसी देश की अन्तरंग नीति पर क्या इस परिषद् में बहस हो सकती है, इस मसले पर सभापति का निर्णय माँगा।

सभापति का निर्णय मेरे पक्ष में हुआ और ज्योंही सभापति ने अपना निर्णय घोषित किया त्योंही ये महाशय परिषद् से उठकर चले गये। इनकी सबसे बड़ी "ट्रेजडी" यह हुई कि दक्षिण अफ्रिका के अन्य प्रतिनिधियों तक में से एक ने भी इनका साथ नहीं दिया।

अब तो परिषद् के सारे वायुमण्डल में एक बिजली-सी दौड़ गयी, मुझे भी कुछ अधिक जोश आया और इस जोश के कारण मेरा भाषण और अच्छा होगया।

मैंने अपने भाषण का अन्त अवश्य मधुरता से किया। मैंने कहा कि भारत कामनवैल्थ में ईमानदारी के साथ शामिल हुआ है। उसे विश्वास है कि कामनवैल्थ से उसका, कामनवैल्थ का और संसार का, सबका भला हो सकता है, पर यह तब जब कि कामनवैल्थ की नीति शब्दों में न रहकर कार्य में परिणत हो और सब रंगों, सब जातियों, सब संस्कृतियों के लोगों के साथ एक-सा व्यवहार हो।

मेरे भाषण की समाप्ति पर शायद सबसे अधिक करतल ध्वनि हुई और तुरन्त कई लोगों के मेरे पास चिट पहुँचे जिनमें हार्दिक बधाई लिखी हुई थी। जब परिषद् लंच के लिए उठी तब तो कई व्यक्ति मुझ से लिपट गये और मुझ से लिपटकर उन्होंने मुझे बधाई दी। मेरे भाषण के पश्चात् जितने भाषण हुए प्रायः सब में मेरे भाषण का जिक्र हुआ और सब भाषणों में मुझे बधाई मिली। इंगलिस्तान के एक प्रतिनिधि मि० मोरेसन और आस्ट्रेलिया के प्रतिनिधिमण्डल के नेता तथा वहाँ के एक मन्त्री मि० होल्ट ने तो अपने भाषण में मेरे भाषण की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

दूसरे दिन के अखबारों में बड़े-बड़े शीर्षकों के साथ यह भाषण और दक्षिण अफ्रिका के प्रतिनिधि के वाक आउट का वृत्त छपा। सारी परिषद्

की किसी कार्रवाई को अखबारों ने इतना महत्त्व न दिया, जितना मेरे इस भाषण तथा दक्षिण अफ्रिका के प्रतिनिधि के उठकर चले जाने को।

और मैं स्वयं जब इस भाषण पर विचार करता हूँ तब मुझे कैसा जान पड़ता है? भाषण बुरा नहीं था। अंग्रेजी भी अच्छी थी। चूँकि भाषण लिखा हुआ न होकर मौखिक था, और मुझे निसर्ग ने ऊँची आवाज दी है तथा बोलने में चढ़ाव-उतार आदि का मैंने अभ्यास कर लिया है, इसलिए उसका कुछ असर भी पड़ा। पर मैं यह समझता हूँ कि यदि अफ्रिका का वह प्रतिनिधि परिषद् से उठकर जाने की मूर्खता न करता तो इस भाषण को अचानक जो महत्त्व मिल गया वह न मिलता। फिर एक बात और। क्या कोई भाषण भी इतने महत्त्व की चीज है? दुनिया में अब तक न जाने कितने महान् वक्ता हो चुके। अपने-अपने समय में उन्होंने अपने भाषणों से न जाने कितने जोश को उत्पन्न किया, उनके भाषणों से उठे हुए जोश से प्रेरित हो न जाने कितने व्यक्तियों ने क्या-क्या कर डाला और इतने पर भी दुनिया का हाल है "वही रफ्तार बेढंगी जो पहले थी सो अब भी है।" मुझे अपना कौंसिल ऑफ स्टेट का जीवन भी याद आया। मैं वहाँ अंग्रेजी में सबसे अच्छे वक्ताओं में माना जाता था। उस समय के भारत के जो कमाण्डर-इन-चीफ थे वे तो जब कभी मेरा किसी से परिचय कराते तब यह कहकर कि मैं उनके हाऊस का सबसे अच्छा वक्ता हूँ। अपने प्रान्त तथा कांग्रेस के अन्य क्षेत्रों में भी मैं अच्छा बोलनेवाला माना जाता हूँ। परन्तु इतने पर भी ये भाषण, वक्तृत्व की यह शक्ति, अरे सारे के सारे मानव-कृत्य और स्वयं मानव भी इस सृष्टि में कौनसी चीज है? हाँ, मानव अपनी ज्ञान-शक्ति के कारण सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी अवश्य है और उसकी वक्तृत्व शक्ति उसकी सारी शक्तियों से बड़ी शक्ति, परमाणु बम से भी बड़ी। तो चाहे यह मानव तुच्छ हो, क्षुद्र हो, पर इस सृष्टि में सबसे श्रेष्ठ अवश्य है। अपनी उस श्रेष्ठता के कारण उसे अपनी छोटी-छोटी बातों पर भी अभिमान होता है, वह उनकी दिल खोलकर सराहना करता है और इस सराहना से उसे हर्ष होता है, सन्तोष होता है।

मुझे भी एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन में अपने इस भाषण पर इन बधा-

इयों से हर्ष और सन्तोष नहीं हुआ, यह मैं नहीं कहता। ऐसा कहना तो मिथ्या कथन होगा। मुझे हर्ष और सन्तोष अवश्य हुआ, पर एक छोटे से साहित्यिक होने के कारण मैं दर्शन प्रेमी भी जो हूँ। मेरा तो मत है कि बिना दर्शन के कोई छोटे से छोटा साहित्यिक भी नहीं हो सकता। और इस दर्शन की दृष्टि के कारण आजकल मेरे इस प्रकार के हर्ष की हिलोरों का ज्वार जल्दी से भाटे में परिणत हो जाता है।

परिषद् नित्य १० बजे से १ बजे तक और २॥ बजे से ५॥ बजे तक होती थी। पांचवें दिन, जब मैं सभापति था, परिषद् के उस दिन के विवाद के समाप्त होने के पश्चात् मैंने फिर से सिनेटर रूबक को सभापति का आसन ग्रहण करने के लिए कहा और उन्होंने लगभग ६ बजे परिषद् का काम समाप्त कर दिया।

इन पाँचों दिन हमारे स्वागत में भी कहीं न कहीं समारोह होते रहे। ता० २७ को दोपहर को न्यूजीलैंड में भारत के ट्रेड कमिश्नर श्री सन्याल ने एक आफिशियल लंच दिया था। उसी दिन शाम को न्यूजीलेंड में रहने वाले कुछ विदेशी हाई कमिश्नरों की ओर का स्वागत था। ता० २७ की ही रात को न्यूजीलैंड की यूनिवर्सिटी ने हमें निमन्त्रित किया था जिसमें यूनिवर्सिटी के एक प्रोफेसर ने राजनीति पर एक "पेपर" पढ़ा था। ता० २८ को सायंकाल एसोसियेशन की कार्यकारिणी के सदस्यों के लिए न्यूजीलैंड पार्लियामेंट के अध्यक्ष ने एक आयोजन किया था। ता० २९ को न्यूजीलैंड की सरकार की ओर से बड़ा भारी लंच था और उसी दिन रात को वैलिंगटन के मेयर की ओर से वैलिंगटन के टाउनहाल में स्वागत। ता० ३० की रात को भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का मावरियों द्वारा स्वागत था और ता० १ की रात को भारतीय संस्कृति पर वैलिंगटन के यूरोपियनों के बीच मेरा भाषण था।

इस परिषद् और इन भाषणों के चलते हुए मेरा आधुनिक काल की मानव-समस्याओं पर भी विचार चलता रहता। इस विचार में एक दिन मुझे नींद न आयी, क्योंकि उस दिन मेरे मन में इन समस्याओं में भारतीय समस्याएँ प्रमुख रूप से जागृत हो गयी थीं।

जैसा पहले कहा जा चुका है मुझे भारत से अन्य देशों को गये हुए भारतीयों की समस्या से सदा दिलचस्पी रही है। अफ्रिका की यात्रा के पश्चात् इस यात्रा में फिर मैंने बाहर बसे हुए भारतीयों को देखा था। उनकी रहन-सहन देखी थी, उनका भोजन चखा था, उनकी विचारधारा पर कुछ सुना और कुछ कहा था, अतः उनके भूत, वर्त्तमान और भविष्य की सारी बातें मेरे सामने घूमने-सी लगीं और मैं उन पर विचार करने लगा।

जब आजकल के सदृश शीघ्रगामी यातायात के साधन नहीं थे, तब शताब्दियों पहले हमारे देश के लोग विदेशों को गये थे, सम्राट् अशोक के समय धार्मिक और सांस्कृतिक दूतों के रूप में, बाद में उदर पोषणार्थ। शताब्दियों पूर्व जब वासकोडिगामा अफ्रिका के समुद्र-तट के स्थानों को आया था तब उसने अनेक भारतीयों को पूर्व अफ्रिका में व्यापार करते पाया था। इसके बहुत बाद कुली प्रथा का जन्म हुआ और हमारे हजारों बन्धु एक प्रकार के गुलाम बना न जाने कहाँ-कहाँ भेजे गये थे।

जब भारत स्वतन्त्र था, बलशाली था, यहाँ की जनसंख्या इतनी अधिक न थी और यहाँ सोना बरसता था तब भी हमारे भाई शीघ्रगामी यातायात न रहने पर भी बाहर गये और देश के परतन्त्र होने पर गरीबी के कारण भी। पर चाहे हम अच्छी अवस्था में गये हों और चाहे बुरी अवस्था में, हम कभी भी किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण कर अपना साम्राज्य जमाने नहीं गये। जब भारत स्वतन्त्र और सम्पन्न था तथा यूरोपीय बल एवं सभ्यता का प्रसार नहीं हुआ था और बाहर जाने में रोक-टोक के कोई कानून नहीं बने थे, तब यदि भारत चाहता तो अपने बल और धन के द्वारा पृथ्वी पर सूरज न डूबने वाले ब्रिटिश साम्राज्य से भी कहीं बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लेता। यदि यूरोप की जातियों द्वारा जहाँ-जहाँ वे गये वहाँ की जातियों के ध्वंस के वर्णन को पढ़ा जाय तो जान पड़ता है कि भारतीय साम्राज्य यूरोपीय साम्राज्य से तो कहीं अच्छा होता। जब आर्य भारत में आये और वे उस समय भारत में रहने वाली अन्य जातियों से मिल गये, यहाँ तक कि उन्होंने दक्षिण के द्राविड़ों को भी ब्राह्मण मान लिया, जब मुसलमानों को छोड़ भारत में आनेवाले यवन, शक, हूण सबको हम ग्रहण कर सके और भिन्न-भिन्न जातियों के रक्त के

मिश्रण के पश्चात् भी भारत में एक ही संस्कृति रह सकी तब यदि हमने यहाँ से यथेष्ट लोगों को बाहर भेजा होता तो वे वहाँ की जातियों से यूरोपीय लोगों के सदृश कभी व्यवहार न करते। अपनी सभ्यता और संस्कृति मूल निवासियों को देकर वे मूल निवासी और भारतीय मिलकर एक जाति बनती और संसार का रूप ही कुछ और हो जाता। खैर यह बात तो भूत की हुई।

वर्तमान में इस विषय में क्या हो, यह प्रश्न उठता है। जहाँ-जहाँ भारतीय गये हैं वहाँ वे आरम्भ में चाहे किसी भी रूप में गये हों, चाहे कुली बनकर क्यों न गये हों, आज आर्थिक दृष्टि से वे प्रायः सभी सम्पन्न हैं। परन्तु राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से उनकी स्थिति चिन्ता का विषय है। प्रायः सभी स्थानों में या तो उन स्थानों के यूरोपियनों या वहाँ के मूल निवासियों से उनकी पटरी नहीं बैठती। जब तक भारत स्वतन्त्र नहीं हुआ था तब तक वह इस सम्बन्ध में ब्रिटिश गवर्नमेंट से लिखा-पढ़ी करने के सिवा और कुछ न कर सकता था और उसके स्वतन्त्र होने के पश्चात् क्या वह कुछ कर सकता है ?

आज संसार में कई ऐसे देश हैं जहाँ की जनसंख्या इतनी अधिक है कि वे देश अपनी आबादी को सुख से रखना दूर रहा जीवित तक कठिनाई से रख सकते हैं और कुछ देश ऐसे हैं जहाँ यथेष्ट जनसंख्या न होने के कारण वहाँ के नैसर्गिक पदार्थों का उपयोग नहीं हो सकता। कितने वर्ग मील पर कितनी आबादी है यह जानने से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। दृष्टान्त के रूप में कुछ देशों की अवस्था देखिए। भारतवर्ष और पाकिस्तान में प्रति वर्ग मील पर ३७१, यूनाइटेड किंगडम में ५०७, जापान में ४६० मनुष्य रहते हैं और कैनाडा तथा आस्ट्रेलिया में केवल ४ एवं न्यूजीलैंड में केवल ८। और जिन देशों में इतने कम मनुष्य रहते हैं वहाँ के कानूनों के अनुसार श्वेतांगों को छोड़ अन्य बाहर से आने वाले लोगों को मुमानियत है। कैनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड ये सारे देश अधिक आबादी चाहते हैं, उसके लिए भरसक प्रयत्न करते हैं, परन्तु केवल श्वेतांगों की। कुछ देश अपनी इतनी बढ़ी हुई तथा बढ़ती हुई जनसंख्या का किसी न किसी प्रकार पोषण करें और कुछ देश इतनी फाजिल भूमि को लिये हुए बैठे हों तथा बाहर से किसी को न आने दें, संसार

की यह स्थिति सदा चल सकती है ? आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड इसीलिए तो जापान और चीन से काँपा करते हैं ।

भारत के सामने विदेशों में रहनेवाले भारतीयों को सारे समान अधिकार मिलें यह प्रश्न तो है ही, पर यह प्रश्न केवल वर्त्तमान का है । भविष्य में उसकी आबादी को भी बाहर जाकर बसने का हक मिले यह प्रश्न भी इस देश के जीवन-मरण का सवाल है ।

जब मैं अफ्रिका से लौटा था उस समय मैंने अपनी जो रिपोर्ट हरिपुरा कांग्रेस के अधिवेशन पर उस अधिवेशन के सभापति नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को दी थी उस रिपोर्ट में भी मैंने कहा था कि भारत को अपनी जनसंख्या बाहर भेजकर बसाने के लिए यत्न करना चाहिए । अब भारत स्वतन्त्र है तथा भारत सरकार लाखों शरणार्थियों के बसाने के लिए करोड़ों रुपया प्रति वर्ष खर्च कर रही है । हम कामनवैल्थ के एक सदस्य हैं और आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कैनेडा, अफ्रिका आदि भी कामनवैल्थ में हैं, अतः इस प्रश्न को उठाकर इसका कोई न कोई हल होना ही चाहिए । आस्ट्रेलिया के उत्तर में तथा गायना में न जाने कितनी भूमि पड़ी हुई है, जहाँ लाखों नहीं करोड़ों मानव बसाये जा सकते हैं । संसार में युद्धों की समाप्ति तथा संसार की शान्ति के लिए भी यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

हाँ, जो भारतीय बाहर गये हैं या बाहर जायँ उन्हें भारत से प्रेम रखते हुए भी उन देशों को अपनी मातृभूमि मानना होगा । मैंने कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी कान्फ्रेन्स में देखा कि कैनेडा, आस्ट्रेलिया, अफ्रिका, न्यूजीलेंड के जो प्रतिनिधि आये थे यद्यपि उन्हें ग्रेट ब्रिटेन पर अभिमान था, और यद्यपि वे ग्रेट ब्रिटेन की पार्लियामेंटरी आदि संस्थाओं को मदर पार्लियामेंट आदि अत्यधिक आदरपूर्ण शब्दों द्वारा संबोधित करते थे तथापि वे अपने को इंगलिस्तान का कहते हुए भी पहले कैनेडियन, आस्ट्रेलियन, अफ्रिकन और न्यूजीलेंडर मानते थे ।

फिर जो भी भारतीय जहाँ भी बसे हैं या जहाँ भी बसने जायँ उन्हें वहाँ के निवासियों, विशेषकर मूल निवासियों, से अपने को पृथक् नहीं मानना चाहिए ।

अन्त में एक प्रश्न मेरे मन में और उठा कि पृथ्वी की सारी भूमि का

वितरण भूमण्डल के सारे निवासियों में किया जाय तो क्या होगा ? क्या इस तरह भूमि का वितरण करने पर विश्व की सबसे विकट समस्या हल नहीं हो सकती ? आज विश्व की यही तो प्रधान समस्या है न कि संसार के आधे निवासी गरीब, नंगे, भूखे और बेघरबार हैं। क्या इसका कारण यह है कि पृथ्वी की आबादी आवश्यकता से अधिक हो गयी है और दो अरब की आबादी के लिए पर्याप्त भूमि नहीं है ? क्या इतनी बड़ी संख्या में लोग भूखे इसलिए रहते हैं कि हमारी पृथ्वी की सारी भूमि पर्याप्त भोजन-सामग्री पैदा नहीं कर सकती ? क्या सभी देशों के नैसर्गिक पदार्थों का पूर्ण उपयोग किया जा चुका है ?

बहुत समय तक मैं इस प्रश्न पर विचार करता रहा। यदि इस प्रश्न का उत्तर "हाँ" है तो यह मान लेना पड़ेगा कि विधि का विधान ही ऐसा है कि संसार के आधे लोग आनन्द से रहें और आधे लोग नंगे, भूखे और बेघरबार रहें। लेकिन बहुत मनन करने के बाद भी मैं इस निष्कर्ष पर न पहुँच सका। पहुँचता भी कैसे ? मैंने अपनी आँखों से यह देखा था, अभी-अभी देखा था कि न्यूजीलैंड सदृश देशों में न जाने कितनी भूमि खाली पड़ी है। कहाँ तो भारतवर्ष में प्रति वर्ग मील में ३४१ लोग बसे हैं और कहाँ न्यूजीलैंड में प्रति वर्ग मील सिर्फ ८ व्यक्ति।

आस्ट्रेलिया और कैनेडा में तो करोड़ों एकड़ भूमि खाली पड़ी है। न उसमें मानव बसे हैं, न वहाँ के नैसर्गिक पदार्थों की खोज हुई है। तब प्रश्न यह है कि हम सब मिलकर ऐसी योजना क्यों नहीं बनाते कि इस खाली भूमि का उपयोग हो और तमाम नैसर्गिक पदार्थों और शक्तियों का उपयोग हो ताकि संसार की अन्न, वस्त्र और इस प्रकार की सारी समस्याएँ हल हो सकें, लोगों को रहने के लिए पर्याप्त भूमि मिल सके।

क्या कभी वह दिन आवेगा जब सभी देश बुद्धि और उदारता से मानव-जाति को सुखी बनाने का पुण्य कार्य करेंगे ?

सुदूर दक्षिण-पूर्व में जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है मैंने सिंगापुर, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और फीजी की यात्रा की। सिंगापुर अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से बड़े महत्त्व का स्थान हो गया है।

संसार के बड़े से बड़े बन्दरगाहों में वह भी एक है। सिंगापुर मलाया देश का ही एक भाग है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्व रखने के कारण मलाया की सरकार ने इसकी सरकार को अलग कर दिया है। सिंगापुर खूब फैल कर बसा हुआ है। अत्यन्त साफ-सुथरा है। सड़कें काफी चौड़ी और मकान खासे बड़े हैं। आबादी है करीब दस लाख मानवों की। सन् ५० से पूर्व की जन-संख्या में १,१९,६२३ मलयी, ७,६१,९६२ चीनी, ७०,७४९ भारतीय, २०,६१९ यूरोपियन और ७,८४५ अन्य मलयी सिंगापुर के मूल निवासी हैं; शेष बाहर से आये हुए हैं। बाहर से आने वालों में चीनियों का बहुमत हो गया है। मलयी साधारण कद के गेहुँए वर्ण के मनुष्य हैं। आँख, नाक और चेहरा मंगोल जाति से मिलता हुआ है। मलयी जाति में पुरुषों से महिलाएँ अधिक काम करती हैं, पुरुष तो शहद की मक्खियों के नरों के सदृश अधिकतर अलमस्त पड़े रहते हैं। मलयों की अपनी भाषा और अपने रीति-रिवाज हैं। भारतीयों में हिन्दू-मुसलमान दोनों हैं, दक्षिण भारत के लोग अधिक। और सबसे कम यूरोपियन होने पर भी राजनैतिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वशाली यूरोपियन हैं। सन् ५० तक मलयी, चीनी और भारतीयों का आपसी सम्बन्ध बुरा न था, पर तीनों मिलकर यूरोपियनों को बुरी दृष्टि से देखते थे। इसका मुख्य कारण यूरोपियनों की इतनी कम संख्या होने पर भी राजसत्ता अपने हाथ में सुरक्षित रखना है। सिंगापुर में चार भाषाओं का प्रचार है—मलयी, चीनी, तमिल और अंग्रेजी, पर बाजारों के साइन बोर्डों आदि पर दो ही भाषाएँ दृष्टिगोचर होती हैं—चीनी और अंग्रेजी। शिक्षा, सफाई, आरोग्यता की दृष्टि से सिंगापुर की काफी अच्छी स्थिति है। अपढ़ों की संख्या वहाँ नहीं के बराबर है। सन् ४९ में सिंगापुर ने अपना विश्व-विद्यालय स्थापित किया था। सिंगापुर के तीन प्रधान व्यापार हैं—रबर, टीन और अनानास। रबर के बगीचे हैं जहाँ पहले रबर के वृक्षों को छेद कर उनमें छोटी-छोटी हंडियाँ बाँधकर ताड़ी के सदृश उनका दूध निकाला जाता है। फिर यह दूध रबर के कारखानों में आकर वहाँ रबर तैयार होती है। टीन की कच्ची धातु को गलाकर टीन तैयार करने के वहाँ कई कारखाने हैं। इसी प्रकार अनानास को सुरक्षित कर डब्बों में पैक कर भेजने के भी कई कारखाने

हैं। रबर, टीन और अनानास का मलाया के भिन्न-भिन्न स्थानों से यहाँ आयात होता है और इस सामग्री के सारे निर्यात का यही बन्दरगाह है। सिंगापुर से यह सारा माल निर्यात होता है और सिंगापुर के लोगों के खाने के लिए चावल और पहनने के लिए कपड़ा विदेशों से आता है। प्रधान रूप से सिंगापुर एक बड़ा व्यापार केन्द्र और महत्त्वपूर्ण सैनिक अड्डा है। सिंगापुर एक द्वीप है। समुद्री और सम आबहवा है। वर्षा खूब होती है। जब मैं वहाँ गया उस समय वहाँ साम्यवादियों के बड़े उपद्रव हो रहे थे। चीन में साम्यवादी राज्य-व्यवस्था हो जाने के कारण सिंगापुर के चीनियों की आन्तरिक सहानुभूति साम्यवादियों के साथ थी।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप उतना ही विशाल है जितना संयुक्त राष्ट्र अमरीका, अर्थात् भारतवर्ष से लगभग ढाई गुना बड़ा। इतने पर भी वहाँ की आबादी है केवल अस्सी लाख मानवों की। आस्ट्रेलिया की प्रायः पूरी आबादी उसके समुद्री किनारों में केन्द्रित है, और वह भी प्रधानतः पाँच नगरों में— सिडनी, मेलबोर्न, ब्रिसबेन एडीलेड और पर्थ। आस्ट्रेलिया यद्यपि पूर्वी गोलार्द्ध का एक महाद्वीप है, पर यह सारी आबादी प्रायः यूरोपियन होने के कारण वहाँ की संस्कृति, रीति-रिवाज और जीवन का दृष्टिकोण यूरोपियन है। इस देश का जीवन-स्तर अत्यन्त ऊँचा है और निर्धन वर्ग जैसी कोई श्रेणी नहीं। बेकारी का नाम तक वहाँ किसी ने नहीं सुना। वहाँ के निवासियों में प्रायः सभी ग्रेट ब्रिटेन से आये हुए हैं। भाषा अंग्रेजी और सभी शिक्षित। भारतीयों की संख्या केवल कुछ सौ है। मुख्य व्यापार खेती है। कितना अन्न दुनिया को भेजता है आस्ट्रेलिया ! यूरोपियनों के आने के पहले वहाँ एक आदिवासी जाति रहती थी। आदिवासियों और आगन्तुकों में संघर्ष हुआ और वे मूल निवासी सहस्रों नहीं, लाखों की संख्या में मारे गये। ये आदिवासी आस्ट्रेलिया में, कुछ विद्वानों के मत से, कोई साठ हजार वर्ष पूर्व से रहते थे। आस्ट्रेलिया में ये मानव कहाँ से गये यह कल्पना का विषय है, पर अधिकांश विद्वानों के मत से दक्षिणी-पूर्वी एशिया के किसी भाग से वहाँ आये थे। जब सन् १७७८ ई० में श्वेतांग वहाँ गये तब इनकी संख्या करीब तीन लाख थी। अब के रह गये हैं केवल पच्चीस हजार। ये आदिवासी संसार के अत्यन्त प्राचीन

मानवों में हैं, परन्तु उनकी संस्कृति संसार के अन्य देशों के आदिवासियों की अपेक्षा समुन्नत है।

न्यूजीलेंड दो द्वीपों का एक बड़ा ही सुन्दर देश है। न्यूजीलेंड को चरोखरों का देश कहा जा सकता है और वहाँ के मानवों को ग्वालों की जाति। उस देश में सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करती है वहाँ की हरी कच्छ चरोखर भूमि। मैदानों, पहाड़ियों आदि में सर्वत्र मीलों तक चरोखर चली गयी है। खेती तथा अन्य उद्योग-धन्धे वहाँ बहुत कम हैं। गायों और भेड़ों के फार्म मक्खन और चीस बनाने के कारखाने ही वहाँ का प्रधान व्यवसाय है। एक-एक गाय डेढ़-डेढ़ मन तक दूध देती हैं। भेड़ों को ऊन और मांस के लिए पाला जाता है। वहाँ के कुछ प्राकृतिक दृश्य और वन राजि चित्त को बहुत आकर्षित करती है। वन राजि में तो लाखों वृक्ष मानवों के द्वारा लगाये गये हैं। न्यूजीलेंड में दो प्रधान जातियाँ रहती हैं—करीब अठारह लाख श्वेतांग और एक लाख मावरी। भारतीयों की संख्या यहाँ भी केवल कुछ सौ ही है। मावरी यहाँ के मूल निवासी हैं। विद्वानों का कथन है कि मावरियों के पूर्वज विभिन्न कालों में अधिकांश में मध्य पालिनेशिया से न्यूजीलेंड में आये। कुछ लोगों का यह भी मत है कि भारत से ये लोग न्यूजीलेंड गये। गेहुँएँ रंग के ऊँचे-पूरे हृष्ट-पुष्ट लोग हैं ये। उनकी अपनी अलग संस्कृति है। यूरोपियनों ने अन्य स्थानों के सदृश यहाँ के मावरियों को भी समाप्त करने का प्रयत्न किया, पर जब इसमें उन्हें सफलता न मिली तब आश्चर्य की बात कि अपनी सारी परम्पराओं और संस्कारों के विरुद्ध यहाँ के श्वेतांगों ने मावरियों को सारे समान नागरिक अधिकार दे दिये। अब तो दोनों वर्गों में खूब विवाह-शादी भी होती है और कुछ वर्षों के बाद यहाँ शायद ये दो जातियाँ न रहकर एक जाति ही हो जायगी। न्यूजीलेंड बड़ा सम्पन्न देश है। सब शिक्षित। श्वेतांगों की भाषा अंग्रेजी और मावरियों की अपनी है; पर मावरी भाषा धीरे-धीरे समाप्त होती जाती है। जीवन-स्तर बहुत ऊँचा, कोई निर्धन नहीं। रहन-सहन सबकी एक-सी। बड़े मकान, दफ्तर, होटल और सिनेमा छोड़कर कोई नहीं। प्रधान मन्त्री और उनके ड्राइवर के घर एक से। चार कमरों से अधिक कमरों का मकान बनाने की किसी को आज्ञा नहीं। घरेलू काम के नौकर

नहीं। न्यूजीलैंड के लोगों की औसत उम्र संसार में सबसे अधिक है।

फीजी प्रशान्त महासागर में द्वीपों का एक समुदाय है। इतना सुन्दर और हरा-भरा है यह द्वीप-समूह कि प्रशान्त महासागर का स्वर्ग कहलाता है। भारत से लगभग ९ हजार मील दूर होने पर भी यहाँ का प्राकृतिक दृश्य भारत से इतना अधिक मिलता-जुलता है और इन द्वीपों की मनुष्य संख्या में आधे भारतीय होने के कारण एक प्रसिद्ध अंग्रेज जान वैसली कोल्टर ने अपनी पुस्तक फीजी में इन द्वीपों को सुदूर दक्षिण-पूर्व का भारत कहा है। हम यहाँ अपने देश की ठंड की मौसम में गये थे, पर पूर्वी और दक्षिणी अफ्रिका के सदृश आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और फीजी के भूमध्यरेखा के दक्षिण में होने के कारण इन देशों में यह मौसम गरमी की मौसम थी। फीजी में आम के वृक्षों की भरमार थी और ये वृक्ष खूब मौरे और फले हुए थे। फीजी के आमों के वृक्षों की एक विशेषता देखने में आयी—वे साथ-साथ ही मौरते जाते और फलते जाते हैं, यह नहीं कि एकदम मौर जायें और फिर फलें, इसलिए वृक्षों पर मौर, कैरी और पके आम तीनों ही दिखायी देते थे। फिर वहाँ मोगरा भी खूब खिला हुआ था। फीजी की राजधानी सुआ और उसके चारों ओर के स्थान आम के मौर तथा मोगरे की मधुर एवं भीनी सुगन्ध से व्याप्त थे। फीजी में वहाँ के मूल निवासियों, भारतीयों और यूरोपियनों का निवास है।

विद्वानों का मत है कि प्रशान्त महासागर के प्रायः सभी टापुओं की विभिन्न जातियों का मूल स्थान हिन्देशिया है। फीजियन जाति के लोगों में श्वेत श्याम और पीले तीनों रंगों की जातियों का मिश्रण है, पर मूल रूप से फीजियन श्याम वर्ण की हब्शी जाति से बहुत मिलते-जुलते हैं। फीजी द्वीप समुदाय में, विशेषकर पश्चिमी हिस्से में, अधिकतर लोग मेलानेशियन जाति के हैं, लेकिन इन पर पालीनेशियन जाति का खूब प्रभाव है। संसार की सभी जातियों में पालीनेशियन जाति के लोग सबसे अधिक ऊँचे-पूरे और हृष्ट-पुष्ट रहे हैं, अभी भी हैं। फीजियन लोगों के सिर के बाल बड़े ऊँचे उठे हुए घने और काले होते हैं। इन बालों का इनके सिर पर मुकुट-सा लगा रहता है। मैंने किसी भी जाति के इस तरह के बाल नहीं देखे थे। पन्द्रहवीं शताब्दी में पालीनेशियन जाति अपनी संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ अवस्था में थी।

आज भी इनकी अपनी संस्कृति है । फीजियन कुछ आलसी माने जाते हैं। यहाँ की जमीन को आबाद करने के लिए भारतीय पहुँचे । यूरोपियनों का आना इसके बाद आरम्भ हुआ । भारतीयों ने फीजियनों से ठेके पर जमीनें लेकर उसमें गन्ना बोया और यूरोपियनों ने शक्कर के कारखाने डालकर शक्कर बनाना आरम्भ किया । गन्ने की खेती और शक्कर बनाना ये ही दो इन द्वीपों के मुख्य व्यवसाय हैं । यहाँ जो शक्कर बनती है उसका अधिकतर निर्यात हो जाता है । रोजगार के साथ राजनैतिक अधिकार की स्थापना यह तो श्वेतांगों की सदा नीति ही रही अतः इनके मुट्ठी भर होते हुए भी फीजी ग्रेट ब्रिटेन का एक उपनिवेश हो गया । जब हम लोग फीजी गये उस समय इन श्वेतांगों ने फीजियनों और भारतीयों को लड़ाना शुरू कर दिया था और जमीनें मूल में फीजियनों की हैं, भारतीयों ने चाहे अपने खून का पसीना बना उसे आबाद किया हो, पर वे उसके ठेकेदार ही हैं अतः जमीन फिर से फीजियनों की होनी चाहिए इस प्रश्न को उठा रखा था । इसका मूल कारण था फीजियनों का सीधापन और भारतीयों की बुद्धिमत्ता । ये श्वेतांग अपने शक्कर के कारखानों के लिए भारतीयों का उस प्रकार शोषण करने में असमर्थ थे जिस प्रकार का शोषण वे फीजियनों का कर सकते थे । श्वेतांगों को अपनी इस चाल में इसलिए और सहायता मिल रही थी कि भारतीय आपस में लड़ते थे । मैंने भारतीयों की आपस की यह लड़ाई केवल भारत में ही नहीं देखी, जहाँ-जहाँ भारतीय बसे हैं सभी जगह यह आपसी कलह मौजूद है । दक्षिण अफ्रिका में जो बात मैंने सन् ३७-३८ में देखी वही फीजी में सन् ५० में ।

सन् ५० की इस वैदेशिक यात्रा में कुल मिलाकर लगभग ५ सप्ताह मैं भारतवर्ष के बाहर रहा । वायुयान की यात्रा के कारण यात्रा में अधिक समय न लगा । यह सारा समय प्रायः इन देशों और कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी कान्फ्रेन्स में व्यतीत हुआ । न्यूजीलेंड के उत्तरीय द्वीप को देखने के लिए मोटर की कोई ६०० मील की यात्रा को छोड़ शेष सारी यात्रा, जो जाते-आते में लगभग बीस हजार मील की हुई, हवाई जहाज द्वारा की गयी । जिस तरह हमारे भारतवर्ष में अनेक प्राकृतिक और मानवीय रमणीय तथा भव्य स्थान

हैं उसी प्रकार न्यूज़ीलैंड, आस्ट्रेलिया और फीजी में भी। सिंगापुर में मैं केवल नगर में ही रहा, इसलिए मलाया के इस प्रकार के दर्शनीय स्थानों को देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त न हो सका। अपनी इस यात्रा का सिंहावलोकन करते समय मुझे जो स्थान सबसे अधिक सुन्दर मालूम हुए वे निम्नलिखित हैं—

(क) न्यूज़ीलैंड के परम रमणीय विशाल डेरी फार्म।

(ख) न्यूज़ीलैंड की बाइटमो गुफा, इस गुफा के ग्लोवर्म नामक जुगनू के सदृश चमकते कीड़े, गरम पानी के झरने और झीलें, कुछ झीलों में से उठने वाले गरम पानी के ऊँचे फव्वारे, उबलता कीचड़, ज्वालामुखी पहाड़ों के अवशेष और गन्धक के पहाड़।

(ग) माओरियों का नृत्य और संगीत।

(घ) आस्ट्रेलिया के सिडनी का जू।

(च) आस्ट्रेलिया के कैनबरा का युद्ध-स्मारक।

(छ) फीजी की हरियाली।

इन देशों के मानवों ने क्या-क्या किया है ?

न्यूज़ीलैंड, आस्ट्रेलिया, सिंगापुर और फीजी में वहाँ के निवासियों ने जो कुछ किया है उसमें सबसे अधिक आकर्षक बात है जीवन-स्तर की उच्चता। न्यूज़ीलैंड और आस्ट्रेलिया का जीवन-स्तर संसार के सबसे उन्नत देशों के जीवन-स्तर से कम नहीं। एशिया के देशों में प्रधान समस्या जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की है। इस तरह की कोई समस्या न्यूज़ीलैंड और आस्ट्रेलिया में नहीं है।

जीवन-स्तर की इस उच्चता के प्रधान कारण दो हैं—इन देशों की कम आबादी और उत्पादन का बाहुल्य।

न्यूज़ीलैंड में प्रति इकाई उत्पादन तथा प्रति एकड़ भूमि का उत्पादन जापान के सिवा संसार में शायद सर्वश्रेष्ठ है। न्यूज़ीलैंड के पुरुष मजदूरों का प्रति इकाई उत्पादन आस्ट्रेलिया के मजदूरों के उत्पादन से भी ५० प्रतिशत अधिक और अमेरिका के मजदूरों से तो चार गुना अधिक है। उत्पादन के वितरण की भी ऐसी व्यवस्था है जिसके कारण समाज में न बहुत धनवान हैं

और न गरीब, गरीब तो हैं ही नहीं। इस विषय में भी न्यूजीलैंड कदाचित् संसार का सर्वश्रेष्ठ देश है, और न्यूजीलैंड की विशेषता यह है कि जिस साम्यवादी सामाजिक रचना में व्यक्तिगत प्रोत्साहन की प्रायः समाप्ति हो जाती है उस व्यक्तिगत प्रोत्साहन के सम्पूर्ण रीति से विद्यमान रहते हुए भी यह समता आ सकी है। न्यूजीलैंड के सम्बन्ध में तो यह कहा जा सकता है कि उस देश की सामाजिक व्यवस्था साम्यवाद को एक चुनौती है। वहाँ के लोग हर दृष्टि से सुखी हैं, सन्तुष्ट हैं। न्यूजीलैंड के लोगों की औसत आयु जो संसार में सबसे अधिक है उसका श्रेय वहाँ की जलवायु के अतिरिक्त इस सुख और सन्तोष को भी है।

आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड दोनों देश कामनवैल्थ में रहते हुए भी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं और वहाँ की राज्य-प्रणाली प्रजातन्त्रात्मक है, जो बड़ी सफलता से चल रही है। वहाँ के निवासियों को बालिग मताधिकार है। राजनैतिक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न दल हैं। जहाँ तक कानूनों का सम्बन्ध है न्यूजीलैंड के सामाजिक सुरक्षा कानूनों के सदृश कानून संसार के किसी देश में नहीं हैं यह कहा जाता है। इन कानूनों के कारण न्यूजीलैंड की जनता में किसी प्रकार की चिन्ता और आशंका नहीं रह गयी है। बड़ी-बड़ी जायदादें लोग इसलिए बनाते हैं कि उन्हें भविष्य में किसी प्रकार का कष्ट न हो। जब समाज-व्यवस्था न्यूजीलैंड की तरह हो, जहाँ जन्म से मृत्यु तक सामाजिक सुरक्षा का प्रबन्ध है, तो भविष्य की चिन्ता और भय के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। लोग ईमानदारी से काम करते हैं और उनके व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का नैतिक स्तर उच्च रहता है। अतः न्यूजीलैंड के लोगों का नैतिक स्तर संसार के कई देशों से ऊँचा है यह आश्चर्य की बात नहीं।

आस्ट्रेलिया इस दृष्टि से न्यूजीलैंड से बहुत पीछे है, पर न्यूजीलैंड का पड़ोसी होने के कारण उसे न्यूजीलैंड का अनुसरण करना पड़ता है।

सिंगापुर और फीजी के निवासियों का भी जीवन-स्तर तो काफी ऊँचा है, पर ये देश ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश हैं। यहाँ न राजनैतिक स्वतन्त्रता है न सामाजिक समता और न सुरक्षा सम्बन्धी कानून। जीवन-स्तर की ऊँचाई को यदि छोड़ दिया तो इन देशों में वे सभी संघर्ष मौजूद हैं, जो राजनैतिक

पराधीनता एवं सामाजिक समता न रहने के कारण पैदा होते हैं ।

न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया की जो समस्याएँ हल नहीं हुई हैं

न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है उससे यह न समझ लिया जावे कि इन देशों में कोई समस्याएँ हल होने को रह ही नहीं गयी हैं । इन देशों की कम आबादी जो इन देशों के जीवन-स्तर की उच्चता का एक प्रधान कारण है वही इन देशों की जो समस्याएँ हल नहीं हुई हैं उसका प्रधान कारण है, साथ ही इन देशों की कम आबादी ने विश्व की दृष्टि से कई समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है ।

वहाँ की जो प्रधान समस्याएँ हल नहीं हुई हैं, वे हैं—

(क) आबादी की कमी ।

(ख) लाखों एकड़ भूमि खाली पड़ी है ।

(ग) प्राकृतिक द्रव्य और साधनों की खोज तक नहीं हुई । उनके उपयोग का प्रश्न पीछे उठेगा ।

(घ) आबादी की कमी के कारण सुरक्षा की उचित व्यवस्था नहीं है ।

(च) यद्यपि न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया की सरकारें विदेशियों को अपने देश में बसाने के लिए सतत प्रयत्न कर रही हैं पर वे सिर्फ गोरी चमड़ी के लोगों को बसाना चाहती है, दूसरे रंग के लोगों को नहीं । इसके कारण चाहे वे कुछ भी बतायें, परन्तु मूल कारण यही है कि उन्हें दूसरे रंग से नफरत है । पिछले महायुद्ध के अपने दुश्मन जर्मन लोगों तक को बसाने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं, परन्तु जिसे वे कामनवैल्थ कहते हैं, उनके गेंहुएं अथवा श्याम निवासियों को नहीं ।

(छ) विदेशों के सम्बन्ध में जानकारी कम है । परम्परागत अन्धविश्वास, रंग-भेद, वैमनस्य आदि को ज्ञान द्वारा दूर करने के लिए पर्याप्त उपाय नहीं हो रहे हैं ।

इन समस्याओं को हल करने में क्या हम सहायक हो सकते हैं

सुदूर दक्षिण-पूर्व की समस्याओं को हल करने के लिए हमें अपनी समस्याओं

को भी देखना पड़ेगा। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद बड़ी विकट समस्याएँ हमारे सामने आयी हैं। हमारा देश पुराना होते हुए भी हमारी स्वतन्त्रता बिलकुल नयी है। एक तरफ तो इस स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न है, दूसरी ओर अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठाने का प्रश्न है। हमारे देश में प्रति वर्ग मील ३७१ लोग रहते हैं, इतना ही नहीं, हमारी आबादी दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ रही है। हमारी अनेक समस्याओं के रहते हुए भी हमारी प्रधान समस्या है हमारी जनसंख्या। हमें भूमि की आवश्यकता है और सुदूर दक्षिण-पूर्व के आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड देशों को अपनी सभी समस्याओं को हल करने के लिए जन-शक्ति की।

कैनेडा के सीनेटर रूबक का यह कथन कितना उपयुक्त है—"इतिहास इस बात का साक्षी है कि यदि आप अपनी भूमि में न बसें और उसका उपयोग न करें तो आप उसकी रक्षा करने में असमर्थ होंगे, फलतः अवसर पाते ही कोई न कोई उसका उपयोग करेगा और अधिकार भी जमा लेगा।" आस्ट्रेलिया के एक मंत्री और बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर श्री आर० जी० केसी ने कहा है, "यदि हम शीघ्र ही आस्ट्रेलिया को आबाद न करेंगे तो हम अपने देश को खो बैठेंगे।" अभी समय है कि ये देश इन चेतावनियों पर ध्यान दें। हमारी जन-शक्ति का उचित उपयोग हो तो हम सुदूर दक्षिण-पूर्व की समस्याओं को हल करने में सहायक हो सकते हैं।

ये समस्याएँ और कामनवैल्थ

न्यूजीलैंड में कामनवैल्थ पार्लियामेंट एसोसियेशन का अधिवेशन ही मेरी इस यात्रा का कारण था। इस अधिवेशन में जो कार्यवाही हुई उसका उल्लेख ऊपर किया गया है। इस एसोसियेशन ने अपने ४० वर्ष के जीवन में जो कुछ प्राप्त किया वह विशेष गौरव की बात नहीं है, लेकिन पिछले ४-६ वर्षों में इस एसोसियेशन में नया जीवन और नयी स्फूर्ति आयी है। सन् १९४८ के लन्दन अधिवेशन से इस नये जीवन का परिचय मिला। सन् १९५० के न्यूजीलैंड अधिवेशन में यह स्पष्ट दिखायी दिया कि एसोसियेशन अपने आज तक के जीवन से बहुत असन्तुष्ट है और अब कोई महान् कार्य करना चाहता है,

जिससे उसका भावी जीवन सार्थक हो। हमें इस बात का हर्ष है कि समय की गति के साथ एसोसियेशन अपना कार्यक्रम, विधान और विचारधारा बदल नये युग में नये कार्य के लिए तत्पर हुआ है।

इस नवीन उत्साह का एक ज्वलन्त उदाहरण कोलम्बो योजना है। कामनवैल्थ के देशों की आर्थिक उन्नति के लिए कामनवैल्थ के इतिहास में यह प्रथम योजना है जिसमें ईमानदारी से कुछ काम किया गया है और अधिकांश होने वाला है। यह ठीक है कि योजना बनाना ही सब कुछ नहीं है उसको कार्यान्वित करना आवश्यक है, किन्तु योजना बनाना पहला और आवश्यक कदम है। अब आवश्यकता इस बात की है कि कोलम्बो योजना के लिए समुचित सहयोग और साधन जुटा उसके अनुसार कार्य किया जावे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोलम्बो योजना के कार्यान्वित होने से भारत, पाकिस्तान, लंका, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, फीजी, कैनेडा, इंगलैंड आदि कामनवैल्थ के सभी देशों को लाभ होगा। परस्पर विश्वास और प्रेम से प्रेरित हो जातीय और धार्मिक भेदों तथा संकुचित स्वार्थों से परे उठ अदम्य साहस एवं लगन से कार्य करने की आवश्यकता है। पार्थिव दृष्टि से संसार में सबसे निम्न कोटि का जीवन कामनवैल्थ के अधिकांश देशों में है। इस जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सारी भूमि और सारे प्राकृतिक साधनों का उपयोग करना जरूरी है। कुछ वर्ष पहले संयुक्त राष्ट्र संस्था के "एशिया और सुदूर पूर्व कमीशन" ने जो रिपोर्ट निकाली है वह बड़ी उपयोगी है। इस रिपोर्ट में यह बतलाया गया है कि एशियाई देशों का पार्थिव जीवन निम्नतम होने का प्रधान कारण है उत्पादन की कमी। इन देशों में प्रति इकाई जमीन का उत्पादन, प्रति मजदूर जमीन और कारखानों का उत्पादन, यह सब दूसरे देशों की प्रति इकाई उत्पादन का दसवां भाग भी नहीं है। हमें प्रत्येक कृषक, प्रत्येक मजदूर की उत्पादन-शक्ति बढ़ाना है, प्रत्येक एकड़ भूमि का उत्पादन बढ़ाना है। न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, अफ्रिका, कैनेडा में लाखों एकड़ भूमि खाली पड़ी है, आबादी की सख्त जरूरत है। इसके विपरीत भारतवर्ष और पाकिस्तान में अत्यधिक आबादी है और प्रति वर्ष ५० लाख के हिसाब से बढ़ रही है।

यदि कामनवैल्थ का कोई अर्थ है तो इन देशों को मिल-जुल कर परस्पर सहायता कर अपनी समस्याएँ हल करनी चाहिएँ। जाति और रंग के भेद की बड़ी दीवार परम्परा से खड़ी थी, अब उसकी नींव हिलने लगी है। संसार के आधे मानव सुख में रहें और आधे दुख में पिसें यह परिस्थिति अधिक समय न रह सकेगी। मनुष्य की बुद्धि, उसकी कार्य-कुशलता और उसके मनुष्यत्व पर लानत है यदि वह भूमण्डल की सारी भूमि का उपयोग नहीं करता, और सारे प्राकृतिक साधनों को काम में नहीं लाता। क्या कारण है कि विज्ञान के महान् आविष्कारों का उपयोग सब मनुष्यों को सुखी बनाने के लिए नहीं हो रहा है?

कामनवैल्थ के सदस्य देशों में पुराना मैत्री सम्बन्ध है। बिना किसी विधान के हम सब परस्पर प्रेम के सूत्र में बँधे हैं। अब समय आगया है कि इस प्रेम सम्बन्ध का पार्थिव क्षेत्र में पूर्ण उपयोग हो। इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि कामनवैल्थ के सदस्य देश तथा सुदूर दक्षिण-पूर्व के अन्य देश भी एक दूसरे की समस्याओं पर सहानुभूति से विचार करें। आपसी समस्याओं को गम्भीरता से समझकर यह देखें कि वे न केवल मानवता के कारण बल्कि परस्पर लाभ के लिए क्या कर सकते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि आपसी ज्ञान बढ़े। यों तो ज्ञान की वृद्धि पुस्तकें पढ़ने से हो जाती है, लेकिन सहानुभूति का उदय स्वयं निरीक्षण और व्यक्तिगत सम्बन्ध से ही होता है। इसलिए विदेश-यात्रा का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। कई बार तो यह देखा जाता है कि पुस्तकों द्वारा अपने अन्धविश्वासों और संकुचित भावनाओं तथा विचारों की पुष्टि होती है, किन्तु स्वयं के साक्षात् अनुभव के बाद यह सम्भावना कम रहती है। हवाई जहाज, रेडियो, टेलीफोन आदि आविष्कारों की सहायता से देश-विदेश का सम्पर्क इतना बढ़ गया है कि संसार वास्तव में छोटा मालूम पड़ता है। सभी देश एक दूसरे के समीप आ गये हैं। आवागमन और यातायात की सुविधा के कारण मानवों का सम्पर्क बढ़ा है, दिनोंदिन बढ़ रहा है। इस सम्पर्क को सार्थक और परस्पर लाभ के हेतु उपयोगी बनाने के लिए निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(क) शिक्षा, व्यापार, विज्ञान, कला आदि क्षेत्रों में विचार-विनिमय के

लिए प्रतिनिधिमण्डल, परिषदों और सम्मेलनों का आयोजन।

(ख) विद्यार्थियों, अध्यापकों, व्यापारियों, वैज्ञानिकों, विशेषज्ञों और कलाकारों का विनिमय, जिससे सहानुभूति के साथ पारस्परिक समस्याओं पर विचार हो और जीवन के सभी क्षेत्रों में सहयोग का आदान-प्रदान हो।

(ग) भिन्न-भिन्न देशों में व्यापारी-सचिवों के द्वारा वाणिज्य और औद्योगिक प्रदर्शनी, बुलेटिन, अखबारों और पुस्तकों द्वारा आयात-निर्यात व्यापार का प्रोत्साहन।

(घ) विदेशी यात्रियों और दर्शकों को अपना जीवन और अपनी संस्कृति से परिचित कराने के लिए सरकारों की ओर से समुचित प्रबन्ध।

(च) कालेजों और विश्वविद्यालयों में विदेशी संस्कृतियों का अध्ययन इस दृष्टि से हो कि आपसी वैमनस्य दूर हों, परस्पर सहानुभूति बढ़े, एक दूसरे से अच्छी बातें सीखें, अपने जीवन को सुखी बनाने का उपाय सोचें।

"न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया की जो समस्याएँ हल नहीं हुई हैं" तथा "इन समस्याओं को हल करने में क्या हम सहायक हो सकते हैं," इन शीर्षकों में जो कुछ लिखा गया है उसके हल का आरम्भ कामनवैल्थ देशों द्वारा होना चाहिए। कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी एसोसियेशन के सदृश एक पुरानी संस्था मौजूद है, जिसका दफ्तर है, जहाँ सदा कार्य होता रहता है तथा समय-समय पर इस एसोसियेशन की परिषदें भी होती हैं।

अब तक के विश्व के इतिहास में देखा गया है कि जब कोई भी समस्या या समस्याएँ उत्कट रूप ग्रहण कर लेती हैं तब उनके हल के लिए युद्ध होते हैं, विप्लव होते हैं, क्रान्तियाँ होती हैं। इस प्रकार के संघर्षों के निवारण के लिए आज का सभ्य मानव शान्तिमय उपायों की खोज कर रहा है। क्या कामनवैल्थ कहलाने वाले भू-भाग के विचारक कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी एसोसियेशन के सदृश संस्थाओं द्वारा इन समस्याओं पर सहानुभूतिपूर्वक विचार कर और इन विचारों को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न कर कामनवैल्थ के नाम को सार्थक करेंगे? यदि इस दिशा में शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा सफलता न मिली तो संघर्ष होकर नाश होना अनिवार्य है।

इस यात्रा पर हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में मैंने एक पुस्तक लिखी है। हिन्दी में इस पुस्तक का नाम है "सुदूर दक्षिण पूर्व" और अंग्रेजी में "आन विंग्स टू दी एन्ज़ैक्स।" पुस्तक के हिन्दी संस्करण की तो विशेष चर्चा नहीं हुई, पर अंग्रेजी संस्करण की भारत के अंग्रेजी पत्रों और अंग्रेजी भाषा-भाषी विदेशों में बहुत अधिक चर्चा हुई। इस आत्मकथा का यह अध्याय उसी पुस्तक पर आधारित है।

कांग्रेस अध्यक्ष पद से टण्डनजी का कार्य

श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डन हमारे देश के उन इने-गिने व्यक्तियों में हैं जिनके चरित्र-बल और हाथ में लिये हुए काम की लगन के कारण उनके अनुयायी तो उनमें असीम श्रद्धा और भक्ति रखते ही हैं, पर उनके विरोधियों का सिर भी उनके सामने झुक जाता है। उनके चरित्र के कारण देश की जनता ने उन्हें राजर्षि की उपाधि से विभूषित किया है।

कांग्रेस के अध्यक्ष होने और अपनी कार्य-समिति के निर्माण के बाद वे कांग्रेस के कार्य में जुट गये। उन्होंने एक ओर कांग्रेस के दफ्तर को ठीक कर वहाँ घंटों बैठ स्वयं सारे कार्यों का संचालन शुरू किया, दूसरी ओर श्री कृपलानीजी आदि जो कांग्रेस से निकल गये थे उन्हें पुनः कांग्रेस में लाने का प्रयत्न और तीसरे देश का दौरा। दौरे में जहाँ-जहाँ वे गये उनका भव्य स्वागत हुआ।

यह दौरा कलकत्ते से आरम्भ हुआ। कलकत्ते में कम अवसरों पर वहाँ की जनता ने ऐसे उत्साह के दृश्य देखे हैं जैसे टण्डनजी के दौरे के अवसर पर।

टण्डनजी का मध्य प्रदेश और महाकोशल में भी दौरा हुआ। महाकोशल का दौरा बिलासपुर, रायगढ़, रायपुर, बेलसोंड़ा, महासमुन्द, दुर्ग, राजनांदगाँव, बालाघाट, जबलपुर और कटनी स्थानों का हुआ। महाकोशल के इस सारे दौरे में महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति की हैसियत से मैं टण्डनजी के साथ रहा। कैसा जोश था महाकोशल में टण्डनजी के इस दौरे में। महती सभाएँ हुईं। बड़ी-बड़ी थैलियाँ उन्हें कांग्रेस के कार्य के लिए भेंट की गयीं। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है सन् ३० के बाद महाकोशल में कांग्रेस के सभापतियों में अब तक किसी का इतना सफल दौरा न हुआ था।

कार्यकारिणी की बैठकें

टण्डनजी की कार्यकारिणी की पहली बैठक में सम्मिलित होने के बाद मैं न्यूजीलैंड चला गया था। पहली जिस बैठक में मैं उपस्थित था उसमें कोई खास बात नहीं हुई थी। हाँ, सरदार पटेल उसमें मौजूद थे और नेहरूजी तथा सरदार पटेल दोनों का उस बैठक पर मुझे समान प्रभाव जान पड़ा। न्यूजीलैंड में मेरी गैर हाजिरी में कार्यकारिणी की जो दो बैठकें हुईं उनमें मैं नहीं था, पर जब मैं लौटकर आया तब मुझे मालूम हुआ कि एक बैठक में तो सरदार पटेल थे, पर दूसरी बैठक में बीमारी के कारण वे उपस्थित न हो सके थे, यद्यपि बैठक दिल्ली में उन्हीं के निवास-स्थान पर हुई थी।

गान्धीजी के स्वर्गवास के बाद इस देश के नेतृत्व की बागडोर जिनके हाथों में गयी उनमें दो मुख्य व्यक्ति थे—पण्डित नेहरू और सरदार पटेल। अनेक बातों में इन दोनों नेताओं के दृष्टि-बिन्दु में आकाश-पाताल का अन्तर था, परन्तु गान्धीजी के नेतृत्व में दोनों ने वर्षों नहीं, युगों साथ-साथ काम किया था। दोनों एक दूसरे को समझते थे, दोनों एक दूसरे के भिन्न मतों को भी सहन कर कार्य-क्षेत्र में किसी भी तरह अपनी पटरी बिठा लिया करते थे। फिर सरदार काफी वृद्ध हो गये थे और गान्धीजी अपना उत्तराधिकारी नेहरूजी को बना गये थे अतः जहाँ कहीं नेहरूजी की और उनकी पटरी न बैठती वहाँ वे अपनी बात छोड़ देते और नेहरूजी का अनुसरण करते। उनके मन में यह भावना काम करती कि अब मैं कितने दिन का, आखिर नेहरू को ही देश का नेतृत्व करना है। गान्धीजी के रहते दोनों में चाहे कभी घोर मतभेद भी हुआ हो और सरदार ने चाहे कभी नेहरूजी के विरोध की बात भी सोची हो, पर गान्धीजी के बाद उन्होंने कभी भी नेहरूजी के विरोध की कल्पना करना भी छोड़ दिया था। अपने एक भाषण में उन्होंने यह तक कह डाला था कि नेहरू का विरोध करना पाप है और गान्धीजी के प्रति विश्वासघात है। सरदार की यह महानता थी और बड़ी से बड़ी देश-भक्ति।

जब मैं न्यूजीलैंड से लौटकर फिर कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक में गया तो मुझे ऐसा जान पड़ा कि श्री नेहरू और श्री पटेल दोनों के रहते से कांग्रेस कार्यकारिणी में जो एक प्रकार का सन्तुलन सा था, वह नहीं है। सारी कार्य-

कारिणी पर नेहरूजी का आधिपत्य है और आधिपत्य के रहते हुए भी नेहरूजी को कार्यकारिणी पर विश्वास नहीं है। एक विचित्र-सी परिस्थिति थी। कांग्रेस अध्यक्ष टण्डनजी और देश के उस समय के सर्वमान्य नेता नेहरूजी के दृष्टिकोण के अन्तर के कारण, दोनों का व्यक्तिगत अच्छे से अच्छा सम्बन्ध रहते हुए भी, सार्वजनिक कार्यों में एक दूसरे से अनजाने-अनजाने ही खिचाव। कार्यकारिणी सभापति द्वारा नामजद होने के कारण उसके सदस्यों के लाख प्रयत्न करने पर, और नेहरूजी को बार-बार अनेक प्रकार से आश्वासन दिलाने पर भी कि उसे नेहरूजी के नेतृत्व में अखण्ड विश्वास है, नेहरूजी का उसमें अविश्वास तथा उनके मन में यह भावना कि इस कार्यकारिणी में या तो वे अकेले हैं या उनके साथी दो एक को छोड़ अधिक नहीं हैं। कांग्रेस की कार्य-कारिणी के अधिकांश सदस्यों की अपेक्षा जो कांग्रेस से निकल गये थे उनमें से कुछ पर नेहरूजी को कदाचित् अधिक विश्वास था।

ऐसे विचित्र वायुमण्डल में कांग्रेस की कार्यसमिति की बैठकें होतीं। ज्यों-ज्यों चुनाव समीप आता जाता यह वायुमण्डल और अधिक खराब होता जाता। सदा देवी-देवता मनाते-मनाते ये बैठकें होतीं और हमेशा यह भय लगा रहता कि न जाने किस दिन क्या होगा।

जब चुनाव की बात आती पण्डितजी सदा यही कहते कि उन्हें चुनाव के सम्बन्ध में कोई उत्साह ही नहीं है और उनकी समझ में ही नहीं आता कि वे चुनाव किस प्रकार लड़ सकेंगे। उन्हें यह सन्देह हो गया था कि उनके सिद्धान्तों से कार्यसमिति को केवल मौखिक सहानुभूति है और हम सब चुनाव के लिए उनका उपयोग भर करना चाहते हैं। उधर कार्यकारिणी के सदस्यों को यह विश्वास था कि बिना पण्डितजी की सहायता के चुनाव में कांग्रेस नहीं जीत सकती अतः कोई भी क्षण मात्र के लिए उन्हें अप्रसन्न न करना चाहता और हर व्यक्ति उनका विश्वासपात्र बनना चाहता जिसमें कुछ को छोड़ शेष को सफलता के कोई चिह्न ही नहीं दिखायी देते।

अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार काम तो सभी कर रहे थे, मैं भी, पर मुझे याद नहीं पड़ता कि तीस वर्षों के सार्वजनिक जीवन में मैंने कभी भी ऐसे वायुमण्डल में काम किया हो। कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य की

हैसियत से मैंने अपने को जितना निकम्मा पाया उतना अपने सारे सार्वजनिक जीवन में कहीं भी नहीं।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठकें

टण्डनजी के कांग्रेस अध्यक्ष होने के बाद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की जो दो बैठकें हुईं, अहमदाबाद और दिल्ली में, उन बैठकों में कांग्रेस विधान में परिवर्त्तन हुआ और अखिल भारतीय चुनाव समिति में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की ओर से कांग्रेस संविधान के अनुसार जो पाँच सदस्य चुने जाते थे, उनका चुनाव हुआ। पहले यह चुनाव अहमदाबाद में ही होने वाला था, पर कांग्रेस से निकले हुए सज्जनों के कांग्रेस में वापस आने की बात अभी भी चल रही थी अतः अहमदाबाद में यह चुनाव मुल्तवी कर दिया गया। अहमदाबाद में अखिल भारतीय चुनाव समिति में जब कांग्रेस से निकले हुए लोगों में से श्री कृपलानीजी तथा श्री किदवई साहब के लेने की बात आयी और इस विषय में टण्डनजी से पूछा गया तब उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि यह अधिकार अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को है और यदि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी श्री किदवई को चुनती है तो उन्हें कोई भी आपत्ति नहीं। कार्यकारिणी के सदस्यों को नामजद करने का अधिकार सभापति को था और उस हैसियत से वे उस व्यक्ति को नामजद नहीं कर सकते थे जिस पर उनका भरोसा न था। अहमदाबाद के बाद दिल्ली की अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी तक जब समझौता न हुआ तब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अखिल भारतीय चुनाव समिति में पाँच सदस्य चुन दिये। यह चुनाव सर्व-सम्मति से हुआ। इन कार्रवाइयों के अतिरिक्त कार्यसमिति के प्रस्तावों के अलावा अन्य सदस्यों के प्रस्तावों पर भी बहस हुई। और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के इन अधिवेशनों की सारी कार्रवाई टण्डनजी ने जिस प्रकार चलायी उसके कारण लोगों का उनके प्रति आदर और बढ़ गया।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की तीसरी बैठक बेंगलोर में हुई। इस बैठक में आम चुनावों के लिए कांग्रेस का घोषणा-पत्र पास हुआ। पहले इस घोषणा-पत्र के एक-एक शब्द पर कार्यसमिति में विचार हुआ, तदुपरान्त

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में। इस घोषणा-पत्र का मसौदा जवाहरलाल जी ने ही बनाया था। मैंने प्रयत्न कर इस घोषणा-पत्र में गोरक्षा विषयक एक धारा जुड़वा दी। जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में इस धारा पर एक सुधार आया, जिसका आशय यह था कि चुने जाने पर कांग्रेस दल देश में गोवध तत्काल बन्द कर देगा, तब मैंने कार्यकारिणी की धारा का ही समर्थन करते हुए यह कहा कि यद्यपि मैं भी देश में गोवध तत्काल बन्द करने के पक्ष में हूँ तथापि इस समय की परिस्थिति में कार्यसमिति ने इस विषय में जो धारा रखी है, वही स्वीकृत होना चाहिए। मेरे इस भाषण की देश के कई क्षेत्रों में बड़ी आलोचना हुई, पर लोगों को अन्दर की बात नहीं मालूम थी। मैं उस समय कांग्रेस की कार्यकारिणी का एक सदस्य था और यदि मैं प्रयत्न न करता तो गोरक्षा की बात घोषणा-पत्र में आती ही नहीं। जब गोरक्षा की यह धारा कार्यसमिति ने स्वीकृत की तब यह तय हो गया था कि इस पर यदि कोई सुधार आयगा तो उसका विरोध मैं करूँगा। गोरक्षा की बात घोषणा-पत्र में कही ही न जाय इसकी अपेक्षा मैंने कार्यसमिति में स्वीकृत धारा का ही समर्थन करना उचित समझा। और फिर उस धारा में यह तो कहा न गया था कि गोवध होता रहेगा, इसीलिए सम्पूर्ण गोवध बन्द करने वाले सुधार पर बोलते हुए जवाहरलालजी ने यह कहा था कि भिन्न-भिन्न प्रदेश इस सम्बन्ध में जो कुछ करना चाहें, उन्हें करने का अधिकार है।

बेंगलोर की कार्यसमिति की बैठक में हम सदस्यों को एक बात नयी मालूम हुई। नेहरूजी ने टण्डनजी को लिखा था कि देश में अनुकूल वायुमण्डल पैदा करने के लिए उन्हें इस कार्यसमिति को भंग कर नयी कार्यसमिति बनानी चाहिए। जब नेहरूजी ने स्वयं कार्यसमिति की बैठक में यह बात कही तब हम सब कार्यसमिति के सदस्यों ने तत्काल त्याग-पत्र देने के लिए कहा, क्योंकि हम अपने अस्तित्व के कारण इस संघर्ष को चलने न देना चाहते थे और हम नेहरूजी की इच्छानुसार नयी कार्यसमिति के निर्माण के लिए टण्डनजी का रास्ता साफ कर देना चाहते थे। पर टण्डनजी ने हमारे स्तीफे लेना अस्वीकृत कर दिया और कहा कि उनके द्वारा बनायी हुई कार्य-समिति को भंग करने का प्रस्ताव उन पर अविश्वास प्रकट करना है और

ऐसी हालत में वे स्वयं त्याग-पत्र देने को तैयार हैं।

पण्डितजी उस समय शायद टण्डनजी का त्याग-पत्र लेना न चाहते थे अतः कार्यसमिति में यह चर्चा वहीं रुक गयी, परन्तु यह बात छिपी न रही और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में इस विषय पर गरमा-गरम बहस हुई। वहाँ भी विषय का कोई निपटारा न हुआ और इस प्रकार बेंगलोर में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का यह अधिवेशन समाप्त हुआ।

टण्डनजी का कांग्रेस के सभापतित्व से स्तीफा

बेंगलोर से लौटते ही जिस विस्फोट की आशंका थी, वह हुआ। नेहरूजी ने कांग्रेस कार्यकारिणी से स्तीफा दे दिया।

कांग्रेस के विधान के अनुसार टण्डनजी नेहरूजी का स्तीफा स्वीकार कर सकते थे, पर वे जानते थे कि देश इस समय नेहरूजी के साथ है अतः उन्होंने नेहरूजी के स्तीफे पर विचार करने को दिल्ली में फिर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक बुलायी।

इसी बीच संसदीय कांग्रेस दल की एक बैठक हुई जिसने नेहरूजी के नेतृत्व में एक प्रस्ताव द्वारा अपना विश्वास व्यक्त किया।

पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र को यह अनुचित जान पड़ा और उन्होंने इसके विरुद्ध एक वक्तव्य दे मध्य प्रदेश के मन्त्रित्व से स्तीफा दे दिया। एक प्रकार से संसदीय कांग्रेस दल की यह कार्रवाई आवश्यक थी भी नहीं, क्योंकि यह प्रश्न संसद् का न होकर कांग्रेस का था, पर इसी के साथ मिश्रजी के मन्त्रित्व से भी इसका कोई सम्बन्ध न था। मिश्रजी की इस कार्रवाई से हमारे प्रान्त में मिश्रजी के विरोध में एक उत्कट वायुमण्डल बन गया।

बात यह है कि टण्डन-नेहरू के इस संघर्ष से कांग्रेस संगठन का सारा सन्तुलन ही बिगड़ गया था और कहीं भी कुछ भी हो रहा था।

दिल्ली की अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में टण्डनजी ने कांग्रेस अध्यक्ष पद से स्तीफा दे दिया जो बहुमत से स्वीकृत हुआ और नेहरूजी कांग्रेस अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

टण्डनजी का स्तीफा स्वीकृत न किया जाय इस पक्ष में मैंने भी वोट

दिया, परन्तु जब उनका त्याग-पत्र स्वीकृत हो गया और केवल नेहरूजी का नाम अध्यक्ष-पद के लिए प्रस्तावित हुआ तब उसके विरोध की आवश्यकता न थी। न जाने पं० रविशंकरजी शुक्ल और उनके साथ तीन अन्य सदस्यों ने नेहरूजी के निर्वाचन के विरोध में क्यों हाथ उठाये। नेहरूजी का सर्वमत से न चुना जाना अधिकांश लोगों को अच्छा न लगा। शुक्लजी की इस कार्रवाई के विरुद्ध हमारे प्रान्त में भी काफी क्षोभ हुआ, पर नयी बात नौ दिन खींच-ताने तेरह दिन की कहावत के अनुसार थोड़े दिनों में लोग इसे भूल गये।

मुसोलिनी ने एक जगह ठीक ही लिखा है "किसी भी संगठन में एक सतह के दो नेताओं का रहना सम्भव नहीं।"

मिश्रजी का कांग्रेस से त्याग-पत्र और उसके बाद

मिश्रजी ने जिस प्रकार मध्य प्रदेश के गृह मन्त्री पद से त्याग-पत्र देते समय मुझसे अथवा अन्य मित्रों से कोई सलाह न ली थी उसी प्रकार कांग्रेस से त्याग-पत्र देते समय भी नहीं। उस समय और इस समय में इतना अन्तर अवश्य था कि उस त्याग-पत्र का निर्णय उन्होंने अपने जबलपुर के दौरे के समय किया था, जब न मैं जबलपुर में था और न पं० रविशंकरजी शुक्ल आदि और यह निर्णय उन्होंने दिल्ली में किया जब वहाँ अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक के कारण शुक्लजी, मैं, हमारे प्रदेश के अन्य सभी कार्यकर्त्ता तथा अन्य प्रान्तों के भी सभी प्रधान-प्रधान कांग्रेसवादी मौजूद थे और जिनमें से अनेक का अब मिश्रजी से व्यक्तिगत सम्बन्ध हो गया था। शुक्लजी और मिश्रजी दिल्ली में सदा मेरे साथ ही ठहरते थे अतः हम तीनों तो एक ही जगह थे, इतने पर भी मिश्रजी ने हम दोनों से इस सम्बन्ध में कोई सम्मति नहीं चाही। जब हमें मिश्रजी ने अपना निर्णय बताया तब हम दोनों ने उन्हें यह न करने के लिए बहुत समझाया भी, पर उन्होंने हमारी एक न मानी। उनके इस स्तीफे देने के पूर्व श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डन को भी उनका इरादा मालूम हुआ। टण्डनजी बहुधा मेरे यहाँ आया करते थे। मेरे सामने टण्डनजी ने भी उन्हें बहुत समझाया, पर वे अपने निश्चय पर अडिग रहे।

ता० ९ सितम्बर को मिश्रजी ने कांग्रेस से अपना त्याग-पत्र मुझे दिया। महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष होने के कारण यह त्याग-पत्र उन्होंने मुझे ही दिया था। इस त्याग-पत्र का हमारे प्रान्त के उस समय के राजनैतिक जीवन से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था अतः उसे परिशिष्ट १ में दिया गया है।

यह त्याग-पत्र देकर ता० १० सितम्बर को मिश्रजी ने दिल्ली में ही एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया। यह सभा अखिल भारतीय जनसंघ के तत्वावधान में की गयी थी। यद्यपि मिश्रजी जनसंघ के सदस्य नहीं हुए थे

तथापि उन्होंने जनसंघ के तत्वावधान में भाषण देने में कोई अनौचित्य नहीं माना। सुना गया कि मिश्रजी का भाषण बड़ा जोरदार हुआ। जब वे यह भाषण देकर मेरे यहाँ लौटे तब वे बड़े उत्साहित और प्रसन्न थे। सभा की उपस्थिति और उनके भाषण की प्रशंसा सुन तथा उनका उत्साह एवं प्रसन्नता देख शुक्लजी ने उनकी पीठ ठोकी। मुझे न उनका गृह मन्त्री पद और कांग्रेस से त्याग-पत्र देना ठीक जान पड़ा था और न इस प्रकार के आन्दोलन का श्रीगणेश करना ही, परन्तु मिश्रजी ने जो दृढ़ता दिखायी थी तथा उस समय मेरे बंगले का जो वायुमण्डल हो गया था उसमें उनके विरोध में मेरे कुछ कहने का साहस न होता था, साथ ही इस सारे दृष्टिकोण से मतभेद होने के कारण मैं उनका समर्थन भी न कर सकता था। शुक्लजी ने और मैंने दोनों ने ही कांग्रेस न छोड़ने का निर्णय किया था और इस निर्णय के बाद शुक्लजी का मिश्रजी की पीठ इस प्रकार ठोकना भी मुझे युक्तिसंगत न दिखा, पर यह था कदाचित् मिश्रजी के स्नेह के कारण, न कि उनके इस समय के सिद्धान्तों की वजह से।

इस सभा के दूसरे दिन ही मिश्रजी और शुक्लजी दिल्ली से रवाना हो गये।

मैंने मिश्रजी से स्पष्ट कह दिया था कि मैं कांग्रेस छोड़नेवाला नहीं हूँ। मैं इसमें देश का अहित देखता था। नेहरूजी से अनेक बातों में मतभेद होते हुए भी मैं उनके नेतृत्व को देश के लिए मिश्रजी के शब्दों में "अभिशाप" न मान कर "वरदान" मानता था। मिश्रजी से पिछले दिनों में मेरा जो मतभेद रहा था उसका इस समय मेरे मन में कोई स्थान न था। मैंने कांग्रेस में रहने का इसलिए निर्णय नहीं किया कि मिश्रजी कांग्रेस में नहीं रह रहे थे और ऐसी स्थिति में मिश्रजी को नीचा दिखाने का मुझे मौका मिलेगा। कांग्रेस में मैं सदा रहा था और अभी भी रहने वाला ही था। मिश्रजी का त्याग-पत्र स्वीकार कर मैंने जो पत्र उन्हें लिखा उससे मेरे आगे का कार्यक्रम भी स्पष्ट हो जाता था। उस पत्र को भी परिशिष्ट १ में दिया गया है।

इस समय शुक्लजी, मिश्रजी और मैं तीन ही व्यक्ति महाकोशल प्रान्त में कांग्रेस क्षेत्र के मुख्य कार्यकर्त्ता माने जाते थे। हम तीनों श्री टण्डनजी के

समर्थक समझे जाते थे और समझे क्या जाते थे, यथार्थ में थे ही। टण्डनजी और नेहरूजी का अनेक बातों में सैद्धान्तिक मतभेद था और इस सैद्धान्तिक मतभेद में हम टण्डनजी के साथ थे। अखिल भारतीय नेताओं में हमें सरदार पटेल का समर्थन प्राप्त था, जो अब नहीं थे। टण्डनजी ने कांग्रेस नहीं छोड़ी थी, पर वे अब सभापति नहीं रह गये थे अतः उनके हाथ में कोई शक्ति नहीं रही थी। मिश्रजी कांग्रेस से अलग हो गये। टण्डन-नेहरू संघर्ष में यद्यपि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में मतदान का कोई विशिष्ट प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ था, जिसमें किसी भी पक्ष की शक्ति की जाँच का अवसर आया हो, परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, वैधानिक दृष्टि से दो बार मत लिये गये थे—एक बार टण्डनजी के त्याग-पत्र स्वीकार करने के सम्बन्ध में और एक बार नेहरूजी के सभापति निर्वाचित करने के विषय में। टण्डनजी का त्याग-पत्र स्वीकृत न किया जाय इसके पक्ष में १८, २० हाथ उठे थे और शुक्लजी ने तथा मैंने भी इसी पक्ष में अपने मत दिये थे। मैं टण्डनजी के साथ था और अन्त तक मैंने उनका साथ दिया। टण्डनजी के त्याग-पत्र स्वीकार होने के बाद नेहरूजी कांग्रेस के अध्यक्ष हों यह प्रस्ताव रखा गया। इस पद के लिए कोई दूसरा नाम प्रस्तावित नहीं था अतः नेहरूजी का नाम सर्व मत से स्वीकृत होना चाहिए था, परन्तु जैसा पहले भी कहा गया है न जाने क्यों शुक्लजी ने इस प्रस्ताव के विरुद्ध अपना मत दिया। शुक्लजी के साथ केवल तीन हाथ और उठे थे। इसका उल्लेख भी पहले हो चुका है।

मिश्रजी के नेहरूजी पर आक्षेप, उन आक्षेपों का शुक्लजी अथवा मेरे द्वारा अब तक प्रतिवाद न होना और शुक्लजी का नेहरूजी के अध्यक्ष होने के विरोध में मत देने के कारण हमारे प्रान्त में एक बड़ा भारी बावैला मच गया। हम तीनों के आपसी सम्बन्ध के कारण इस प्रसंग को और अधिक उत्तेजना मिली। मैंने तो मिश्रजी के त्याग-पत्र को स्वीकार कर उसे स्वीकृत करते हुए मिश्रजी को जो पत्र लिखा था उसे तत्काल प्रकाशित भी करा अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी, फिर मैंने अन्त तक टण्डनजी का साथ देने के बाद उनके त्याग-पत्र स्वीकृत होने के पश्चात् नेहरूजी की अध्यक्षता के विरोध में अपना मत भी न दिया था, पर शुक्लजी बहुत समय तक अपनी

स्थिति स्पष्ट करने में सफल न हो सके। उन्होंने जितना अधिक स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया स्थिति और अधिक बिगड़ी। ठाकुर छेदीलालजी, निरंजनसिंहजी आदि जो व्यक्ति कांग्रेस से निकल कृपलानीजी और किदवई साहब आदि के साथ चले गये थे, उन्होंने इस परिस्थिति से लाभ उठाना चाहा। प्रान्त के कतिपय पत्र भी उनका समथन कर ही रहे थे। और विशेषता यह थी कि इनमें से कुछ पत्र अपने को कांग्रेस का समर्थक कहते थे पर व्यवहार में कांग्रेस की ही जड़ खोद रहे थे। स्पष्ट चर्चा शुरू हुई कि शुक्लजी और मैं अन्दर ही अन्दर मिश्रजी से मिले हुए हैं और हम भी ठीक समय कांग्रेस को धोखा देंगे।

अखिल भारतीय कांग्रेस क्षेत्र में शुक्लजी और मैं ही नहीं, पर समस्त महाकोशल सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा था। दलबन्दियों से परे रहने वाले पं० जवारहलालजी नेहरू भी महाकोशल को सम्प्रदायवादी मनोवृत्ति का प्रान्त मानते थे।

महाकोशल के कांग्रेस संगठन के सम्बन्ध में तरह-तरह की अफवाहें उड़ती थीं। कभी सुनायी पड़ता था कि महाकोशल कांग्रेस कमेटी की चुनाव समिति भंग होने वाली है, कभी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी और कभी प्रान्तीय कमेटी ही।

यह थी मिश्रजी के त्याग-पत्र की प्रतिक्रिया और इस वायुमण्डल में हमें आम चुनावों के लिए प्रान्तीय कांग्रेस की ओर से उम्मीदवार चुन, उनके नाम अखिल भारतीय कांग्रेस से स्वीकार करा उन्हें चुनावों में जिताना था।

× × ×

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस समय कांग्रेस संगठन में श्री शुक्लजी की परिस्थिति बड़ी नाजुक हो गयी थी। मेरी स्थिति भी कुछ बहुत अच्छी न थी, पर शुक्लजी से कहीं अच्छी। मध्य प्रदेश के पिछले शासन के सम्बन्ध में भी उन पर कुछ आक्षेप हो रहे थे। कहा जाता था कि मुख्य मन्त्री पद का दुरुपयोग कर उन्होंने कुछ स्वार्थ साधन किया है। उस वायुमण्डल में इन आक्षेपों से शुक्लजी की परिस्थिति और भी खराब हो रही थी।

प्रान्त तथा अखिल भारतीय कुछ कांग्रेस जनों ने ऐसे अवसर पर प्रस्ताव

किया कि मुझे मध्य प्रदेश की विधान परिषद् के लिए खड़े हो मध्य प्रदेश का मुख्य मन्त्री बनना चाहिए। मैं इस समय महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष था। महाकोशल प्रान्त के कांग्रेस संगठन में मेरा प्रचण्ड बहुमत था। प्रान्त की कांग्रेस कार्यकारिणी तथा कांग्रेस चुनाव समिति में भी मेरा ही बहुमत था। फिर मध्य प्रदेश राज्य की दो अन्य प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियाँ अर्थात् विदर्भ और नागपुर की कांग्रेस कमेटियाँ भी मेरी समर्थक थीं। विदर्भ के कांग्रेस नेता श्री ब्रिजलालजी बीयाणी और नागपुर प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री कन्नमवारजी अब भारतीय संसद् के लिए खड़े न होकर मध्य प्रदेश की राज्य विधान सभा के लिए खड़े हो रहे थे और मुझे स्पष्ट रूप से कह रहे थे कि मैं भी संसद् में न जाकर प्रान्तीय विधान सभा में आऊँ। दोनों ने मुझे समर्थन का स्पष्ट वचन दिया था। बीयाणीजी मुख्य मन्त्री बनने के इच्छुक नहीं थे यह तो मैं नहीं कह सकता, पर वे एक पटु राजनीतिज्ञ होने के कारण यह जानते थे कि प्रान्त का जैसा गठन था उसमें मुख्य मन्त्री महाकोशल का ही हो सकता है, विदर्भ का नहीं। प्रान्तीय विधान सभा के २१२ सदस्यों में १४९ महाकोशल, ४२ विदर्भ और ४१ नागपुर प्रान्त से चुने जाने वाले थे। इसलिए बीयाणीजी का भी मुझे ही समर्थन था। कम से कम मुख्य मन्त्री पद के लिए अपने भाग्य को अजमाने का मुझे स्पष्ट अवसर था और इसके लिए यदि संसद् में न जाकर मैं प्रान्तीय विधान सभा के लिए खड़ा होना चाहता तो मेरी उम्मीदवारी हमारे प्रान्त तथा अखिल भारतीय कांग्रेस चुनाव समिति द्वारा स्वीकृत होने में आपत्ति किसी दिशा से न हो सकती थी।

मेरी इस समय जैसी मनोवृत्ति हो गयी थी उसमें इन पदों का मुझे कोई महत्त्व दृष्टिगोचर न होता था। मैंने सारे विषय पर निर्लिप्त मनोदशा से विचार करने का प्रयत्न किया। प्रान्त का हित किस बात में हो सकेगा केवल यही दृष्टिकोण मेरे सामने था। एक ओर मेरे मन में यह अवश्य उठा कि प्रान्त की जनता का हित मुख्य मन्त्री होकर शायद मैं शुक्लजी से अधिक कर सकूँ। शुक्लजी की अवस्था अब ७७ वर्ष की थी। शारीरिक सम्पत्ति अच्छी रहते हुए भी आखिर उम्र का असर तो होता ही है। फिर वे बहुत समय तक मुख्य मन्त्री रह चुके थे और इधर तो मुख्य मन्त्री का काम बहुत दूर तक

मिश्रजी ही करते थे, वे नहीं। अंग्रेजी में जिसे डैश कहते हैं वह मेरी मनोवृत्ति में उनसे अधिक था और कार्य करने की शारीरिक शक्ति भी कहीं ज्यादा। प्रान्त के कांग्रेस संगठन और प्रान्त की जनता से भी मेरा ही अधिक सम्पर्क था। दूसरी ओर काम होने के लिए मुझे प्रान्त में एकता की सर्वोपरि आवश्यकता जान पड़ी। इस समय शुक्लजी का और मेरा मतभेद प्रान्त में कांग्रेस संगठन का सर्वनाश कर सकता था। बहुत सोचने-विचारने के बाद मैंने शुक्लजी से ही स्पष्ट बातचीत करने का निर्णय किया। जब मैंने उनसे उनके कार्यक्रम की जानकारी प्राप्त करनी चाही तब उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उन पर इस समय जो आक्षेप हो रहे हैं उन्हें देखते हुए आत्मसम्मान की रक्षा के लिए वे एक बार फिर से प्रान्तीय विधान सभा में जाकर मुख्य मन्त्री होना चाहते हैं।

मैंने ऊपर लिखा ही है कि प्रान्त में एकता की आवश्यकता मुझे सर्वोपरि जान पड़ती थी। पदों का मेरे मन में कोई स्थान भी न रहा था! अतः मैंने प्रान्तीय विधान सभा में न जाकर संसद् के लिए खड़े होने का निर्णय कर डाला। इस निर्णय के बाद भी प्रान्त में जाने के लिए मुझ पर अनेक और महत्त्वपूर्ण दबाव आये, जबलपुर की जिला कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी ने तो प्रस्ताव पास कर मुझसे प्रान्तीय विधान सभा में जाने का अनुरोध किया, पर मैं अपने निश्चय पर अडिग रहा।

इस समय हमारे प्रान्त की जैसी परिस्थिति थी उसमें यह प्रलोभन एक बहुत बड़ा प्रलोभन था। पिताजी की मृत्यु के पहले मेरी जैसी मनोवृत्ति थी उस मनोवृत्ति में लोकेषणा का जो स्थान था उसके कारण कदाचित् इस प्रलोभन का मैं संवरण न कर पाता, पर इस समय यह प्रलोभन मुझे न डिगा सका। और इस निर्णय की पृष्ठभूमि में मेरी जो मनोवृत्ति थी उस मनोवृत्ति को मैं अब तक के निर्णयों की पृष्ठभूमियों की मनोवृत्तियों में सबसे अधिक शुद्ध मनोवृत्ति मानता हूँ। हमारे प्रान्त की कांग्रेस की एकता और इसके फलस्वरूप आम चुनावों में कांग्रेस की महान् विजय में मेरे इस निर्णय का मेरे मतानुसार बहुत बड़ा हाथ है।

आम चुनावों में हमारे प्रांत के कांग्रेस उम्मीदवारों के नाम

कांग्रेस के नये अध्यक्ष का चुनाव होते ही सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य था आम चुनावों के लिए कांग्रेस उम्मीदवारों का चुनाव। परन्तु इसके पहले कुछ अन्य कार्रवाइयाँ हुईं। इनमें पहली थी कांग्रेस की नवीन कार्यकारिणी की घोषणा और दूसरी जो कांग्रेसवादी कांग्रेस को छोड़कर चले गये थे उन्हें कांग्रेस में वापस लाने का प्रयत्न। नेहरूजी ने टण्डनजी की कार्यसमिति के निर्णय के समय कहा था कि वह उन्हें "ब्रिलियन्ट" न जान पड़ती थी, साथ ही यह भी कहा था कि वे उसमें "फिटइन" नहीं होते।

कांग्रेस अध्यक्ष होने के बाद उन्होंने जो कार्यसमिति घोषित की उसमें श्री लालबहादुर शास्त्री को छोड़ हमें कोई नया "ब्रिलियन्स" न दिखा। यदि शेष लोगों में से कोई "ब्रिलियन्ट" व्यक्ति दिखते थे तो उनमें से अधिकांश वही थे जो टण्डनजी की कार्यसमिति में भी थे। जिन नये व्यक्तियों को पण्डितजी ने अपनी कार्यसमिति में लिया उनमें से तो कई का अपने-अपने प्रान्त में इतना अनुसरण भी न था कि आम चुनावों में वे स्वयं ही जीत सकते। हाँ, पण्डितजी का स्वयं का "फिटइन" होना यह अलग बात थी। अपनी कार्यसमिति के घोषित करने के बाद पण्डितजी ने जो लोग कांग्रेस से बाहर चले गये थे उन्हें कांग्रेस में लौटने की अपील की। श्री किदवई सा० तथा उनके कुछ साथी तो लौट आये, पर श्री कृपलानी और उनके साथी नहीं।

हमारे प्रान्त में भी यह प्रयत्न शुरू हुआ।

दिल्ली से लौटते ही मैंने कांग्रेस छोड़कर बाहर जाने वालों के नाम एक अपील प्रकाशित की जिसमें उनसे यह आग्रह किया कि वे अपने त्याग-पत्र वापस लें और पुनः कांग्रेस में प्रविष्ट हों। यहाँ यह स्मरणीय है कि सारे देश में केवल महाकोशल प्रान्त ही एक ऐसा प्रान्त था कि जहाँ कांग्रेस छोड़कर जाने वाले इन सज्जनों के त्याग-पत्र स्वीकार नहीं किये गये थे और इसी आधार पर

उन्हें अपने त्याग-पत्र वापस लेने की अपील करते हुए मैंने उन्हें यह भी आश्वासन दिया कि उनके त्याग-पत्र वापस लेते ही न केवल उन्हें कांग्रेस की गतिविधि में पूर्ण भाग लेने की ही स्वतन्त्रता रहेगी वरन् वे अपने उन पदों पर भी बरकरार रहेंगे जिन पर वे चुनकर आये थे और अभी तक काम कर रहे थे। इस आश्वासन की सूचना अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पास भी मैंने पत्र द्वारा दे दी।

महाकोशल कांग्रेस कमेटी भी इन लोगों के प्रति कितनी उदार थी इसका प्रमाण यह था कि मेरी अपील के बाद ही अपनी बैठक के द्वारा प्रदेश कार्यकारिणी ने भी इसी आशय की एक अपील प्रकाशित की।

इस अपील को क्रियाशील बनाने की दृष्टि से दिल्ली में प्रमुख नेताओं से बातचीत की गयी। मैंने यहाँ तक सुविधा दी कि यदि ये लोग अपने त्याग-पत्र वापस ले लें तो उनके कुछ प्रमुख नेता प्रदेश कांग्रेस की चुनाव समिति तथा कार्यकारिणी समिति की बैठकों में भी उपस्थित रह सकेंगे। इस तरह से उम्मीदवारों के चयन में अपना परामर्श दे सकेंगे और इस तरह सम्मिलित रूप से स्वीकृत सूची ही अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पास भेजी जावेगी। मेरे द्वारा प्रदान की गयी इस सुविधा को स्वयं पण्डितजी ने "न्यायोचित" की संज्ञा दी। पर खेद है कि सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार कर लेने और प्रजा पार्टी को छोड़ कांग्रेस से अपना त्याग-पत्र वापस ले लेने के बाद भी महाकोशल प्रदेश के प्रजा पार्टी के नेताओं ने उस पर अमल नहीं किया। उनके कारण प्रदेश कार्यकारिणी तथा चुनाव समिति की बैठकें अनेकों बार स्थगित करनी पड़ीं और प्रत्येक बार उनसे अगली बैठक में उपस्थित होने के लिए आग्रह किया जाता रहा। जब अनेकों बार बैठकें स्थगित की जा चुकीं और वे इन बैठकों में भाग लेने नहीं आये, वरन् अन्त में इस बात की सूचना भेज दी कि वे प्रान्तीय धरातल पर नहीं, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी धरातल पर दिल्ली में ही इन सूचियों पर विचार करेंगे, तो प्रदेश कांग्रेस कमेटी के समक्ष एक नयी परिस्थिति आ खड़ी हुई।

चुनाव की तारीखें देखते हुए इस सूची का प्रकाशन शीघ्र होना आवश्यक था। इस मान-मनौवल के नाटक में वैसे ही काफी समय निकल चुका था

श्रौर यह स्पष्ट हो गया था कि प्रजा पार्टी के सदस्य केवल पण्डितजी को दिखाने के लिए सहयोग की बात करते थे जबकि इसके लिए प्रयत्नशील नहीं थे। इसी कारण हर नयी स्थगित बैठक में श्राने की सूचना देने के बाद भी श्राखिर वे किसी बैठक में नहीं श्राये तथा श्रन्त में दिल्ली में चर्चा करने की सूचना भेज दी।

पर दिल्ली में जो चर्चा होती वह प्रान्त द्वारा स्वीकृत सूची के श्राधार पर ही हो सकती थी, क्योंकि इसमें एक वैधानिक श्रड़चन यह थी कि प्रान्त द्वारा श्रस्वीकृत श्रावेदन-कर्त्ताश्रों को श्रखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पास श्रपील करने का समय दिया जाता है श्रतः प्रान्तीय सूची का श्रखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा विचार किये जाने के पूर्व प्रकाशन जरूरी होता है ताकि समय रहते लोग श्रपील कर सकें। प्रजा पार्टी के नेताश्रों के इस कथन का कि वे इस सूची पर दिल्ली में विचार करेंगे, यह श्रर्थ होता था कि इस विचार विमर्श के कारण जिन लोगों के श्रावेदन-पत्र श्रस्वीकृत किये जाते उन्हें श्रखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पास श्रपील करने का कोई श्रवसर न मिलता श्रौर ऐसा करना श्रप्रजातान्त्रिक तथा न्याय की हत्या करना होता।

जब इस वैधानिक श्रड़चन की श्रोर श्रखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का ध्यान श्राकर्षित किया गया तो उसने प्रदेश कांग्रेस कमेटी को श्रादेश दिया कि वह श्रपनी सूची बिना प्रजा पार्टी के नेताश्रों के परामर्श के ही तैयार करके भेजे।

इस श्राधार पर एक प्रारम्भिक सूची तैयार की गयी, श्रौर एक बार फिर प्रजा पार्टी के नेताश्रों को सहयोग देने के लिए मार्ग खुला रख, प्रदेश चुनाव समिति की बैठक दिल्ली में बुलायी गयी जिसमें प्रजा पार्टी के प्रमुख नेताश्रों को एक बार फिर बैठक में सम्मिलित होने का श्राग्रह किया गया। इस बैठक में वे उपस्थित तो हुए पर इसमें उन्होंने एक गतिरोध उत्पन्न करने की चेष्टा की। प्रान्त की लगभग सभी सीटों के लिए उन्होंने श्रपने उम्मीदवारों की एक भिन्न सूची पेश की श्रौर मंशा जाहिर की कि हर नाम पर श्रलग-श्रलग विचार किया जाय। स्पष्ट था कि यह माँग केवल गड़बड़ी करने की इच्छा से ही की गयी थी। इस नयी सूची में श्रनेकों नाम ऐसे लोगों

के थे जिन्होंने कांग्रेस नहीं छोड़ी थी और सीधे प्रजा पार्टी में आकर सम्मिलित हुए थे। प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने प्रजा पार्टी के नेताओं का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हुए कहा कि कांग्रेस अध्यक्ष पं० नेहरू की अपील की मंशा महज यह है कि जो लोग कांग्रेस छोड़कर चले गये हैं उनके कांग्रेस में पुन: वापस आने पर उनके साथ सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाय अतएव प्रदेश कांग्रेस कमेटी केवल ऐसे लोगों के नामों पर ही विचार कर सकती है जो पहले कांग्रेस में थे पर त्याग-पत्र देकर कांग्रेस के बाहर चले गये हैं और अब पुन: अपने त्याग-पत्र वापस लेने की लिखित घोषणा करने को तैयार हों। इस पर प्रजा पार्टी के नेता राजी न हुए और बैठक छोड़कर चले गये।

उनके बैठक का बहिष्कार करने के बाद भी प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने खुले दिल से उनके द्वारा प्रस्तुत सूची पर अपने उपर्लिखित सिद्धान्त के आधार पर विचार किया और अनेक प्रजा पार्टी के नेताओं को उम्मीदवार बनाने की सिफारिश अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से की।

प्रदेश कांग्रेस कमेटी इन सारी गतिविधियों की सूचना नियमित रूप से अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को देती रही।

महाकोशल में कांग्रेस की ओर से अन्त में उम्मीदवारों के नामों का चुनाव करने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस चुनाव समिति की बैठक हुई। इस बैठक में अखिल भारतीय कांग्रेस की चुनाव समिति के सदस्यों के सिवा प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति की हैसियत से मैं और प्रान्त के मुख्य मन्त्री की हैसियत से पं० रविशंकरजी शुक्ल उपस्थित थे। हमारी प्रदेश कांग्रेस कमेटी के उस समय के प्रधान मन्त्री पं० बाबूलालजी तिवारी और श्यामसुन्दर नारायणजी मुशरान तथा हमारे प्रान्त में हमने जिन्हें अपने यहाँ के चुनावों के संचालक नियुक्त किया था उन श्री कुंजीलालजी दुबे को भी मैं अपनी सहायता के लिए अपने साथ ले गया। अखिल भारतीय कांग्रेस चुनाव समिति ने हमारे प्रान्त का प्रजा पार्टी के उन लोगों की ओर से जो प्रजा पार्टी को छोड़कर पुन: कांग्रेस में आये थे एक प्रतिनिधि को बुलाया और ऐसे लोगों ने अपनी ओर से ठाकुर निरंजनसिंहजी को भेजा। ठाकुर सा० हमारी पूरी सूची के स्थान पर अपनी सूची लेकर पहुँचे।

दोनों सूचियों के नामों पर विचार आरम्भ हुआ, पर जब उनकी सूची में से केवल ऐसे नाम ही स्वीकृत होने लगे जिन पर हमें कोई आपत्ति न थी और शेष नाम अस्वीकृत तब निरंजनसिंह उस बैठक के बीच से ही उठकर चले गये।

नतीजा यह हुआ कि अन्त में अखिल भारतीय कांग्रेस चुनाव समिति ने महाकोशल कांग्रेस चुनाव समिति द्वारा प्रेषित उम्मीदवारों की पूरी सूची स्वीकृत कर ली। महाकोशल की कांग्रेस में रहे हुए लोगों में तो कोई मतभेद रह न गया था। कांग्रेस से निकलकर प्रजा पार्टी में जो गये थे और जो फिर कांग्रेस में वापस आगये थे उनका सौदा न पटा था अतः हमारी पूरी सूची स्वीकृत होने के सिवा और कुछ होना ही सम्भव न था।

जो लोग कांग्रेस से निकलकर प्रजा पार्टी में सम्मिलित हुए थे और प्रजा पार्टी को छोड़ पुनः कांग्रेस में, उन्होंने फिर से कांग्रेस को छोड़ प्रजा पार्टी की शरण ली।

मिश्रजी का चुनाव संघर्ष

समूचे मध्यप्रदेश और उसमें भी महाकोशल में कांग्रेस को जो समर्थन प्राप्त था उसके कारण मुझे ही नहीं प्रान्त और प्रान्त के बाहर भी दूर-दूर तक अधिकांश लोगों को आशा थी कि हमारे यहाँ कांग्रेसवादियों का ही बहुमत चुना जायगा। इस विषय में यदि कभी शंका व्यक्त की जाती थी तो वह पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र के कारण। और जहाँ तक मिश्रजी का स्वयं का सम्बन्ध था प्रान्त और प्रान्त के बाहर भी कई लोग इतना तो मानते ही थे कि मिश्रजी की हार सम्भव नहीं है। इसके दो प्रधान कारण थे। मिश्रजी हमारे प्रान्त में कांग्रेस के एक स्तम्भ रहे थे, यह माना जाता था कि हमारे प्रान्त की राजनीति के वे सूत्रधार हैं, जो बहुत दूर तक सही बात थी। दूसरे कांग्रेस से अलग होकर उन्होंने उत्तर भारत के प्रधान-प्रधान स्थानों का दौरा किया था, जिसमें उनकी सभाओं में हजारों की संख्या में जनता उपस्थित होती थी और वे हर स्थान पर कहते थे कि कांग्रेस के विरोध में वे एक अखिल भारतीय संगठन करेंगे, जिसे सभी जगह सफलता मिलेगी और मध्य प्रदेश की विधान सभा की २३२ सीटों में तो अस्सी फीसदी सीटें जीतने में उन्हें कोई सन्देह ही नहीं है। मिश्रजी के सदृश व्यक्ति के इस प्रकार के कथन का लोगों पर कम प्रभाव न पड़ता था। इसीलिए मिश्रजी के चुनाव पर देश भर की नजर होगयी थी।

परन्तु मुझे अपने प्रान्त में कांग्रेस की जीत की आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास था। कांग्रेस की जीत के साथ ही मुझे मिश्रजी की हार में भी कोई सन्देह नहीं था। मेरा एक दावा रहा है और आज भी है कि अपने प्रान्त की जनता से मेरा जितना सम्पर्क है उतना किसी का नहीं और अपने प्रान्त की जनता की नब्ज को जितना मैं पहचानता हूँ अन्य कोई नहीं। इसीलिए चुनाव सम्बन्धी जबलपुर की जो पहली सार्वजनिक सभा हुई उसमें मैंने अपने भाषण में कहा—"इस प्रान्त की जनता ने सदा कांग्रेस का साथ दिया है। जिस-जिसने कांग्रेस को

छोड़ा, जनता ने भी उसे छोड़ दिया। डा० मुंजे ने कांग्रेस को छोड़ा, जनता उनके साथ नहीं गयी। यही श्री तांबे, श्री राघवेन्द्रराव और डाक्टर खरे के सम्बन्ध में हुआ। पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र ने भी आज कांग्रेस को छोड़ दिया है और इस प्रान्त की जनता उनके साथ भी जाने वाली नहीं है।"

मैंने सुना कि मिश्रजी को मेरा यह भाषण बहुत बुरा लगा और उन्होंने कुछ लोगों से कहा कि "बाबू साहब ने मेरा मिलान देश-द्रोहियों से किया है।"

मैंने मिश्रजी का मिलान किसी से भी न किया था। मैंने तो एक घटना का मिलान किया था और मेरी समझ में न आया कि उन्हें मेरे इस भाषण पर इतना क्रोध क्यों आना चाहिए था।

मिश्रजी के कांग्रेस छोड़ने के बाद भी हम दोनों एक दूसरे से बड़ी सद्भावना के साथ अलग हुए थे। जब हम विलग हुए थे हमने एक दूसरे से कहा था कि राजनैतिक क्षेत्र में अब हम दोनों के अलग-अलग क्षेत्र हैं, पर हमारे व्यक्तिगत सम्बन्ध वैसे ही रहेंगे जैसे सदा रहे हैं।

इसके बाद तो कुछ समय तक मिश्रजी मेरे प्रति अत्यधिक कटु होगये। उन्होंने सार्वजनिक सभाओं में तो मेरे विरुद्ध कुछ नहीं कहा, परन्तु आपसी बातचीत में कुछ सज्जनों के सामने न जाने क्या-क्या कह दिया। इन सज्जनों में से कुछ ने मुझे वे बातें कहीं, जो मिश्रजी ने उनसे कही थीं। उन बातों का मैं यहाँ उल्लेख करना उचित नहीं समझता। मिश्रजी के सदृश व्यक्ति मेरे सम्बन्ध में लोगों से इस प्रकार की बातें कहेगा यह मैं सोच भी न सकता था। मुझे यह विश्वास भी न होता था कि मेरे सम्बन्ध में उनके मुख से इस तरह की बातें निकली होंगी, पर जिन आदमियों ने मुझसे ये बातें कहीं, एक तो उन पर अविश्वास का मैं कोई कारण नहीं देखता था, दूसरे सभी ने मुझसे प्रायः एक सी ही बातें कहीं और इनका आपस में कोई सम्बन्ध न होने के कारण इस प्रकार की एक सी बातों का गढ़ा जाना सम्भव न था। कुछ समय बाद जब मिश्रजी और मैं फिर एक दूसरे से मिलने लगे तब उन्होंने ही एक दिन यह स्वीकार कर लिया कि क्रोध के आवेश में ऐसी बातें उनके मुँह से निकली थीं।

इन्हीं दिनों में अपने कुछ पुराने कागजात देखने बैठा और उन कागजों

में एकाएक मुझे मिश्रजी का हाथ से लिखा एक समर्पण मिला। यह समर्पण मिश्रजी ने अपनी किसी पुस्तक को मुझे समर्पित करने के उद्देश्य से लिखा था, यद्यपि जहाँ तक मुझे याद पड़ता है ऐसी उनकी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई, जो उन्होंने मुझे समर्पित की हो। यद्यपि इस समर्पण-पत्र में कोई तारीख न थी, पर इसकी इबारत से जान पड़ता था कि यह हम लोगों की सन् ३० की पहली जेल-यात्रा के बाद लिखा गया होगा। समर्पण में मिश्रजी ने लिखा था—

जबलपुर

समर्पण

जो राजा गोकुलदास के महलों में पले थे, परन्तु जो स्वदेश का मस्तक ऊँचा करने के लिए आज जेल को संसार का सबसे सुखद स्थान मानते हैं, जिनमें शौर्य तथा सदाचार एक ही साथ निवास करते हैं, उन्हीं महाकोशल केसरी श्रीमान् सेठ गोविन्ददासजी के कर-कमलों में यह तुच्छ भेट सप्रेम समर्पित हो।

—द्वारकाप्रसाद मिश्र

इस पत्र को पढ़कर मेरे मन में एक के बाद एक न जाने कितने विचार उठे। मिश्रजी ने इस समर्पण में मेरे जिन गुणों का वर्णन किया था वे मुझ में हों या न हों, और यदि हों तो जिस मात्रा में भी हों, पर जब यह समर्पण लिखा गया था उस समय कम से कम मिश्रजी यह मानते थे कि मुझ में वे सब गुण हैं, जिनका वर्णन मिश्रजी ने इस समर्पण में किया था। जिस समय यह समर्पण लिखा गया था उसे अधिक से अधिक लगभग बीस वर्ष बीते थे। मैंने अपने निरीक्षण का प्रयत्न किया और मुझे जान पड़ा कि जैसा भी मैं बीस वर्ष पहले, जब यह समर्पण लिखा गया उस समय, था वैसा ही आज भी हूँ। इन बीस वर्षों में मेरे हाथ से ऐसा कोई कुकर्म भी न हुआ था कि मेरे लिए इस समय मिश्रजी जैसे शब्दों का उपयोग कर रहे थे उनका मुझे औचित्य जान पड़े। फिर मेरे सम्बन्ध में मिश्रजी की राय में यह परिवर्त्तन क्यों? मिश्रजी का और मेरा जितने दीर्घकाल तक मैत्री-सम्बन्ध निभा था उतना शायद विरले ही व्यक्तियों में निभता है और आज भी हम लोगों का कोई

व्यक्तिगत झगड़ा न हुआ था। मुझे जान पड़ा कि जीवन में जब तक मतों में, हितों में, हर बात में, पूर्ण एकता रहती है तभी तक एक दूसरे के लिए सद्भावनाएँ भी रहती हैं। मतभेद या हितभेद की यदि छाया भी पड़ जाय तो इन सद्भावनाओं में बिना किसी कारण के ही परिवर्त्तन हो जाता है। खैर इस काल की मेरी जैसी मानसिक वृत्ति थी उसके कारण मुझे मिश्रजी की इस समय की बातों पर चाहे आश्चर्य हुआ हो, पर रोष नहीं आया। इसीलिए मेरे मुँह से उनके विरुद्ध कोई अपशब्द नहीं निकले। इसका एक नतीजा यह निकला कि प्रान्त तथा अखिल भारतीय क्षेत्र में मिश्रजी की और मेरी मैत्री के कारण मुझ पर जो यह सन्देह किया जा रहा था कि मेरी आन्तरिक सहानुभूति मिश्रजी के साथ है, उस सन्देह को बल मिल गया। यह सन्देह छिंदवाड़े के मेरे एक भाषण के कारण बहुत अधिक बढ़ा।

मिश्रजी तीन क्षेत्रों से खड़े हुए थे—जबलपुर नगर, नागपुर नगर और छिंदवाड़ा। अपने प्रान्तीय दौरे में मैं उम्मीदवारों के व्यक्तिगत गुण-दोषों की कोई चर्चा न कर केवल सिद्धान्तों की चर्चा करता था और सिद्धान्तों की दृष्टि से कांग्रेस का समर्थन क्यों करना चाहिए यह लोगों को समझाता था। जब मैं छिंदवाड़े की सार्वजनिक सभा में भाषण दे चुका और मिश्रजी के सम्बन्ध में एक शब्द भी न बोला तब श्रोताओं में से एक व्यक्ति ने खड़े होकर कहा—"आपने मिश्रजी के सम्बन्ध में तो कुछ कहा ही नहीं।"

मैंने उत्तर दिया—"मिश्रजी के सम्बन्ध में व्यक्तिगत रूप से मैं क्या कहूँ? इसमें सन्देह नहीं कि वे बड़े योग्य व्यक्ति हैं। स्वतन्त्रता के संग्राम में उन्होंने बड़ा त्याग किया है, कष्ट सहा है। उसके बाद भी वे हमारे प्रान्त के एक अग्रगण्य नेता रहे हैं, पर आज वे उस संस्था के साथ नहीं हैं, जिसने हमें स्वराज्य दिलाया और देश को एक सूत्र में बाँधे रखने के लिए आज भी जिसकी नितान्त आवश्यकता है। अतः आज तो आप मिश्रजी के पक्ष में न काम करेंगे और न एक वोट उन्हें देंगे।"

एक दूसरे श्रोता ने उठकर कहा—"यहाँ के तो कांग्रेसवादियों तक का मिश्रजी ने निर्माण किया है। वे भला उनके पक्ष में काम कैसे न करेंगे?"

मैंने उत्तर दिया—"भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य ने अर्जुन का निर्माण

किया था, पर कर्त्तव्य का क्षेत्र ऐसा होता है कि जिस अर्जुन का भीष्म और द्रोण ने निर्माण किया था उसी अर्जुन ने उन्हें परास्त किया।"

प्रान्त के पत्रों ने मेरे छिंदवाड़े के भाषण के इन अंशों को खूब तोड़-मरोड़ कर छापा, लिखा—मैंने मिश्रजी की प्रशंसा के पुल बाँध दिये और उन्हें भीष्म तथा द्रोण बना दिया।

अखिल भारतीय नेताओं के पास भी मेरे इस भाषण की रिपोर्ट पहुँची। वहाँ के लोग मुझे सन्देह की दृष्टि से तो देखते ही थे अतः इस भाषण पर उन्होंने मुझसे कैफ़ियत तो नहीं चाही, पर बड़ी मुलामियत से पूछताछ अवश्य की। मैंने उन्हें भाषण का पूरा ब्यौरा देकर कह दिया कि "क्या आप लोग मुझसे यह आशा करते हैं कि मैं यह कहूँ कि मिश्रजी आरम्भ से ही बड़े बुरे आदमी रहे हैं। तब तो फिर यह कहा जायगा कि हम सब महा मूर्ख थे जो अब तक हमने उनके साथ काम किया।"

अखिल भारतीय क्षेत्रों में एक बात और कही गयी कि हमने जान-बूझ कर मिश्रजी के विरुद्ध कमजोर उम्मीदवार खड़े किये हैं। इसका उत्तर भी मैंने दे दिया—"एक सौ उनचास उम्मीदवारों में सभी मजबूत उम्मीदवार तो मिल न सकते थे, कहीं से मजबूत उम्मीदवार हैं, कहीं से कमजोर। हमारे उम्मीदवारों के नाम पहले घोषित हो चुके थे अतः मिश्रजी उन्हीं क्षेत्रों से खड़े हुए जहाँ हमारे कमजोर उम्मीदवार थे।" अखिल भारतीय नेताओं के पास हमारे इस उत्तर का कोई प्रत्युत्तर नहीं था, और फिर हमारे उम्मीदवारों की सूची तो वे ही छान-बीनकर स्वीकार कर चुके थे। मिश्रजी यद्यपि तीन स्थानों से खड़े हुए थे, पर उन्होंने जबलपुर नगर में ही चुनाव अभियान आरम्भ किया। जबलपुर में जब उनके चुनाव के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की चर्चाएँ शुरू हुईं, तब सारे विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए मैंने एक सार्वजनिक सभा बुलवायी और शुक्लजी को भी नागपुर से आने के लिए फोन किया। शुक्लजी आये और उन्होंने इस सम्बन्ध में एक नया रहस्योद्घाटन किया। यह था उनका मिश्रजी को एक चिट्ठी देना कि उन्हें (मिश्रजी को) लिये बिना वे मन्त्रिमण्डल न बनायेंगे। पर उसका प्रसंग ही न आया और राम राम कर किसी प्रकार इज्जत-आबरू के साथ वह सभा निपट गयी।

ऐसा था मिश्रजी के चुनाव का संघर्ष। मैं इस समय जिस परिस्थिति में था उसमें अपना सन्तुलन खो बैठना कोई आश्चर्य की बात न थी, पर मैं आज दावे के साथ कह सकता हूँ कि मैंने उसे जरा भी न खोया। व्यक्तिगत बातों को सर्वथा अलग रख मैंने इस चुनाव को लड़ा यह कम कठिन बात न थी। न मैंने मिश्रजी की मुंजे, तांबे, राव और खरे से तुलना की और न भीष्म तथा द्रोण से। मैंने केवल परिस्थितियों की तुलना की। हाँ, मिश्रजी जब उस संस्था के विरुद्ध खड़े हुए थे जिस संस्था का इस समय मैं प्रान्तीय सभापति था, तब मिश्रजी को हराने के सारे उचित प्रयत्न करना मेरा कर्त्तव्य था जो मैंने ईमानदारी से किया। चुनाव सम्बन्धी पहली सार्वजनिक सभा में मैंने जो भविष्यवाणी की थी वह अक्षरशः सत्य निकली, इस प्रान्त की जनता कांग्रेस के ही साथ रही, मिश्रजी के साथ न गयी।

मिश्रजी ने "लोक कांग्रेस" नामक एक नया दल बनाया, पर इस दल का अखिल भारतीय स्वरूप तो दर किनारे, कोई प्रान्तीय रूप भी न बन सका और जो मिश्रजी यह आशा करते थे कि वे हमारे प्रान्त की विधान सभा में २३२ सीटों में ८० फीसदी जीत सकेंगे, उनमें उनको स्वयं को छोड़ खड़े करने तक के लिए एक उम्मीदवार भी न मिल सका। वे भी इतनी बुरी तरह हारे कि उनकी जमानत जब्त हो गयी।

मिश्रजी का और मेरा जैसा सम्बन्ध रहा था उसकी आज भी न जाने कितनी बातें मुझे याद आती हैं।

स्वतन्त्र भारत के पहले ग्राम चुनाव

देश में कांग्रेस उम्मीदवारों के नामों के निर्णय हर प्रदेश में नामजदगी की तारीख के बहुत थोड़े समय पूर्व हो सके। दिल्ली में इस निर्णय के समय एक मेला सा लगा रहा। जहाँ-जहाँ का निर्णय होता जाता वहाँ-वहाँ के लोग अपने-अपने स्थान को लौटते और चुनाव का अभियान शुरू करते। भिन्न-भिन्न दलों के भिन्न चुनाव चिह्न थे और जो उम्मीदवार किसी दल के न थे उन्हें उनका चुनाव चिन्ह नामजदगी और उसकी जाँच के बाद दिया जाता। भारतवर्ष भर में १२ दल थे और इन दलों के अलग-अलग चुनाव चिह्न थे।

हमारे कांग्रेस दल का चुनाव चिह्न था जुआड़ी के साथ बैल जोड़ी। इसमें सन्देह नहीं कि इस देश की अधिकांश जनता के गाँवों में रहने तथा इस देश की खेती के बहुत दूर तक बैलों पर निर्भर रहने के कारण हमारा चुनाव चिह्न सब दलों से अच्छा था। फिर हमारे नेता पण्डित जवाहरलाल नेहरू इस देश के सबसे अधिक लोकप्रिय नेता हैं। बैलों की जोड़ी के चुनाव चिह्न और पण्डितजी के चित्र के साथ कांग्रेस दल का भिन्न-भिन्न प्रकार का चुनाव साहित्य तैयार किया गया और इस साहित्य के साथ देश भर में कांग्रेस का चुनाव अभियान प्रारम्भ हुआ। अन्य दलों ने अपने-अपने चुनाव चिह्नों के साथ अपने-अपने चुनाव अभियान आरम्भ किये। एक नये उत्साह, एक नये जोश की लहर सारे देश में फैली। इसके पहले मानव इतिहास के किसी भी काल और किसी भी देश में प्रजातन्त्र का इतना बड़ा चुनाव नहीं लड़ा गया था। फिर हमने ऐसी जनता को बालिग मताधिकार दिया था जो पढ़ी-लिखी न थी। हम एक महान् और अद्वितीय प्रयोग के लिए अग्रसर हुए थे।

इस सारे प्रचार का शिरोमणि था जवाहरलालजी का दौरा। वे जहाँ भी जाते हजारों नहीं, लाखों की तादाद में स्त्री-पुरुष उनके दर्शन और उनके भाषण सुनने को एकत्रित होते। इसके पहले इस देश ने ऐसी भीड़ें कभी न देखी थीं।

जवाहरलालजी अपने भाषणों में कांग्रेस के सिद्धान्त बताने तथा संसार की और देश की इस समय की परिस्थिति में कांग्रेस दल को ही क्यों मत देना चाहिए इसका प्रतिपादन करते। चुनाव में जो व्यक्ति खड़े हुए थे उनके पक्ष-विपक्ष में वे क्वचित ही कुछ कहते।

कांग्रेस के हाथ में देश का शासन होने के कारण, और स्वराज्य प्राप्त होने के बाद देश की जनता की जो बड़ी-बड़ी आशाएँ हो गयी थीं उनकी पूर्त्ति न हो सकने के कारण, कांग्रेस के इस चुनाव अभियान के पूर्व सारे देश में जो एक प्रकार का कुहरा छा गया था उसे जवाहरलालजी के इस प्रखर और तेजस्वी दौरे ने छिन्न-भिन्न कर दिया। आशा से कहीं अधिक संख्या में मत-दाता अपने मत देने के लिए आये। जितनी बड़ी संख्या में स्त्रियाँ आयीं और जिस प्रकार अधिकांश मतदाताओं ने अपने मत दिये उससे यह सिद्ध हो गया कि इस देश की जनता, निरक्षर होने पर भी इस देश के एक प्राचीनतम देश होने तथा इस देश की एक जीवित पुरानी संस्कृति होने के कारण, व्यवहार बुद्धि की दृष्टि से कितनी कुशल है।

हमारे प्रान्त का यह चुनाव अभियान भी अन्य प्रान्तों के ही सदृश रहा। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति होने के कारण मेरे दौरे लगातार तीन महीने तक चले और इन तीन महीनों में मैंने कोई सात हजार मील का दौरा किया। प्रान्त के किसी भी अन्य व्यक्ति ने शायद लगातार इतने बड़े क्षेत्र का दौरा नहीं किया। प्रायः सभी प्रधान-प्रधान कार्यकर्त्ता अपने-अपने चुनाव में लगे रहे। मैं भी लोकसभा का उम्मीदवार तो था, पर मुझे अपने चुनाव की विशेष चिन्ता इसलिए नहीं थी कि मेरा चुनाव प्रायः निश्चित-सा जान पड़ता था। अपने चुनाव के भाषणों में मैंने जवाहरलालजी का अनुसरण किया। मैं भी व्यक्तिगत कोई खण्डन-मण्डन न कर केवल तत्त्व-तत्त्व की ही बातें कहता। अन्य प्रान्तों के सदृश हमारे प्रान्त महाकोशल में भी नेहरूजी का दौरा हुआ। वे दो दिन महाकोशल में रहे। उनका दौरा रायपुर से आरम्भ हुआ और जबलपुर में समाप्त। इस दौरे में वे रायपुर, बिलासपुर, खण्डवा बुरहानपुर और जबलपुर गये। अन्य प्रान्तों के सदृश यहाँ भी उनका दौरा वायुयान से ही हुआ। प्रान्तीय कांग्रेस के सभापति की हैसियत से मैं भी उनके पूरे दौरे में

उनके साथ रहा। कैसी भीड़ें, कैसा उत्साह, कैसा जोश था पण्डितजी के इस दौरे में ! इन ३५ वर्षों के सार्वजनिक जीवन में मैंने ऐसे दृश्य कभी न देखे थे।

चुनाव के जो नतीजे निकले उनसे स्पष्ट हो गया कि देश कांग्रेस के साथ है। मद्रास, उड़ीसा, पेप्सू और ट्रावनकोर-कोचीन चार प्रान्तों को छोड़कर शेष सारे प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत हुआ। केन्द्र में ४८९ सदस्यों में कांग्रेस के ३६३ सदस्य चुनकर आये।

हमारे प्रान्त में २३२ सदस्यों में १९४ कांग्रेस दल के चुने गये। महाकोशल में इन २३२ सदस्यों में से १४९ चुने जाने थे। इनमें १२२ कांग्रेस दल के चुने गये। जबलपुर जिले के ग्यारह सदस्य चुने जाने वाले थे। वे सब के सब कांग्रेस दल के ही चुने गये। महाकोशल में कांग्रेस की हार अधिकतर छत्तीसगढ़ की जो रियासतें हमारे प्रान्त में मिली थीं, उनमें हुई।

संसद् में हमारे प्रान्त से २९ सदस्य चुने जाने वाले थे। इनमें २७ कांग्रेसी चुने गये। जैसी आशा की जाती थी मुझे भी प्रचण्ड बहुमत मिला।

गोविन्ददास	कांग्रेस	२,१२,९१४
सवाईमल जैन	समाजवादी	५२,०७३
उमेशदत्त पाठक	स्वतन्त्र	४५,१५५
शम्भूप्रसाद मिश्रा	रा० रा० प०	२३,२८९

अन्तिम दो उम्मीदवारों की जमानतें जब्त हो गयी थीं। हमारे प्रदेश की कांग्रेस की इस सफलता पर जवाहरलालजी ने मुझे बधाई दी।

इस चुनाव में इस देश के मतदाताओं में से ५१ प्रतिशत ने अपने मत दिये। इनमें २७ प्रतिशत कांग्रेस दल को मिले। इस विषय में कुछ मनचले लोग कहा करते हैं कि कांग्रेस की सरकारें यथार्थ में बहुमत की सरकारें न होकर अल्पमत की सरकारें हैं। पर इनका यह कथन कितना भ्रमपूर्ण है यह इस बात से ज्ञात हो जाता है कि कांग्रेस दल के सामने अन्य दलों को जो मत मिले वे नगण्य हैं और यदि कांग्रेस दल के हर उम्मीदवार के खिलाफ एक-एक उम्मीदवार ही खड़ा होता तो यह नहीं कहा जा सकता कि कांग्रेस उम्मीदवार के खिलाफ अन्य उम्मीदवारों को जो वोट मिले उनमें सभी कांग्रेस उम्मीदवार के विरोध में ही

आते। कांग्रेस के उम्मीदवार के विरुद्ध यदि एक-एक उम्मीदवार ही रहता तो जो मत भिन्न-भिन्न दलों के उम्मीदवारों को मिले उनमें से कांग्रेस उम्मीदवार को भी मिलते।

इन आम चुनावों से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गयी कि इस देश की जनता आज भी कांग्रेस के ही साथ थी और हमारे प्रान्त तथा हमारे जिले में तो पूर्ण रूप से। इन चुनावों में व्यक्तिगत दृष्टि से मेरे लिए दो खेदजनक बातें हुईं। एक तो मुझे पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र का विरोध करना पड़ा और दूसरे सन् १९३७ में जिस प्रकार मुझे अपने चचेरे भाई जमनादासजी का विरोध करना पड़ा था उसी प्रकार इस चुनाव में अपने भान्जे नारायणदास का।

इस बात का पहले उल्लेख हो चुका है कि मेरे माता-पिता के मैं और मेरी बहन दो ही सन्तान हुए थे। मेरी बहन की सगाई एक साधारण मुनीम के पुत्र से कर जिस प्रकार का दहेज देने का मेरे पितामह निर्णय कर गये थे और उस निर्णय के अनुसार जबलपुर के निकट छिंदवाड़ा जिले के सिवनी सब डिवीज़न में हमारी जायदाद इस दहेज में देकर मेरी बहन का विवाह पिताजी ने कर दिया था, उसका उल्लेख भी पहले हो चुका है। मेरी बहन का तो अल्पायु में ही देहावसान हो गया था, पर वे पाँच बच्चे छोड़ गयी थीं—तीन पुत्र, नारायणदास, भगवानदास और पुरुषोत्तमदास और दो पुत्रियाँ चन्द्रकान्ता और सूर्यकान्ता। मेरी बहन के ये पाँचों बच्चे राजा गोकुलदास महल में ही जन्मे थे और यहीं उनका लालन-पालन हुआ था। मेरे बच्चों और मेरी बहन के बच्चों में हमारे कुटुम्ब में कभी कोई अन्तर नहीं माना जाता था, वरन् मेरी बहन की अल्पायु में ही मृत्यु के कारण मेरे पिताजी और माताजी तो मेरी बहन के बच्चों का मेरे बच्चों की अपेक्षा भी कहीं अधिक ध्यान रखते थे। और ये सभी बच्चे बड़े योग्य और निष्कलंक चरित्र के निकले। नारायणदास बी० ए०, एल-एल० बी० हैं, भगवानदास बी० ए० और पुरुषोत्तमदास एम० एस-सी०। तीनों सिवनी में रहते हैं। नारायणदास बड़ी प्रचक्षण बुद्धि के हैं तथा राजनीतिक विषय में बड़े पटु और दक्ष। व्यक्तिगत सत्याग्रह में ये जेल भी हो आये थे और सन् ४६ के चुनावों में मध्य प्रदेश की विधान सभा में कांग्रेस की

अोर से चुने भी गये थे। विधान सभा में अपनी बुद्धिमत्ता की इन्होंने काफी धाक बना ली थी। अपने कुछ साथियों के साथ इन्होंने भी कांग्रेस को छोड़ा, यद्यपि इन्हें कांग्रेस टिकिट देने में प्रान्त से लेकर अखिल भारतीय क्षेत्र तक में किसी को कोई आपत्ति न थी। ये कांग्रेस उम्मीदवार के विरोध में खड़े हो गये। मेरी सगी बहन का पुत्र, मेरे घर में मेरे पुत्र के सदृश लालन-पालन कर बड़ा हुआ, उसी का मुझे विरोध करना पड़ा। मैंने पूरी-पूरी ईमानदारी के साथ सिवनी जाकर इनके चुनाव-क्षेत्र में इनका विरोध किया। ये हार गये, यहाँ तक कि इनकी जमानत तक जब्त हुई पर मेरा हृदय मेरी इस जीत पर भी एकान्त में कितना व्यथित रहा।

हमारे प्रान्त में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल

आम चुनावों में कांग्रेस की विजय होने के पश्चात् नागपुर में कांग्रेस दल के सदस्यों की बैठक हुई।

हमारे प्रान्त में कांग्रेस संगठन की जो स्थिति है उसमें जब तक महाकोशल के कांग्रेसवादियों में कोई झगड़ा न हो तब तक प्रान्त में कांग्रेस का बहुमत रहने पर मुख्य मन्त्री महाकोशल का ही हो सकता है। अतः कांग्रेस दल के सदस्यों की बैठक में शुक्लजी दल के नेता चुने गये। चूँकि शुक्लजी का चुना जाना स्पष्ट था अतः उनके विरोध में कोई खड़ा न हुआ।

अपने मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों को चुनने का नेता को पूर्ण अधिकार रहता है, परन्तु प्रान्त में मेरी जो स्थिति थी तथा इस चुनाव में मैंने जो काम किया था उसे देखते हुए मन्त्रियों के नामों के सम्बन्ध में शुक्लजी ने मेरी राय माँगी।

प्रान्त में कांग्रेसवादियों में कोई झगड़ा न हो इसीलिए मैं प्रान्तीय विधान सभा के लिए खड़ा न हुआ था। अब मैं चाहता था कि हमारे प्रान्त का मन्त्रिमण्डल इस प्रकार का बने जिससे प्रान्त का सारा कार्य एकसूत्रता से चले अतः मैंने शुक्लजी को राय दी कि महाकोशल से तो जिसे वे चाहें उसे ले सकते हैं पर बरार से श्री ब्रिजलालजी बीयाणी और नागपुर से श्री कन्नमवारजी को उन्हें अवश्य लेना चाहिए।

शुक्लजी और बीयाणीजी की उस समय पटरी न बैठती थी। फिर बरार की कांग्रेस और बरार से चुने हुए कांग्रेसी सदस्यों में दो दल थे, एक श्री बीयाणीजी का और दूसरा श्री पी० के० देशमुख का। इन दोनों दलों में आपस में बड़ा झगड़ा था। शुक्लजी की सहानुभूति श्री देशमुख के दल के साथ थी।

शुक्लजी आरम्भ में तो श्री बीयाणीजी और श्री कन्नमवारजी दोनों को नहीं लेना चाहते थे, पर बाद में श्री कन्नमवारजी को लेने के पक्ष में हो गये, लेकिन श्री बीयाणीजी को नहीं।

मेरा निश्चित मत था कि इन दोनों सज्जनों को लिये बिना मन्त्रिमण्डल का काम एकसूत्रता से न चलेगा।

श्रीमन्नारायणजी अग्रवाल उस समय कांग्रेस के महामन्त्री तो न थे, पर उनका मत भी इस सम्बन्ध में मुझ से मिलता था और उन्होंने भी शुक्लजी को इस विषय में कहा।

मन्त्रिमण्डल की नामावली अन्तिम रूप से तय करने के पूर्व शुक्लजी पं० जवाहरलालजी से इस विषय में परामर्श करने दिल्ली गये।

जिस दिन प्रातःकाल मन्त्रिमण्डल की नामावली घोषित हुई उसके पहले दिन की रात को एक बजे मेरे पास जवाहरलालजी का फोन आया और उन्होंने इस विषय में मेरी राय माँगी।

जब मैंने फिर पण्डितजी को बीयाणीजी और कन्नमवारजी को मन्त्रिमण्डल में अवश्य ही रखने के लिए आग्रह किया तब पण्डितजी ने कहा कि मन्त्रिमण्डल एक मत का न होने से आपस में संघर्ष हुआ तो काम कैसे चलेगा। मैंने उन्हें निवेदन किया कि फिर संघर्ष बाहर कांग्रेस दल में होगा। खैर अन्त में किसी तरह शुक्लजी बीयाणीजी को भी मन्त्रिमण्डल में लेने के लिए तैयार हो गये। मुझे इस बात से हर्ष हुआ कि एकसूत्रता से काम चलाने के लिए मेरी योजना कार्य रूप में परिणत हो गयी।

आपसी झगड़ों से दूर रहने की मेरी स्वाभाविक वृत्ति ने जहाँ इस चुनाव में आपसी संघर्ष को बचा दिया वहाँ चुनाव के बाद कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल और कांग्रेसी दल को भी, इससे मुझे कम सन्तोष नहीं है।

परन्तु मैं यहाँ यह कहे बिना नहीं रह सकता कि प्रान्त का कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल जो काम कर रहा है उससे मुझे पूरा सन्तोष नहीं है। कांग्रेस दल की जिस बैठक में शुक्लजी नेता चुने गये थे उसमें उन्हें बधाई देते हुए मैंने कहा था—

"संसार में न जाने कितने सम्राट्, कितने महाराजा तथा राजा, कितने तानाशाह और कितने मन्त्री आये तथा चले गये। मेरी दृष्टि से पदों को कोई महत्त्व नहीं; महत्त्व है उन पदों पर आसीन रह कर जो सेवा की जाती है उसे। शुक्लजी! आप आज कांग्रेस दल के नेता सर्वमत से इसलिए चुने गये हैं

कि कांग्रेस वाले आपसी फूट नहीं चाहते । कम से कम मैंने इस बात का भरसक प्रयत्न अवश्य किया है कि इस प्रदेश में कांग्रेस वालों में कोई झगड़ा-झंझट न रहे। आपके काल का कांग्रेस शासन जिस प्रकार कार्य करेगा उस पर निर्भर होगा कि इस काल के इतिहास में आपका नाम सुनहरी अक्षरों में लिखा जाता है या काले अक्षरों में। जहाँ तक मेरे सहयोग का सवाल है वह भी आपके कार्यों पर निर्भर रहेगा। मुझे देखना है कि आपका मन्त्रिमण्डल जनता की कैसी सेवा करता है, उसकी समस्याओं को कितनी दूर तक हल करता है और भ्रष्टाचार का कहाँ तक उन्मूलन कर पाता है।"

मेरे इस भाषण को उस समय पत्रों ने बहुत महत्त्व दिया था और आज भी लोग इसे याद कर मुझसे कई प्रकार के सवाल पूछा करते हैं।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डल और उसी के साथ कांग्रेस संगठन बहुत दूर तक मन्त्रि-मण्डल के कारण हमारे प्रान्त में अपनी लोकप्रियता खो रहा है। मैं यह अस्वीकृत नहीं करता कि जो दल भी अधिकार में रहता है उसकी लोकप्रियता शनैः शनैः घटती जाती है, क्योंकि जनता की सारी आकांक्षाओं को पूर्ण करना किसी भी दल या सरकार के लिए सम्भव नहीं है। फिर अनातोले फ्रांस ने एक स्थान पर लिखा है—"कोई भी सरकार कभी भी लोकप्रिय नहीं रह सकती। शासन करना ही जनता को अप्रसन्न करना है।" साथ ही डिज़राइली के शब्द हैं "स्वयं ठीक आचरण करने की अपेक्षा आलोचना करना बहुत सरल है।" मैं इन दोनों कथनों से सहमत हूँ, पर इसी के साथ मुझे इसमें भी सन्देह नहीं है कि जितना किया जा रहा है उससे कहीं अधिक किया जा सकता है और भ्रष्टाचार का तो बहुत दूर तक उन्मूलन हो सकता है। मैं इस मन्त्रिमण्डल से सहयोग क्यों कर रहा हूँ, यह प्रश्न मुझसे दूसरे ही पूछते हैं यह नहीं, मेरा मन भी मुझसे अनेक बार यह प्रश्न पूछा करता है। इसके शायद दो कारण हैं—राजनीति में बिना किसी दल में रहे काम नहीं चलता और जिस दल में रहा जाता है अनेक बार उसके अनुचित कामों का भी समर्थन करना पड़ता है। दूसरे इस समय भारत के राजनैतिक दलों में, जिनमें कांग्रेस भी है, इतने झगड़े हैं कि यदि कोई शुद्ध भावना से भी अपने दल की किसी बात का विरोध करे तो यह माना जाता है कि यह विरोध नेतृत्व को हथियाने के लिए किया जा रहा है।

संसदीय हिन्दी परिषद्

मेरी हिन्दी सेवा का दिल्ली में दूसरा साधन हुआ संसदीय हिन्दी परिषद्। संविधान स्वीकृत होने के पश्चात् जब पहली बार स्वतन्त्र भारत की संसद् के पहले अधिवेशन में भाग लेने मैं दिल्ली पहुँचा तो मेरे समक्ष हिन्दी को संसदीय क्षेत्रों में प्रचलित करने की बात आयी। संसद् का एक विशेष क्षेत्र है। समस्त देश के ऊँचे से ऊँचे चुने हुए व्यक्ति यहाँ उपस्थित रहते हैं। साथ ही भारत सरकार के साथ इस क्षेत्र का निकटतम सम्बन्ध है। ऐसे क्षेत्र में हिन्दी का संगठन कर लेना निश्चय ही हिन्दी के पक्ष में एक बड़ी शक्ति उत्पन्न कर लेने के बराबर था। फिर राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को चलाने के लिए संसद् से बढ़कर अन्य कौन स्थान हो सकता था। इन्हीं सब बातों को सोचकर मैंने दिल्ली पहुँचते ही सबसे पहला काम संसदीय हिन्दी परिषद् का संगठन करने का आरम्भ किया।

संसदीय क्षेत्रों में हिन्दी की संस्था संगठित करने का था भी बड़ा अच्छा सुयोग। हिन्दी के प्राण श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन यहाँ उपस्थित थे, उनके अतिरिक्त हिन्दी को राष्ट्रभाषा के स्थान पर प्रतिष्ठित कराने में मुझे जिन मित्रों से सहयोग मिला था वे सब भी यहाँ थे। इनके अतिरिक्त श्री काका कालेलकर, डा० रघुवीर, श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल आदि जीवन भर हिन्दी का कार्य करते रहने वाले हिन्दी के प्रचारक भी यहाँ थे। और इन सबसे बढ़कर श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्री रामधारीसिंह दिनकर, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी आदि हिन्दी के उच्च कोटि के कवि, लेखक आदि भी नयी संसद् के सदस्य थे। अहिन्दी भाषी सदस्यों में भी श्री अनन्तशयनम् आयंगर, श्री निजलिंगप्पा, श्री रोहिणी कुमार चौधरी, श्रीमती लीलावती मुन्शी, इत्यादि हिन्दी प्रेमी भी यहाँ थे। इतना होते हुए भी मेरा विचार था कि यहाँ एक छोटी-सी हिन्दी संस्था ही बन सकेगी। परन्तु इसके संगठन के लिए बुलायी गयी पहली सभा में ही इतने अधिक व्यक्ति उपस्थित हुए और

उन्होंने इतना अधिक उत्साह प्रकट किया कि मुझे विश्वास हो गया कि यह संस्था छोटी-सी सीमा में बन्द रहने वाली नहीं है। मैं इस संगठन का सभापति और डा० रघुवीर मन्त्री चुने गये।

संसदीय हिन्दी परिषद् का हम ने छोटा-सा विधान बनाया और सीधा-सादा यह उद्देश्य रखा कि संसदीय क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार किया जाय। इसके लिए सबसे पहले सदस्यों से इस आशय के प्रतिज्ञा-पत्र भरवाये गये कि वे संसद् में यथाशक्ति हिन्दी का प्रयोग करेंगे। सदस्यों ने इन प्रतिज्ञा-पत्रों पर बड़े प्रेम से हस्ताक्षर किये और इनकी संख्या शीघ्र ही काफी हो गयी। हिन्दी को चलाने का यह प्रत्यक्ष कार्य था। इसने संसदीय क्षेत्रों में हलचल उत्पन्न कर दी। हिन्दी के समर्थकों में इससे जहाँ उत्साह फैला वहाँ कुछ लोगों में विरोध की भावना भी प्रकट हुई। अहिन्दी भाषियों की ओर से यह कहा जाने लगा कि अभी वे हिन्दी नहीं जानते अतः हिन्दी का प्रयोग होने से उन्हें कठिनाई होती है। यों तर्क की दृष्टि से देखा जाय तो उनके इस कथन में कोई दम नहीं थी, संसद् में हिन्दी बोलने पर कोई रुकावट नहीं थी और प्रत्येक सदस्य हिन्दी का प्रयोग करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र था। फिर ऐसे सदस्यों की संख्या भी कम नहीं थी, जो अंग्रेजी न जानकर केवल हिन्दी जानते थे। यदि अंग्रेजी जानने वाले सदस्य अपनी सुविधा के लिए हिन्दी बोले जाने पर आपत्ति कर सकते थे तो अंग्रेजी न जानने वाले सदस्य अंग्रेजी बोले जाने पर आपत्ति कर सकते थे। अंग्रेजी के पक्ष में यदि पहले से प्रचलित होने का तर्क था तो हिन्दी के पक्ष में राष्ट्रभाषा होने का उससे भी अधिक वलशाली तर्क था। इसी कारण अंग्रेजी समर्थकों ने जब भी हिन्दी का विरोध किया तो वह चला नहीं और हिन्दी धीरे-धीरे आगे चल ही पड़ी। अंग्रेजी समर्थकों का विरोध उग्रतम रूप में उस दिन प्रकट हुआ जिस दिन रेलवे मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने रेलवे बजट पर हिन्दी में भाषण दिया। अंग्रेजी के समर्थक इसे सुनकर हक्के-बक्के रह गये। विरोध हुआ परन्तु वह चला नहीं तो कुछ कम्यूनिस्ट सदस्यों ने इस पर वाक् आउट भी कर दिया। इस घटना से मुझे किंचित् खेद अवश्य हुआ। मैं सोचने लगा कि हमारी भावना बदलने में कितने दिन लगेंगे। क्या राष्ट्रभाषा के रूप में प्रस्थापित होने के बाद भी हिन्दी का विरोध होता रहेगा ? इन विरोधियों

की संख्या नगण्य अवश्य थी परन्तु थी तो। जिस भाषा के लिए देश के लिए देश के बच्चे-बच्चे को अभिमान होना चाहिए उसी का विरोध हो ! यह तो वांछनीय वस्तु नहीं थी।

मन का आवेग शान्त होने पर मैंने इस समस्या पर शान्ति के साथ विचार किया। अब तक देश की जो दशा रही थी उसके फलस्वरूप कुछ दिनों तक देश में अंग्रेजी का मोह बना रहना स्वाभाविक है, परन्तु इस परिस्थिति में हमारा क्या कर्त्तव्य होना चाहिए ? इसका विचार करते समय मैंने यह निश्चय किया कि विरोध के बदले हमें विरोध प्रकट नहीं करना है, वरन् विरोध को प्रेम से जीतना है। अंग्रेजी के समर्थकों का कहना है कि वे हिन्दी नहीं जानते तो मैं उन्हें हिन्दी सिखाने का यत्न करूँगा, और उसी दिन संसद् के अहिन्दी भाषी सदस्यों को हिन्दी सिखाने के लिए क्लास खोलने का निश्चय कर लिया। ये क्लास अपने ढंग के अनोखे थे। उपराष्ट्रपति डॉक्टर राधाकृष्णन् जैसे वयोवृद्ध नेता ने इनका उद्‌घाटन किया। इनमें पढ़ने वालों में सफेद बाल वाले सदस्यों की संख्या कम नहीं थी, परन्तु उन्होंने भी उत्साह से हिन्दी सीखनी आरम्भ की। जो व्यक्ति हिन्दी प्रदेश से सदा दूर निवास कर रहे थे और जो जीवन में सदा अंग्रेजी बोलकर अपना काम चलाते रहे थे वे इतनी अधिक आयु में हिन्दी की पहली पोथी लेकर बैठे यह निश्चय ही हिन्दी की महान् विजय थी और थी हमारे देश के उज्ज्वल भविष्य की एक सुन्दर छबि। इन क्लासों की संख्या शीघ्र ही हमें बढ़ानी पड़ी। पढ़ाने का फल भी प्रकट होने लगा। दो सदस्य श्री के० एस० राघवाचारी और श्री सुब्बाराव ने पहले वर्ष ही राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की प्रारम्भिक परीक्षा भी पास कर ली।

हिन्दी का विरोध चूँकि कम्यूनिस्ट पार्टी की ओर से हुआ था इस कारण मैंने यह भी यत्न किया कि राजनैतिक दृष्टि से कोई भी दल हिन्दी के विरुद्ध नहीं रहने पाये। राजनीति के मंच पर भले ही हम अलग-अलग रहें, परन्तु हिन्दी के मंच पर हम सब एक हों। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने सदा यही यत्न किया कि संसदीय हिन्दी परिषद् में संसद् के सभी राजनैतिक दलों को समान रूप से भाग लेने का अवसर मिले। इस नीति का अच्छा परिणाम हुआ और शीघ्र ही हमें कम्यूनिस्ट दल का भी पूर्ण सहयोग प्राप्त हो गया।

कम्यूनिस्ट दल के सदस्य श्री पी० टी० पुन्नूस के निवास-स्थान पर हमारी एक हिन्दी क्लास भी चलने लगी और परिषद् की गोष्ठियों और समारोहों में कम्यूनिस्ट सदस्यों ने भी उत्साह से भाग लेना आरम्भ किया। इस प्रकार संसदीय हिन्दी परिषद् एक ऐसी संस्था बन गयी जहाँ प्रत्येक विचारधारा वाले सदस्यों को एक समान आधार पर मिलने का अवसर मिला।

भारत सरकार से भी हमें परिषद् के कार्यों में पूर्ण सहयोग मिला। आरम्भ में मैं जब उसके लिए चन्दा करने निकला तो १०० रु० देने वाले सदस्यों में हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू तथा शिक्षा मन्त्री मौलाना अबुल कलाम आजाद भी थे। बाद को परिषद् का उद्घाटन श्री नेहरूजी ने किया और उसके प्रथम वार्षिकोत्सव का सभापतित्व भी उन्होंने ही आकर किया। इतना ही नहीं पहले वर्ष में ही भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने परिषद् को १५,००० रु० की सहायता भी प्रदान की।

परिषद् ने अपने दो प्रकाशन भी आरम्भ किये। उनमें से एक तो है "राजभाषा" नामक पत्रक माला और दूसरा "देवनागर" नामक त्रैमासिक पत्र। राजभाषा में संसद् के सदस्य हिन्दी के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हैं और संसद् में हिन्दी की प्रगति पर प्रकाश डाला जाता है। "देवनागर" परिषद् का साहित्यिक मुख पत्र है। यह अपने ढंग का अद्वितीय पत्र है। बहुत दिन पहले जस्टिस शारदा चरण मित्र ने "देवनागर" नाम से एक पत्र निकाला था जिसका उद्देश्य विभिन्न भारतीय भाषाओं की एक लिपि देवनागरी करना था। इसमें विभिन्न भाषाओं के लेख देवनागरी लिपि में दिये जाते थे। "देवनागर" इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए उच्च स्तर पर चलाया गया। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने उसका संरक्षक बनना स्वीकार किया। पत्र की सर्वत्र प्रशंसा हुई और वह देश को एक रखने वाली शक्ति का प्रतीक माना गया।

संसदीय हिन्दी परिषद् के कार्य में यों तो मुझे बहुत से संसद् के सदस्यों तथा दिल्ली के अन्य साहित्यिकों से विविध प्रकार का सहयोग प्राप्त हुआ, पर सबसे अधिक सहायता मिली पं० शंभुनाथजी तिवारी और दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डाक्टर नगेन्द्र नगायच से।

ब्रज साहित्यमण्डल

अखिल भारतीय ब्रज साहित्यमण्डल का आठवाँ अधिवेशन सन् ५२ के अप्रेल मास में हाथरस में हुआ। मैं इस अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया। स्वागत समिति के सभापति थे हाथरस में एक सम्पन्न व्यापारी श्री रामबाबूलाल।

इस संस्था का हाल मैं बहुत दिनों से जानता था। ब्रज, उसके वायुमण्डल, उसके साहित्य सभी से वल्लभ सम्प्रदाय के कारण मेरा बाल्यावस्था से ही नहीं, शैशव से सम्बन्ध था। सूरदास, कुंभनदास, परमानन्ददास, नन्ददास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी तथा गोविन्दस्वामी जैसे अष्टछाप कवियों की भक्ति रसमयी कविता की सरिता में मैंने सारे जीवन डुबकियाँ लगायी थीं और डुबकियों के साथ ही मैंने उसका रस-पान भी किया था। इस काव्य ने अगणित बार मन को भक्ति विभोर कर तन को रोमांचित किया था और नेत्रों से नीर बहाया था। मथुरा में मैं इस संस्था का कार्यालय देख आया था और इसके द्वारा आयोजित श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव में भी भाग ले चुका था। इस जन्मोत्सव के अवसर पर उपर्युक्त अष्टछाप के कवियों की कविता के अतिरिक्त मैं ब्रजभाषा के उन मधुर लोक गीतों को भी सुन चुका था जिनमें चाहे उपर्युक्त कवियों की कविता का साहित्य और कल्पना की वैसी उड़ान न हो, पर ब्रजभाषा के माधुर्य के कारण ही जो मस्तिष्क तक पहुँच बिना सीधे हृदय को स्पर्श करते थे। ब्रज में नन्दगाँव और बरसाने तथा जाबठैन गाँवों की विख्यात होलियों को भी मैं देख चुका था और इन अवसरों पर ब्रजभाषा के मधुरतम रसिया भी सुन चुका था। धन्य है वह ब्रजभाषा जिसकी सीधी-सादी गद्य का एक गाँवड़ी वाक्य ही एक ब्रज की छोकरी के मुख से सुनकर एक महान् साहित्यिक आनन्द-विभोर हो गये थे और उन्होंने कहा था कि ब्रजवासी तो बातचीत भी कविता में करते हैं। मेरे इष्ट नन्दनन्दन भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की इस जन्म-भूमि में जब-जब भी मैं गया था इसकी

रेती के कण-कण ने मुझे अगणित बार आत्म विस्मृति-सी करा दी थी।

ऐसे ब्रज के इस साहित्यमण्डल के अधिवेशन की अध्यक्षता मैंने बड़ी भाव-पूर्ण मुद्रा में स्वीकृत की। इस संस्था के जिन संचालकों से मेरा पूर्व परिचय था उनमें मुख्य थे पं० बालकृष्ण शर्मा, डॉ० वासुदेवशरण, डॉ० सत्येन्द्र, बाबू गुलाबराय, श्री गोपालप्रसाद व्यास, श्री रामनारायण अग्रवाल, श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी आदि। स्वागत समिति के पदाधिकारियों तथा संस्था के संचालकों की इच्छा हुई कि हाथरस के अधिवेशन का उद्घाटन राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद करें। स्वागताध्यक्ष श्री रामबाबूलाल तथा मण्डल के कुछ अन्य संचालकों के साथ मैं राष्ट्रपतिजी से यह प्रार्थना करने गया और उन्होंने यह कार्य करना स्वीकार कर लिया।

अब तो क्या पूछना था? अधिवेशन की बड़ी जोर-शोर से तैयारी प्रारम्भ हुई।

सम्मेलन दो दिन हुआ। ता० ४ व ५ अप्रैल को। स्वागताध्यक्ष के, राष्ट्रपतिजी के और मेरे तीनों भाषणों में ब्रजभाषा की महिमा गायी गयी थी और ब्रजभाषा के काव्य की रस धारा बहायी गयी थी। अधिवेशन में कुछ प्रस्ताव भी स्वीकृत हुए जिनमें मुख्य थे महाकवि तुलसी के जन्म-स्थान के शोध के लिए समिति का निर्माण, ब्रज में रेडियो केन्द्र की स्थापना की माँग तथा हिन्दी रंगमंच की स्थापना की आवश्यकता पर बल देना। अधिवेशन में हजारों की ही उपस्थिति थी और खूब चहल-पहल तथा जोश-खरोश था। बड़ा सन्तोषजनक प्रबन्ध था और रामबाबूलालजी का आतिथ्य-सत्कार भी महान् था। अधिवेशन के अवसर पर जनपदों की उन भाषाओं का भी एक सम्मेलन हुआ और रंगमंच पर कुछ छोटे-छोटे अभिनय। रंगमंच बना था वृन्दावन के श्री गोविन्ददेवजी के मन्दिर की स्थापत्य कला के नमूने का और अभिनय भी बड़े सुन्दर और स्वाभाविक हुए। अभिनय में पहला पद गाया गया कवि सत्यनारायण कविरत्न का—

बालन को करि सकै कहा तोहि माया कोटी।
मचल-मचल माँगी हरि जामें माखन रोटी॥

इस गायन की स्वर-लहरी तो अब तक भी अनेक बार मेरे कानों में गूँज

उठती है। रंगमंच का सारा प्रबन्ध श्री गोपालदत्त शर्मा के परामर्श के अनुसार मथुरा की मनमोहन चित्रशाला ने बड़े कलात्मक ढंग से किया था। हिन्दी में रंगमंच नहीं है और रंगमंच का यह अभाव सब हिन्दी-प्रेमियों को खटका करता है। हाथरस में यह रंगमंच देखकर मुझे विश्वास हो गया कि प्रयत्न करने पर हिन्दी के अत्यन्त सफल रंगमंच का निर्माण होकर समाज को अपूर्व आनन्द देते हुए अनेक कल्याणकारी कार्य किये जा सकते हैं। नाटक जीवन भर मेरा एक प्रधान विषय रहा ही है।

कहा गया कि अब तक के ब्रज साहित्यमण्डल के अधिवेशन में यह अधिवेशन सर्वश्रेष्ठ था। परन्तु अधिवेशन के बाद इस संस्था के भवन निर्माण, रंगमंच निर्माण आदि के जिन कार्यों को करने का संकल्प कर मैंने इस अधिवेशन का सभापतित्व स्वीकार किया था उनमें से मैं कोई भी कार्य न कर सका। इसके दो कारण हुए—पहला तो यह कि कुछ ही दिन बाद मैं लगभग पाँच महीनों के लिए विदेश यात्रा को चला गया और दूसरे वहाँ से लौटते ही मैं भूदान के कार्य में फँस गया। जब मैंने देखा कि मेरे सभापति काल की बची हुई अवधि में अब मेरा कोई भी कार्य कर सकना सम्भव नहीं तब मैंने उस पद से त्याग-पत्र देना ही उचित समझा। मण्डल के कार्यों के न होने का एक कारण और हुआ। राष्ट्रपतिजी ने जिस उत्साह से मण्डल के अधिवेशन का उद्घाटन करना स्वीकार किया था उससे हम सब को यह आशा हो गयी थी कि राष्ट्रपतिजी से मण्डल के कार्य में पर्याप्त सहायता मिलेगी, पर उस दिशा से भी रंच मात्र सहायता प्राप्त न हुई।

ब्रज और ब्रज के स्वामी की भक्तिमय भावनाओं के कारण मैंने बड़ी-बड़ी उमंगों और बड़े-बड़े इरादों तथा मन्सूबों के साथ इस पद को स्वीकार किया था। मुझे इस बात का अत्यधिक खेद रहेगा कि मेरा सभापति काल शायद मण्डल के अब तक के समस्त सभापतियों से बुरा रहा। मैं जीवन में जहाँ भी रहा, और जिस काम की भी मैंने जिम्मेदारी ली, कहीं भी मैं शायद इतना निकम्मा सिद्ध नहीं हुआ जितना इस स्थान पर। अभी भी मैं भगवान श्रीकृष्ण से यही प्रार्थना किया करता हूँ कि बिना किसी पद पर रहे ही मैं इस संस्था की कुछ सेवा कर सकूँ।

पृथ्वी-परिक्रमा

कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी एसोसियेशन के जनरल सेक्रेटरी सर हावर्ड डेंगविल ने सितम्बर ५२ में कैनेडा में होने वाले कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी परिषद् के अधिवेशन की मुझे सूचना दी। ३१ मई ५२ को दिल्ली में एसोसियेशन की भारतीय शाखा की बैठक हुई और सदा के समान परिषद् के इस अधिवेशन के भारतीय प्रतिनिधिमण्डल को नामजद करने का अधिकार शाखा के सभापति लोकसभा के अध्यक्ष श्री मावलंकर को दिया गया। बैठक के कुछ दिन बाद ही मुझे श्री मावलंकर की सूचना मिली कि मैं भी मण्डल का एक सदस्य चुना गया हूँ। न्यूजीलैंड के परिषद् के सदृश इस परिषद् में भी भारतीय शिष्टमण्डल में पाँच महानुभाव ही चुने गये थे। ये थे—श्री मावलंकर, श्री अनन्तशयनम् आयंगर, श्री प्रोफेसर रंगा, श्री अनसूयाबाई काले और मैं। श्री मावलंकर लोक सभा के अध्यक्ष थे और जब वे मण्डल में जा रहे थे तब उनका मण्डल का नेता होना स्वाभाविक था। न्यूजीलैंड के मण्डल का मुझे छोड़ अन्य कोई सदस्य इस मण्डल में न लिया गया था। भारतीय संसद् के दोनों भवनों में सात सौ के लगभग सदस्य हैं और बहुत लोग विदेशों को जाने के इच्छुक रहते हैं अतः प्रायः हर प्रतिनिधिमण्डल में नये लोगों को ही भेजा जाता है। मैंने सुना कि मेरे सम्बन्ध में अपवाद इसलिए हुआ कि न्यूजीलैंड में प्रतिनिधिमण्डल के नेता की हैसियत से जो काम मैंने किया था वह काम कुछ उच्चकोटि का माना गया था।

मैं अफ्रिका, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, फीजी और सिंगापुर पहले हो आया था अतः जब मेरे कैनेडा जाने का प्रस्ताव हुआ तब मैंने सोचा कि इस यात्रा में मैं पृथ्वी-परिक्रमा ही क्यों न कर डालूँ। कैनेडा जाने में रास्ते में यूरोप पड़ता है और कैनेडा से अमरीका लगा हुआ है। लौटना फिर यूरोप होकर हो सकता था अथवा अमरीका के पश्चिमी छोर के सैन्फ्रेन्सिस्को जाकर जापान, चीन होकर। उस रास्ते में कुछ दूरी अधिक थी और खर्च भी कुछ अधिक

पड़ता था, परन्तु जीवन में बार-बार ऐसे अवसर नहीं आते अतः मैंने उसी रास्ते लौटने का निर्णय किया।

इस पृथ्वी-परिक्रमा में मैंने निम्नलिखित देशों को जाना तय किया— १. मिश्र, २. यूनान, ३. इटली, ४. स्विटजरलैंड, ५. फ्रांस, ६. इंगलैंड, ७. कैनेडा, ८. अमरीका, ९. हवाई, १०. जापान, ११. चीन, १२. हांगकांग, १३. स्याम और १४. बर्मा।

मेरे छोटे पुत्र जगमोहनदास और मेरे छोटे दामाद घनश्यामदास बिनाणी ने भी मेरे साथ जाने की इच्छा प्रकट की। मैंने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। जबलपुर वालों ने फिर से बिदा के समारोह करने चाहे, परन्तु दिल्ली में संसद् का अधिवेशन चल रहा था अतः समय न होने के कारण इन समारोहों को मैंने इस समय न कर लौटने पर स्वागत-समारोहों के रूप में करने को कहा। माताजी ने और मेरी पत्नी ने इस बार हमें कुछ कम चिन्ता के साथ बिदा किया, क्योंकि एक तो हम तीन कुटुम्बी जा रहे थे, मैं अकेला नहीं, दूसरे हाल ही में मैं न्यूजीलैंड की लम्बी यात्रा सकुशल कर चुका था। हाँ, माताजी को मेरी गैरहाजिरी में उनके शरीर को कुछ न हो जाय, यह चिन्ता अवश्य थी।

हम लोग ३१ जुलाई सन् ५२ को दिल्ली से हवाई जहाज से रवाना हुए और सारी यात्रा हवाई जहाज से ही कर ता २० दिसम्बर को कलकत्ते लौटे। यह यात्रा करीब पच्चीस हजार मील की हुई। इस यात्रा में कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी परिषद् में भाग लेने के सिवा इतना अधिक देखा, इतने अधिक लोगों से सम्पर्क स्थापित किया और इतना अधिक सार्वजनिक कार्य भी किया तथा इतने अधिक समारोह हुए कि इस सबका संक्षिप्त विवरण भी इस पुस्तक के एक अध्याय का विषय नहीं हो सकता। इस यात्रा पर मैंने एक अलग पुस्तक ही लिखी है। यद्यपि इस प्रकार की पुस्तकें मैंने अफ्रिका की यात्रा पर "हमारा प्रधान उपनिवेश" तथा न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, फीजी और सिंगापुर की यात्रा पर "सुदूर दक्षिण-पूर्व" के नाम से लिखी हैं, पर उन दोनों पुस्तकों का संक्षिप्त आशय इस पुस्तक के भी दो अध्यायों में आ गया है। इस यात्रा की पुस्तक का वैसा संक्षिप्त आशय यहाँ आ सकना सम्भव नहीं है। अधिक से अधिक यहाँ मैं उस पुस्तक के अन्तिम अध्याय का एक संक्षिप्त विवेचन कर

देता हूँ, जिससे मेरी इस यात्रा का जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा उसका दिग्दर्शन इस आत्म-निरीक्षण में हो सके।

मेरी यह पुस्तक भी हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में है। हिन्दी संस्करण का नाम है "पृथ्वी-परिक्रमा" और अंग्रेजी का "राउण्ड दी वर्ल्ड"। हिन्दी पुस्तक की भारत में काफी चर्चा हुई है। अंग्रेजी अभी प्रकाशित होना है।

इस पृथ्वी-परिक्रमा से मुझे संसार की अपार विविधता का बोध हुआ और साथ ही उस एकरूपता का भी जो इस विविधता में निहित है। विविध प्रकार के देश हैं, विभिन्न जातियों के लोग हैं, विविध रूप-रंग के व्यक्ति हैं, और विभिन्न उनके रीति-रिवाज एवं परम्पराएँ हैं। यह तो है संसार की विविधता का रूप। पर इसके पीछे है वह एकरूपता, जो एक देश और दूसरे देश के बीच, जो एक जाति और दूसरी जाति के बीच, जो एक संस्कृति और दूसरी सस्कृति के बीच समानता उत्पन्न करती है। सर्वत्र ही मानव जीवित रहना चाहता है, सर्वत्र ही वह शान्ति चाहता है। शान्ति पाने के लिए ही गत महायुद्ध हुआ। शान्ति और समृद्धि की खोज में ही संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्था की स्थापना हुई। पर इसी उद्देश्य को लेकर आज दुनिया संगठित होने के बजाय विभक्त है।

संसार में अस्सी से अधिक प्रमुखता प्राप्त देश हैं, किन्तु उनकी जनसंख्या और क्षेत्रफल में बड़ी विषमता है। उदाहरण के लिए युद्ध-पूर्व के जर्मनी में १,८१,००० वर्ग मील में ६,७०,००,००० व्यक्ति रहते थे जबकि कैनेडा में ३४,६२,००० वर्ग मील में केवल १,१५,००,००० कैनेडियन रहते थे। रूस का क्षेत्रफल ८०,००,००० वर्ग मील है पर उधर मनकाओ राज्य भी है जिसका क्षेत्रफल केवल ०,६ वर्ग मील है। महान् संयुक्त राज्य अमरीका का क्षेत्र-फल ३०,००,००० वर्ग मील है, किन्तु अण्डोरा का केवल १९१ वर्ग मील। फिर आबादी और जनसंख्या की विषमता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है साधनों की विषमता। उदाहरण के लिए छोटा-सा बेल्जियम अत्यन्त साधनसम्पन्न है, लेकिन विशाल मंगोलिया अथवा पाकिस्तान को वही सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। इससे भी आगे देशों के सामाजिक और आर्थिक विकास की स्थिति में पायी

जानेवाली विषमता है। उदाहरण के लिए हालैंडवासियों ने कर्मठता का परिचय दिया है जब कि आयरलैंड निवासियों ने उतनी ही कर्मनिष्ठा नहीं दिखायी। चीन में जिस हद तक सांस्कृतिक विकास हुआ है ब्राजील में उसी हद तक नहीं हुआ। अमरीका में मशीनी सभ्यता का प्रादुर्भाव हो सका है, किन्तु इण्डोनीशिया में ऐसा ही नहीं हो सका। अफगानिस्तान के निवासी सैनिक जाति के रूप में अपना विकास कर सके हैं, किन्तु तिब्बत वासी अब तक धर्मनिष्ठ बने रहे हैं। यही नहीं, इतिहास इस बात का साक्षी है कि जहाँ हिन्दू जाति अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की ओर से उदासीन रही है, वहाँ जर्मन जाति ने संसार को बार-बार युद्ध की ज्वाला में धकेल दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी इस दुनिया में राष्ट्र तो अनेक हैं किन्तु राजनीतिक शतरंज के मोहरें बाँधने वाले राष्ट्र गिने-चुने ही हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में महान् राष्ट्रों की गणना में कई राष्ट्र आते थे, किन्तु युद्धोपरान्त दुनिया में उनकी संख्या उत्तरोत्तर घटती गयी है। १९१४ तक आठ राष्ट्र बड़े देश माने जाते थे। जिनके नाम इस प्रकार हैं—फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया-हंगरी, संयुक्त राज्य अमरीका, इटली और जापान। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उनकी संख्या रह गयी पाँच—ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका, जापान और इटली। १९३९ तक अर्थात् द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के पूर्व दो और बड़ी शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ; इस बीच जर्मनी ने अपनी शक्ति पुनः प्राप्त की और रूस का उदय एक महान् देश के रूप में हुआ। इस प्रकार महान् देश फिर सात हो गये—क्रमशः जर्मनी, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस, जापान, रूस और इटली। दूसरे युद्धोत्तर काल के पाँच शक्तिशाली देश इस प्रकार हैं—संयुक्त राज्य अमरीका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और चीन। शान्तिकाल में अथवा कहें कि तृतीय महायुद्ध के प्रस्तावना काल में रूस और चीन मिल कर संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन और फ्रांस के मुकाबले के हो गये हैं। इसके अतिरिक्त भारत का उदय हुआ है और जापान पुनः शक्तिशाली हो रहा है।

यह राष्ट्रों के उत्थान-पतन और उनके वर्तमान शक्ति संतुलन की गाथा है। संचार-साधनों ने जहाँ दूरी को कम किया और उसे एक ही इकाई बनाके

की दिशा में इतना कुछ किया वहाँ दूसरी ओर राजनीति के कारण दुनिया का कलेजा दो टूक हो गया है। दो अलग शिविर बन गये हैं—एक का नेतृत्व करता है अमरीका जिसे कहते हैं पश्चिम, दूसरे का नेतृत्व करता है रूस जिसे कहते हैं पूर्व। दोनों ही अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने की जी-जान से चेष्टा कर रहे हैं। दोनों ही मानवता के हिमायती हैं और दोनों ही शान्तिपथ के दावेदार बनते हैं, किन्तु आश्चर्य है कि दोनों पक्ष शान्ति रक्षा के लिए युद्ध की तैयारी में संलग्न हैं। अणुबम, उद्जन बम, कोबाल्ट बम, रडार और ऐसे ही अनेक घातक अस्त्र तैयार किये जा रहे हैं, जिनसे शान्ति रक्षा का दावा किया जाता है, पर क्या इन सबसे शान्ति रक्षा होगी ? पिछले महायुद्ध की विभीषिका हमारे सामने है और अगले युद्ध की सम्भावना से मानव-जाति त्रस्त है। यदि युद्ध हुआ तो क्या मानव-जाति सचमुच जीवित रह सकेगी ? कौन कह सकता है कि यदि शस्त्रीकरण की होड़ इसी तरह बनी रही तो एक दिन ऐसा अस्त्र न निकल आयेगा जिससे हमारी पृथ्वी के ही टुकड़े हो जायँ।

जहाँ एक ओर सैनिक शस्त्रीकरण की योजनाएँ बनाकर मानव-जाति का अन्त करने का षड्यंत्र चल रहा है वहाँ दूसरी ओर संसार के सभी विचारक शान्ति रक्षा के लिए वास्तव में प्रयत्नशील हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ इस दुनिया में दो ही महान् व्यक्ति ऐसे हैं जो शान्ति न चाहकर युद्ध चाहते हैं। वह हैं जनरल चांग काई शेक और डाक्टर री। दोनों ही का स्वार्थ युद्ध छिड़ने में है। युद्ध के बिना न तो उनका कहीं अस्तित्व ही है और न उनका उत्कर्ष ही सम्भव है। जहाँ ये दो व्यक्ति युद्ध के प्रबल समर्थक हैं वहाँ दुनिया का एक व्यक्ति उतना ही शान्ति का समर्थक है, वह है भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू। उनके नेतृत्व में अग्रसर होता हुआ केवल भारत ही एक ऐसा देश है जो सचमुच शान्ति चाहता है और शान्ति के लिए निःस्वार्थ भाव से प्रयत्नशील है। अन्धकारपूर्ण दुनिया में आज भारत ही आशा की एक मात्र किरण है यह मैं निःसंकोच कहता हूँ।

यूरोप जर्जर अवस्था में है। अमरीका उन्नति के शिखर पर अवश्य है, किन्तु मेरे मतानुसार वहाँ पर वह क्रिया आरम्भ हो चुकी है जो अन्त में किसी

भी देश के पतन का कारण बनती है। अमरीका के लोग खाओ, पीओ, मस्त रहो के सिद्धान्त पर चल पड़े हैं और यह सिद्धान्त राष्ट्र के चरित्र को हीन बनाकर अन्त में उनके पतन का कारण होता है। रही रूस की बात सो वह सत्ता मद में चूर जान पड़ता है और प्रचार मात्र में आवश्यकता से अधिक विश्वास रखता है।

जैसा कि मैंने कहा कि राष्ट्रों की विषमता दुनिया की प्रगति में काफी हद तक बाधक है। एक ओर तो अत्यन्त छोटे राज्य हैं जो सब प्रकार परावलम्बी हैं और दूसरी ओर अत्यन्त विशाल राज्य हैं। अत्यन्त छोटे ६ राज्यों के नाम और उनका क्षेत्रफल इस प्रकार है—

देश का नाम	क्षेत्रफल
लक्सेम बर्ग	९९८ वर्ग मील
अण्डोरा	१९१ वर्ग मील
लीचटेंस्टीन	६५ वर्ग मील
सन मेराइनो	३८ वर्ग मील
मौन का ओ	३७० एकड़
वैटिकन राज्य	१०८·७ एकड़

संसार के विशाल राज्य ८ हैं और उनका विवरण इस प्रकार है :—

देश का नाम	क्षेत्रफल
सोवियत रूस	८४,७७,००० वर्ग मील
चीन जनराज्य	३८,७७,००० वर्ग मील
कैनेडा	३४,६२,००० वर्ग मील
ब्राज़ील	३२,८६,००० वर्ग मील
संयुक्त राज्य अमरीका	२९,७७,००० वर्ग मील
आस्ट्रेलिया	२९,७५,००० वर्ग मील
भारत	१२,००,००० वर्ग मील
अर्जेण्टीना	१०,८०,००० वर्ग मील

यद्यपि यह वर्गीकरण विभिन्न राज्यों का आकार जानने में सहायक है, किन्तु आकार किसी राज्य विशेष की शक्ति का परिचायक भी हो ऐसा नहीं है।

उदाहरण के लिए ब्राज़ील भारत से आकार में लगभग तीन गुना है, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसका उतना प्रभाव नहीं है जितना भारत का। भारत ने अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति द्वारा विचार-स्वातन्त्र्य का परिचय दिया है। बड़े राष्ट्रों की गुटबन्दी से अलग रह कर और अपने स्वार्थ से नहीं बल्कि विश्व कल्याण की भावना से प्रेरित होकर भारत ने जो कदम उठाये हैं उनकी संसार के सभी देशों में मुक्त कण्ठ से सराहना हुई है।

मुझे जान पड़ता है कि भविष्य एशिया और अफ्रिका के हाथों में है। एशिया में तो अरुणोदय की झलक स्पष्ट मिलने ही लगी है। चीन और भारत प्रगति-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। अफ्रिका में जागरण उतना स्पष्ट नहीं है किन्तु लोग दासता की शृंखलाएँ तोड़ने को छटपटा रहे हैं। दमन की चक्की का पाट उल्टा जाने वाला है और क्रान्ति अधिक दूर नहीं है। मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जो देश अब तक दलित थे और अपमानित होते रहे थे वही अब सभ्य संसार के अगुआ बनेंगे।

इसका कारण मैं तो यही समझता हूँ कि दलित देश दासता की अपमान-जनक स्थिति और जलन को समझते हैं और दूसरों के दर्द को समझने की क्षमता रखते हैं। भारत ने अपनी स्वतन्त्रता का संग्राम तो लड़ा ही, आज वह सर्वत्र उपनिवेशवाद का विरोधी है। किसी भी स्थान पर किसी भी रूप में उपनिवेशवाद का मौजूद रहना मानवता के लिए कलंक की बात है। इसके अतिरिक्त एक और तरह का उपनिवेशवाद है जो उतना ही घृणित है और वह है दक्षिण अफ्रिका का रंग-भेद। दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों और अफ्रिकियों को किस अपमान और यातना का सामना करना पड़ रहा है यह तो बेचारे वे ही जानते हैं, लेकिन संसार के सभी विचारशील व्यक्ति इस प्रकार के अन्याय का विरोध करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संस्था तक, जो उच्च आदर्शों और उद्देश्यों की पोषक कही जाती है, इस तरह की शिकायतों को सुनते समय मानों कान में तेल डाले रहती है।

यह सच है कि आज के संसार में केवल यही एक ऐसी संस्था है जिससे मानव के त्राण की थोड़ी-बहुत आशा हो सकती है, किन्तु खेद की बात तो यह है कि वहां पर भी राजनीति का पांसा पड़ा हुआ है। कुछ राष्ट्रों ने इस प्रकार

अपनी स्थिति बना ली है कि वे अन्य राष्ट्रों की एक नहीं चलने देते। संयुक्त राष्ट्र का जो उद्देश्य-पत्र है उसके अनुसार, शर्तों को पूरा करने वाला कोई भी राष्ट्र इस विश्व-संस्था का सदस्य हो सकता है, और हो सकना चाहिए। किन्तु चौदह राष्ट्र जो अर्से से इस संस्था की सदस्यता के लिए द्वार खटखटा रहे थे आज भी संस्था के सदस्य हो सकने में सफल नहीं हुए और अब तो सदस्यता के इच्छुक राष्ट्रों की संख्या २१ तक पहुँच गयी है। रूस ने कहा था कि सदस्यता चाहने वाले चौदह देशों को संयुक्त राष्ट्र में सम्मिलित कर लिया जाय, लेकिन अमरीका मार्ग में बाधक हो गया। इस सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि रूस के इस समर्थन में साम्यवाद को बढ़ावा मिलता, क्योंकि रूस ने जिन चौदह देशों का समर्थन किया था उनमें से कम-से-कम नौ तो कम्यूनिस्ट देश नहीं थे।

सरासर ज्यादती की बात है कि चीन जनराज्य जैसे देश को संयुक्त राज्य में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। भारत आरम्भ से इस खटकने वाली स्थिति पर जोर देता आया है। संयुक्त राज्य में प्रतिनिधित्व की बात तो अलग रही, कुछ राष्ट्र तो चीन जनराज्य का अस्तित्व तक स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। किन्तु चीन जनराज्य एक ऐसी वास्तविकता है जिसकी ओर से आँख मूँदने से कोई लाभ होने वाला नहीं है। कोमिंतांग सरकार जैसी अथवा बाओदाई सरकार जैसी कठपुतली सरकारें आखिर कितने दिन चल सकती हैं। चीन के प्रति उपेक्षा का जो रवैया है वह अकेले चीन के प्रति ही नहीं समस्त एशिया के प्रति है।

कोरिया राजनैतिक सम्मेलन की रचना को ही लीजिए। यूरोप के देश और अमरीका मिल कर एशिया की समस्याओं को सुलझाना चाहते हैं। यह कैसे आश्चर्य की बात है। यूरोप और अमरीका एशिया की कब तक उपेक्षा कर सकेंगे। वे तो एशिया के अस्तित्व को ही भूल जाना चाहते हैं। पर काहिरा से जकार्ता तक सारा एशिया जाग चुका है और उधर अफ्रिका भी करवट ले रहा है। यदि उन्नत देश एशिया की उपेक्षा करके अपना स्वार्थ साधने के स्वप्न देख रहे हैं तो वे भ्रम में हैं। संसार की तीन-चौथाई आबादी इस प्रदेश में स्थित है। इसके कल्याण के उपाय करने में ही उन्नत राष्ट्रों का कल्याण है

सकता है। पर यदि उन्नत राष्ट्र एशिया और अफ्रिका के प्रति ईर्ष्यालू बने रहेंगे और उनके उचित स्थान प्राप्त करने के मार्ग में रोड़ा अटकायेंगे तो सम्भव है कि उनके अपने ही अस्तित्व के लिए खतरा पैदा हो जायगा। प्रचण्ड वायु के वेग में बड़े पुराने और विशाल वृक्ष भी उखड़ जाया करते हैं यह उन्हें स्मरण रखना चाहिए। इसके विपरीत यदि वे सद्भाव लेकर इस प्रदेश की दीन-हीन जनता के उत्थान में सहायक होंगे तो यह भी विनम्र भाव से उनका आभार मानेगी।

हम पाते हैं कि पृथ्वी पर मनुष्य जाति का प्राणि मात्र में सर्वोत्तम स्थान है। पृथ्वी के पशु-पक्षियों तथा अन्य प्राणियों से मनुष्य जिस शक्ति के कारण ऊँचा है वह है उसकी ज्ञान-शक्ति। अपनी इस ज्ञान-शक्ति की सहायता से मनुष्य सत्य और असत्य की पहचान करता है और अनुसंधान, आविष्कार आदि विभिन्न क्षेत्रों में अपनी कुशाग्रता का परिचय देता है। इतिहास का गहराई से अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि आदिकाल से मनुष्य ने आध्यात्मिक और आधिभौतिक इन दो दिशाओं में प्रगति की है। अध्यात्म और अधिभूत में मानव का समस्त विकास निहित है।

जहाँ तक आध्यात्मिक क्षेत्र में मनुष्य के विकास को आँकने की बात है वहाँ निःसंकोच कहा जा सकता है कि पूर्व के देश इस क्षेत्र में सबसे आगे रहे हैं। जिस समय पश्चिमी जगत् अन्धकारमय था और वहाँ सभ्यता का नाम-निशान नहीं था उस समय पूर्व के देश आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर थे। मिस्र से चीन-जापान तक और तिब्बत से स्याम, जावा-सुमात्रा तक आचार्य सद्भाव और प्रेम का सन्देश देते थे। कई हजार वर्ष पश्चात् आज भी इस प्रदेश के नैतिक सिद्धान्तों की मूल रूपता को सरलता से पहचाना जा सकता है। मैं निःसंकोच और गर्व के साथ कह सकता हूँ कि आध्यात्मिक क्षेत्र में मानव ने जो कुछ विकास किया उसमें भारत ने सबसे अधिक योग दिया।

पर समय आने पर दूसरे क्षेत्र में अर्थात् आधिभौतिक क्षेत्र में पश्चिम पूर्व के देशों में बहुत आगे निकल गया। इस क्षेत्र की सारी प्रगति एक वाक्य में कही जा सकती है और वह है निसर्ग पर विजय पाने का प्रयत्न। इस क्षेत्र में पश्चिम का सबसे बड़ा कदम उठा, लगभग दो सौ वर्ष पूर्व औद्योगिक क्रान्ति

से और अग्रगामी रहा ब्रिटेन। सबसे पहले भाप की शक्ति का पता चला और इंजन का आविष्कार हुआ। इसके बाद विद्युत्-शक्ति का पता चला जिससे भौतिक प्रगति की गति और भी बढ़ गयी। विद्युत् युग के बाद अणु युग आ पहुँचा है। और प्रकृति पर विजय पाने का आकांक्षी मानव प्रयोगों और अनुसन्धानों के सहारे ही आगे बढ़ता जाता है।

भौतिक क्षेत्र में पश्चिम की प्रगति का परिणाम यह हुआ कि तैयार माल के लिए कच्चे माल की कमी और तैयार माल की बिक्री के लिए मंडियों की आवश्यकता के परिणामस्वरूप साधनों की निरन्तर कमी होने लगी। नये साधनों की खोज के कारण उपनिवेशों का जन्म हुआ और धीरे-धीरे पश्चिम का प्रभुत्व सारे संसार में छा गया। दो विश्व-व्यापी युद्ध हुए और तीसरे युद्ध के भय से सारा संसार काँप रहा है। यदि यह युद्ध रुका हुआ है तो केवल इस कारण कि न अमरीका को अपनी विजय का पूरा विश्वास है और न रूस को ही। गत युद्ध के बाद के इन वर्षों में दुनिया पर घोर आर्थिक संकट रहा। टीस और कराह से दुनिया सिहर उठी। कम उन्नत देशों में जागरण की लहर फैल गयी। बर्मा, भारत, पाकिस्तान एक के बाद एक उपनिवेश स्वतन्त्र होने लगे। आध्यात्मिकता का सन्देश फिर सुनायी देने लगा। मानवता की दुहाई देते हुए दलितों के कल्याण के लिए मानवता के पुजारी महात्मा गान्धी अवतरित हुए।

आज भी आध्यात्मिक और आधिभौतिक संघर्ष चल रहा है। जहाँ पश्चिम के देश आधिभौतिक उन्नति को ही सब कुछ मान बैठे हैं वहाँ भारत आज भी आध्यात्मिक पक्ष पर ही बल देता है। किन्तु जिस तरह केवल आधिभौतिक पक्ष पर बल देने से सन्तुलन बिगड़ता है उसी तरह अकेले आध्यात्मिक पक्ष की ओर ध्यान देने से सन्तुलन बिगड़ सकता है और आधुनिक संसार में हमारा अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता है इसलिए हम दोनों पक्षों को समुचित स्थान देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

हमारे सामने मुख्य समस्या यही है कि दुनिया को युद्ध की लपटों में से किस प्रकार बचायें और शान्ति का उपयोग करती हुई मानव-जाति किस तरह समृद्धि की ओर बढ़ती जाय। यदि यही स्थिति बनी रही कि दुनिया के एक

भाग में बेशुमार आबादी हो और वहां के लोग बेकारी और भूख के कारण आगे न बढ़ सकें और दूसरे भाग में आबादी अत्यन्त कम हो और लोग गुलछर्रे उड़ाते रहें तो स्पष्ट है कि संसार को त्राण नहीं मिल सकता। फिर तो संघर्ष भी रहेगा, महायुद्ध भी होगा और संसार भी विनाश को प्राप्त हुए बिना न रहेगा।

पर शान्ति का मार्ग भी है और वह महात्मा गान्धी, जीसस क्राइस्ट और भगवान् बुद्ध का दिखाया हुआ प्रेम और अहिंसा का मार्ग। यह वही मार्ग है जिसका भारत के प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख है—"वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् सारा संसार एक बड़ा परिवार है। इस रास्ते पर हमें विभिन्नता को भुला कर मूल एकता को समझना होगा जैसा कि ऋग्वेद में भी कहा गया है—

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।"

माताजी का देहावसान

पिताजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् एक प्रकार से माताजी निर्जीववत हो गयी थीं। उन्होंने अपना दीर्घ जीवन-काल भारतीय नारी के महान् आदर्शों के सर्वथा अनुसार बिताया था। पातिव्रत धर्म की वे मूर्तिमन्त प्रतिमा रही थीं। पिताजी के जीवन में उनके अन्तिम जीवन के कुछ वर्ष पूर्व तक जो ऐयाशी रही थी उसमें माताजी का जो व्यवहार रहा था उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। फिर वे महान् पत्नी थीं इतना ही नहीं, महान् माता भी थीं। पिताजी पर अगाध श्रद्धा और भक्ति रखते हुए भी उन्होंने इस बात पर अत्यधिक ध्यान रखा था कि पिताजी के चरित्र का मुझ पर लवलेश मात्र भी प्रभाव न पड़े और पिताजी के चरित्र के ठीक प्रतिकूल जो मेरा चरित्र बना उसमें मेरे पितामह के अतिरिक्त सर्वप्रधान हाथ माताजी का रहा था। फिर मैं उनका एकलौता पुत्र था। कौन माता अपने पुत्र पर स्नेह नहीं करती और यदि उसका एक ही पुत्र हो तब तो इस विषय में कहने की कोई बात ही नहीं रहती। मैंने जीवन में जो कुछ किया था उसमें मेरे राजनैतिक क्षेत्र के कामों का यदि उन्होंने विरोध किया तो मेरे पर उनके अत्यधिक स्नेह के कारण ही। इसीलिए आदर्श माता होते हुए भी उन्हें वीरमाता नहीं कहा जा सकता। वे उन राजपूत रमणियों में न थीं जो युद्ध के समय अपने पतियों और पुत्रों को तिकल कर मारने के लिए ही नहीं, पर मरने के लिए भी रणक्षेत्र में भेजतीं और फिर जौहर कर स्वयं जलती अग्नि में अपनी राख बना डालती थीं। मेरा मत है कि ऐसी स्त्रियों का निर्माण कोई दूसरे ही ढंग से होता है। इसके लिए एक विशेष प्रकार की परम्परा और वायुमण्डल की आवश्यकता होती है। मेरी माता थीं निसर्ग ने महिलाओं को शारीरिक और मानसिक जो एक कोमलता दी है उसके अनुरूप, पर इस कोमलता के साथ ही धार्मिक वाली। यहाँ मैं धर्म शब्द का अर्थ कुछ संकुचित रूप में कर रहा हूँ। व्याख्या के रूप में नहीं जिसके अन्तर्गत देश और समाज के प्रति धर्म भी आ

जाता है। माताजी उस भारतीय धर्म का अनुसरण करती थीं जिसे गार्हस्थ्य धर्म कहा जा सकता है और जिस भारतीय गार्हस्थ्य धर्म में पातिव्रत तथा नैतिक चरित्र वाले पुत्र का निर्माण प्रधान रहता है। फिर उनके गार्हस्थ्य धर्म प्रधान होने के कारण हमारे कुटुम्ब में मेरे और मेरी बहन के जितने बच्चे हुए उनकी ओर भी उनका अत्यधिक ध्यान रहा। साथ ही हमारे कुटुम्ब की सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार कुटुम्ब के सारे कौटुम्बिक कार्य ठीक ढंग से हों इसका भी उन्होंने बड़ा ध्यान रखा। यह पहले कहा जा चुका है कि हमारे कुटुम्ब पर जब आर्थिक आपत्ति आयी तब कुटुम्ब की प्रतिष्ठा में कोई बट्टा न लगे इसके लिए उन्होंने अपने पास के जवाहरात, सोना-चाँदी सब कुछ दे डाला था। और इन सब लौकिक बातों के अतिरिक्त उन्होंने अपने जीवन के पारलौकिक कृत्यों की ओर भी सर्वोपरि ध्यान रखा। पातिव्रत उनकी पारलौकिक सृष्टि का एक अखण्ड व्रत था ही, इसके सिवा भगवद्भक्ति और भगवान् की उपासना का भी उनके जीवन में पातिव्रत के समान ही स्थान रहा। वल्लभाचार्यजी के पुष्टि मार्ग की वे सच्ची वैष्णव थीं और इस मार्ग की सर्वोत्कृष्ट तथा सबसे कठिन दीक्षा मर्याद से दीक्षित। इस मर्याद को उन्होंने अस्वस्थ रहते हुए भी अन्त समय तक निष्ठापूर्वक निबाहा।

पिताजी के जीवन-काल में ही माताजी को खून के दबाव (ब्लड प्रेशर) की बीमारी हो गयी थी, पर पिताजी की मृत्यु के तीसरे दिन से ही इस रोग ने उन्हें ऐसा दबोचा कि पिताजी की मृत्यु के पश्चात् यद्यपि वे सात वर्ष तक जीवित रहीं पर प्रायः बिस्तर पर पड़ी रहीं। पिताजी की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् वे हमारे कौटुम्बिक मन्दिर में राजभोग के दर्शन की आरती करने जातीं, मन्दिर में यदि कोई उत्सव आदि होता तो उस समय मन्दिर जातीं, शेष समय प्रायः बिस्तर पर ही रहतीं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पिताजी की मृत्यु की एक प्रतिक्रिया उन पर और हुई। पहले उल्लेख किया जा चुका है कि उन्हें न जाने क्यों यह विश्वास था कि उनकी मृत्यु उनके पति के सामने होगी और उन्हें वैधव्य न भोगना होगा। उनके इस विश्वास के ध्वंस होने पर ईश्वर के प्रति भी उनके विश्वास को कुछ धक्का लगा। यद्यपि उनकी उपासना आदि के कृत्यों में कोई

अन्तर न पड़ा, मर्याद की दीक्षा भी अक्षुण्ण चली, पर अनेक बार उनके मुँह से बिकल जाता—"ये कैसे ठाकुरजी हैं ? मैंने तो जनम भर इनकी ऐसी सेवा की जैसी बिरली ही कर सकती हैं और इनने मुझे ऐसा दुःख दिया।"

पिताजी का अन्तिम जीवन जिस प्रकार का हो गया था और उनकी जैसी आदर्श मृत्यु हुई इसका उल्लेख पहले आ चुका है। पिताजी के इस परिवर्त्तन और इस प्रकार अन्त में भगवद्-प्राप्ति में माताजी का प्रधान हाथ था, पर जिनके कारण पिताजी में इस प्रकार का परिवर्त्तन हुआ और जिनके कारण उन्हें ऐसी मृत्यु मिली वे माताजी वैसी मृत्यु प्राप्त न कर सकीं।

सन् १९५३ के मई मास में संसद् का दिल्ली में अधिवेशन चल रहा था। मैं दिल्ली में ही था। पुरुषोत्तम मास के कारण मेरी पत्नी मथुरा गयी हुई थीं। एकाएक ता० ३ मई को मेरे छोटे पुत्र जगमोहनदास का फोन आया कि माताजी को अचानक लकवा हुआ है, उनका बोलना भी बन्द हो गया है और वे बेहोश हैं। मेरे बड़े पुत्र मनमोहनदास उस समय विलायत में थे इसीलिए यह सूचना मुझे मेरे छोटे पुत्र ने भेजी। फोन आते ही मैं पहली गाड़ी से जबलपुर रवाना हुआ। मेरी पत्नी को भी सूचना पहुँच चुकी थी और वे भी मथुरा से मेरे साथ हो गयीं। जबलपुर एरोप्लेन जाता न था अतः रेल से जाने के सिवा अन्य कोई उपाय न था। कितना अधैर्य था उस समय हम दोनों के मनों में ! बार-बार एक ही बात मन में उठती थी—हम लोग किसी तरह उनकी जीवितावस्था में पहुँच तो जायँ। साथ ही यद्यपि उनकी अवस्था अब अस्सी वर्ष के निकट थी और उनके जाने का समय ही था, क्योंकि कोई अमर होकर तो इस मर्त्य-लोक में आया नहीं है, फिर भी किस तरह बार-बार आँसू उमड़ आते थे हम लोगों की आँखों में तथा कितनी बातें याद आ रही थीं जीवन की उनसे सम्बन्ध रखने वाली।

जब ता० ४ मई के प्रातः हम जबलपुर पहुँचे और हमने धड़कते हुए हृदय से जबलपुर की भूमि पर पैर रखा तब यह जानकर हमें असीम सन्तोष हुआ कि उनकी हालत वैसी ही है।

राजा गोकुलदास महल में पहुँच हमने देखा कि एक भीड़ इकट्ठी है। सभी नातेदारों को, किसी को तार, किसी को फोन पहुँच चुके थे। दिल्ली की अपेक्षा

सभी जबलपुर के निकट रहने वाले थे अतः जिसे भी जब खबर पहुँची सब काम छोड़कर वह जबलपुर के लिए चल पड़ा। फिर जबलपुर में रहने वाले भी सभी रिश्तेदार और मित्र मौजूद थे। पर उस समय हमें न किसी के अभिवादन के उत्तर देने की चिन्ता थी और न किसी को अभिवादन करने की, हमें एकमात्र चिन्ता थी बिना एक सेकण्ड खोये माताजी के बिस्तर के निकट पहुँचने की।

माताजी अपनी एक फुट ऊँची चारपाई पर सीधी लेटी हुई थीं। नेत्र बन्द थे। उनके दाहने अंग पर पक्षाघात हुआ था। बोली बन्द थी, होश भी शायद बहुत ही कम था। सदा के समान मैंने उनके पैर छुए, और अपनी पूरी आवाज में जोर-जोर से उन्हें पुकारना शुरू किया। लोगों को आश्चर्य हुआ जब थोड़ी देर बाद उन्होंने एक आँख खोलकर मेरी ओर देखा। इस नेत्र-उन्मीलन के अवसर पर उनकी दोनों आँखों से दो बूँद आँसू भी टपक पड़े। मेरा निश्चित विश्वास है कि उन्हें मेरे आने का भान हो गया।

मेरे जबलपुर पहुँचने के बाद माताजी तीन दिन और जीवित रहीं अर्थात् पक्षाघात के बाद पाँच दिन। मेरे आने के दिन उन्होंने जो एक आँख खोल कर मुझे देखा था उसके बाद अनेक प्रयत्न करने पर भी उन्होंने किसी प्रकार की कोई ऐसी बात नहीं की जिससे यह जान पड़ता कि उन्हें थोड़ा भी होश हो। मई की ७ तारीख को अपराह्न में उन्होंने इस नश्वर शरीर को छोड़ दिया। उसी दिन प्रातःकाल गोदान, अष्ट महादान इत्यादि धर्म-शास्त्रों के अनुसार समस्त दान-पुण्य इत्यादि विधिपूर्वक करा दिये गये थे। श्री मद्-भगवद्गीता, श्री मद्भागवत के पाठ और राम-धुन तो उनकी बीमारी के दिन से ही चल रही थी। बड़ी शान्ति से उनकी मृत्यु हुई, पर उनकी मृत्यु और पिताजी की मृत्यु में अन्तर—बहुत बड़ा अन्तर—था। मेरे मन में बार-बार उठा करता है कि जिन पिताजी का अन्तिम कुछ वर्षों को छोड़ शेष सारा जीवन नैतिक दृष्टि से किसी प्रकार भी श्लाघनीय नहीं कहा जा सकता, उन्हें ऐसी मृत्यु मिले, जिसके लिए गोस्वामी गोकुलनाथजी के सदृश महान् विद्वान आचार्य भक्ति मार्ग का मोक्ष कहें, और जिन माताजी का सारा जीवन हर प्रकार की तपस्या में बीता हो, उस पद को प्राप्त न कर सकें, यह कैसी बात?

और जब-जब मेरे मन में यह बात उठती है तब-तब पिताजी की अन्तिम वर्षों की दीनता से परिप्लावित भगवत् चरणारविन्दों में अपने को पूर्ण रीति से समर्पित करने की तथा पिताजी की मृत्यु के पश्चात् माताजी का भगवान् के प्रति रोष की बात भी स्मरण हो आती है। तो क्या इन दोनों वृत्तियों का अन्तर ही इन दो प्रकार की मृत्युओं के अन्तर का कारण है ? अटकलबाजियाँ लगाने के सिवा इन रहस्यों को कौन समझ सका है तथा भविष्य में भी कौन समझ पायेगा ?

हाँ, यदि पश्चिमी सिद्धान्तों का अवलम्बन कर लिया जाय तो फिर इस विषय में चिन्ता की आवश्यकता नहीं रहती, इन सिद्धान्तों का निचोड़ सैम्युअल जानसन के एक छोटे से वाक्य में आ जाता है—"मनुष्य किस प्रकार मरता है यह प्रश्न नहीं है। वह किस प्रकार जीवित रहा प्रश्न यह है।"

माताजी की शव-यात्रा में वैसी भीड़ तो नहीं थी जैसी पिताजी की शव-यात्रा में थी, फिर भी इतनी जनता अवश्य थी, जितनी जबलपुर की विरल शव-यात्राओं में ही हुई होगी। जबलपुर के लोगों ने हड़ताल भी की। हमारे कौटुम्बिक श्मशान में उनके जीवन पर जो भाषण हुए उनमें उनके निर्मल और तपस्वी चरित्र पर ही सब कुछ कहा गया, साथ ही एक बात और कही गयी—मैं जैसा भी हूँ उनकी देन हूँ। कितना सत्य था यह सारा बखान। मैं इन भाषणों के उत्तर में कृतज्ञता का केवल एक वाक्य ही कह सका, मेरा गला रुँध गया था।

माताजी के श्राद्ध से निपटने पर मुझे जीवन में एक नये सूनेपन का अनुभव हुआ। मेरे पितामह और पिताजी की मृत्यु से जो आघात मुझे लगा था, उससे यह कुछ भिन्न-सा था। पिताजी के बाद माता थीं, पर माताजी के जाने पर वह शृंखला ही टूट गयी। सन् ३२ में राजा गोकुलदास महल को छोड़ने के १४ वर्ष बाद पिताजी की अन्तिम इच्छा की वजह से, गान्धीजी के अनुरोध पर, मैं फिर से राजा गोकुलदास महल में माताजी के कारण ही आकर रहने लगा था। अब मेरे वहाँ रहने का मुझे कोई प्रयोजन न जान पड़ा। जब मैं जबलपुर रहता अपने कौटुम्बिक मन्दिर में मंगला के दर्शन करने को जाते समय माताजी के चरण स्पर्श करने जाता। जबलपुर से बाहर जाते समय और बाहर

जो जबलपुर आते समय सदा उनके चरण स्पर्श करता। अब घर में कोई ऐसा न रहा जिसके मैं चरण स्पर्श कर सकूँ। कभी-कभी अभी भी जब मैं किसी अन्य विचार में निमग्न रहते हुए मंगला के दर्शन करने जाता हूँ तो उनके कक्ष की ओर अनजाने ही पैर ले जाते हैं और वहाँ पहुँच मैं चौंक पड़ता हूँ।

पिता और माता का सुख मेरे जीवन के बहुत लम्बे समय तक रहा। मेरी पचास वर्ष की अवस्था में पिताजी गये और सत्तावन साल की उम्र में माताजी। फिर विरले व्यक्तियों को ही ऐसे माता-पिता मिलते हैं। कितना मतभेद रहा उनका और मेरा, प्रायः सारे जीवन भर और इतने पर भी कैसा अगाध, कैसा महान्, कैसा अक्षुण्ण स्नेह रहा उनका मुझ पर! भारतीय संस्कृति से संस्कृत व्यक्तियों में ही कदाचित् यह हो सकता है।

पर इस सूनेपन के साथ ही मुझे एक सन्तोष भी है। दोनों की उत्कट इच्छा थी कि उनके अंत्येष्टि कृत्य उनके एकलौते पुत्र के हाथों ही हों। जेल में, जेल के बाहर भी देश-विदेश में घूमते हुए मेरे मन में एक खटका बना रहता था वह यह कि जिसे हमारी प्रचलित भाषा में लकड़ियों का चोर होना कहा जाता है, कहीं मैं उस कलंक का भागी न हो जाऊँ, पर इस कलंक का भागी होने से भगवान् ने मुझे बचा लिया। और जहाँ तक इस सूनेपन की भावना का प्रश्न है माताजी की मृत्यु से सम्बन्धित राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र-प्रसादजी ने मुझे जो एक पत्र लिखा है, उसके कुछ अंश को मैं यहाँ इसलिए उद्धृत करता हूँ कि मेरी दृष्टि से उसमें एक नये दर्शन का प्रतिपादन है। वे लिखते हैं—

"आपके हृदय में जो सूनापन मालूम हो रहा है वह समय बीतने पर ही दूर होगा। ईश्वर ने जितनी शुभ चीजें हमें दी हैं उनमें मैं समझता हूँ कि भूलने की शक्ति सबसे अधिक मूल्यवान है। एक समय था, विशेषकर लड़कपन में, जब यह इच्छा हुआ करती थी कि जो कुछ एक बार पढ़ लिया या सीख लिया या देख लिया या सुन लिया वह हमेशा याद रहे और स्मरण-शक्ति ऐसी हो कि वह चीज कभी न भूले। पर जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती गयी, यह अनुभव होता गया कि स्मरण-शक्ति से अधिक मूल्यवान विस्मरण शक्ति है, क्योंकि यदि सभी बातें मनुष्य को याद रह जायें तो उसका जीवन बहुत ही कठिन

ग्रौर दुखदायी हो जाय। मनुष्य के जीवन में कितनी बातें होती हैं जिनसे हृदय को वेदना पहुँचती है ग्रौर उनमें से थोड़ी बातें भी हमेशा याद ग्राती जायँ तो उसका जीवन वेदनामय हो जाय। इसलिए जब निकट सम्पर्क में रहने वाले सगे-सम्बन्धी हितू मित्र चले जाते हैं तो कुछ दिनों बाद उनका स्मरण भी ग्रादमी भूल जाता है ग्रौर तभी वह सुखी होकर जीवन बिता सकता है। ईश्वर की यह बड़ी देन है।"

अखिल भारतीय मारवाड़ी सम्मेलन

सन् १९५२ के अन्त में जब मैं जापान में था उस समय कलकत्ते के स्वायत्त शासन विभाग के मन्त्री श्री ईश्वरदासजी जालान का मेरे पास तार पहुँचा कि मैं अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन के कलकत्ते में होने वाले अधिवेशन का सभापतित्व स्वीकार करूँ। मेरे जिम्मे जितने काम थे उन्हें देखते हुए तथा ब्रज साहित्यमण्डल के सभापति पद को स्वीकार कर जो अनुभव मुझे हुआ था उसके कारण मैंने जालानजी को तत्काल अस्वीकृति भेज दी। पर जालान-जी तथा कलकत्ते के अन्य मारवाड़ी बन्धुओं का मुझ पर जैसा स्नेह है उसे देखते हुए इस प्रकार मेरा पिंड थोड़े ही छूटने वाला था। जब मैं दिसम्बर में भारत लौटा तब ईश्वरदासजी तथा अन्य मित्र मेरे पीछे ही पड़ गये और मुझे यह पद स्वीकार करना ही पड़ा। लेकिन मैंने सबसे एक बात स्पष्ट कर दी कि सम्मेलन के तीन दिन तक सभापति का काम करने के अतिरिक्त उसके बाद अगले अधिवेशन तक मुझे जो सभापति पद पर रहना पड़ेगा उस काल में वे मुझसे किसी भी कार्य की आशा न रखें। मारवाड़ी सम्मेलन का यह अधिवेशन कलकत्ते में ता० ३१-१२-५३ से ता० २-१-५४ तक हुआ। स्वागताध्यक्ष थे श्री ईश्वरदासजी जालान और स्वागत मन्त्री थे श्री तुलसीदासजी सरावगी तथा श्री चौथमलजी सर्राफ। अधिवेशन में खूब उपस्थिति थी, बड़ा जोश, सुन्दर प्रबन्ध, और महान् आतिथ्य सत्कार ! स्वागताध्यक्ष के और मेरे दोनों भाषण छपे हुए थे। मैंने अपने भाषण में देश की वर्तमान परिस्थिति में धनवान मारवाड़ी समाज को अपने धन का किस प्रकार उपयोग करना चाहिए इसके विस्तृत और तात्विक विवेचन का प्रयत्न किया। यह भाषण कोई पौने दो घंटे तक चला और इतना लम्बा समय बोलने तथा हजारों की उपस्थिति होने पर भी लोगों ने जिसे अंग्रेजी में "पिन ड्राप साइलेंस" कहते हैं उस प्रकार इस भाषण को सुना। हिन्दी और अंग्रेजी पत्रों ने भी इसे बड़े विस्तार के साथ छापा और इस पर लम्बी-लम्बी टिप्पणियाँ हुईं। सम्मेलन में कई महत्त्वपूर्ण

प्रस्ताव पास हुए, जिनमें मुख्य थे परदा-निवारण तथा दहेज-प्रथा के उन्मूलन के सम्बन्ध में। प्रस्तावों पर सम्मेलन में जो भाषण हुए वे बड़ी उग्रता और कटुता को लिये हुए थे और एक भी ऐसा प्रस्ताव पास न हुआ जिस पर अनेक संशोधन न रखे गये हों। भाषणों की इस उग्रता और कटुता में कुछ लोग ऐसी बातें कह जाते जो उन्हें रोक कर मुझे वापस लेने को कहना पड़ता। न जाने किन-किन से मुझे खुले अधिवेशन में हजारों के सामने माफियाँ मँगवानी पड़ीं। इस अधिवेशन में अंग्रेजी में जिसे "कन्ट्रोल" कहते हैं उसे रखवा सकना अत्यधिक कठिन काम था और सभापति पद से भाषण देने के सिवा यही सभापति का प्रधान कर्त्तव्य भी था। इस कर्त्तव्य के पालन पर मुझे सभी ओर से साधुवाद मिला, क्योंकि मैंने अपने इस कर्त्तव्य का पूर्ण निष्पक्षता से पालन किया।

इस अधिवेशन ने मुझे जो एक बात निर्विवाद रूप से सिद्ध करदी वह यह थी कि धनवान कहे जाने वाले मारवाड़ी समाज में जिनके पास धन का संग्रह है उनकी संख्या दाल में नमक बराबर भी नहीं। अधिकांश मारवाड़ी मध्यम श्रेणी के हैं और ये ऊँची श्रेणी के लोगों के प्रति अत्यधिक ईर्ष्या रखते हैं तथा उनसे बहुत रुष्ट भी हैं। इसीलिए मारवाड़ी समाज की नयी पीढ़ी में साम्य-वाद की भावनाओं का प्रचार हो रहा है।

सम्मेलन के साथ महिला सम्मेलन हुआ, जिसका उद्घाटन जयपुर की महारानी गायत्री देवीजी ने किया। सुना कि मारवाड़ी समाज की जितनी महिलाएँ इस सम्मेलन में कलकत्ते में जमा हुईं उतनी कभी न हुई थीं। महिला सम्मेलन के सिवा इसी अवसर पर एक युवक सम्मेलन भी हुआ जिसका उद्घाटन उत्तर प्रदेश के मन्त्री श्री संपूर्णानन्दजी ने किया।

सम्मेलन के अन्तर्गत एक कला प्रदर्शनी और कवि दरबार के भी अत्यन्त सफल आयोजन हुए।

इस सम्मेलन का इस समय मुख्य कार्य है सामाजिक सुधार में परदा और दहेज-प्रथा के विरुद्ध जहाद तथा मारवाड़ियों में हर प्रकार से शिक्षा का प्रसार।

सम्मेलन के अधिवेशन के बाद मैं तो अब तक सम्मेलन का नाम मात्र का सभापति रहा हूँ। परन्तु मारवाड़ी सम्मेलन के अधिवेशन प्राय: पाँच वर्ष के

बाद होते हैं । देखना है मैं इस बीच कुछ कर पाता हूँ या ब्रज साहित्यमण्डल के सभापति पद के सदृश मारवाड़ी सम्मेलन के सभापति पद से भी मुझे त्याग-पत्र देना पड़ता है । पर यदि मुझे ऐसा करना भी पड़ा तो इस कृति में मुझे उस प्रकार का पश्चात्ताप न होगा जिस प्रकार का पश्चात्ताप मुझे ब्रज साहित्य-मण्डल का सभापति पद छोड़ने में हुआ था, क्योंकि उस पद को स्वीकार करने के समय की मेरी भावनाओं और इस पद को स्वीकार करने के समय की मेरी भावनाओं में आकाश-पाताल, दिन-रात का अन्तर था । भावनाप्रधान व्यक्ति तो मैं हूँ ही ।

गौरक्षा आन्दोलन और उससे मेरा सम्बन्ध

गौरक्षा के भाव जिन संस्कारों के कारण मुझमें हैं, इसका उल्लेख पहले आ चुका है। यही कारण है कि मेरे व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक दोनों प्रकार के जीवन में सदा ही गाय का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। स्वराज्य प्राप्ति के बाद हिन्दी और गौरक्षा मेरे जीवन के प्रधान विषय हो गये। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा पद पर आसीन होने के सम्बन्ध में मेरे द्वारा जो कार्य हुआ, उसका उल्लेख पिछले अध्यायों में हो चुका है। यहाँ गौरक्षा आन्दोलन के विषय में तथा उससे मेरा जो सम्बन्ध रहा, उसके विषय में कुछ लिखना अनुपयुक्त न होगा। परन्तु मेरा इस आन्दोलन में जो भाग रहा है, और है, उस पर कुछ लिखने के पूर्व इस समूचे आन्दोलन के विषय में कुछ लिखना आवश्यक है, क्योंकि भारतीय संस्कृति, धर्म और इस देश की आर्थिक उन्नति इन सभी बातों का गाय से सम्बन्ध है, जो थोड़ा भी विचार करने से निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है।

सर्वप्रथम तो मैं यह कह दूँ कि यह मानना एक भूल है कि मेरे सदृश व्यक्ति अथवा हिन्दू ही गौरक्षा आन्दोलन में अग्रसर रहे हैं। बंगाल के चीफ जस्टिस सर जान वूडरफ ने सन् १८१७-१८ ई० में गौरक्षा आन्दोलन का नेतृत्व स्वीकार किया था और बड़ी योग्यता से गौवध से होने वाली असीम हानि की ओर जनता एवं सरकार दोनों का ध्यान आकर्षित किया था। इस गौरक्षा के देशव्यापी आन्दोलन में ईसाई, मुसलमान और पारसी सभी वर्ग के लोगों ने समान रूप से भाग लेकर गौरक्षा भारतीय संस्कृति और सुख-समृद्धि की प्रतीक है, यह निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया था। बंगाल के ही डाइरेक्टर ऑफ़ एग्रीकल्चर एच० एच० मैन और एक अन्य प्रतिष्ठित अंग्रेज डब्ल्यू आलीवर ने भी दूध के उत्तरोत्तर कम उत्पादन को देखकर भविष्य के सम्बन्ध में बड़ी चिन्ता प्रकट की थी। इसी समय जबलपुर के एक पारसी श्री जस्सेवाला के मन में विदेशी सैनिकों के भोजन के लिए गोमांस के प्रबन्ध तथा

गौमांस के निर्यात के कारण बड़ा क्षोभ हुआ था। उन्होंने इसके विरोध में एक आन्दोलन किया था और राज्य-कर्मचारियों से मिलकर कहा था कि भारत से गौमांस के निर्यात न करने पर जो आर्थिक हानि होगी, उसकी पूर्ति वे स्वयं अपने पास से कर देवेंगे। श्री जस्मेवाला से मेरा काफी निकट का सम्बन्ध था। डॉ० सैय्यद महमूद मुसलमान होते हुए भी गौवध बन्दी के भारी समर्थक थे और उन्होंने अपनी एक पुस्तक में प्रमाण दिये थे कि मुस्लिम राज्य के आरम्भ से लगभग दो सौ वर्ष तक कसाइयों पर फी गाँव बारह चेतल का गौवध पर टैक्स लगा रहा, बाबर ने अपने वसीयतनामे में हुमायूँ को गौवध न हो, यह अन्तिम आदेश दिया और अकबर ने गौवध करने वालों को प्राणदण्ड तक दिये। हमारे प्रान्त के एक मुस्लिम डिप्टी कमिश्नर खान बहादुर जाकिरअली के प्रयत्न से आठ साल से कम आयु के गौधन का वध रोका गया।

पं० मदनमोहनजी मालवीय का उस समय के सार्वजनिक जीवन में बड़ा ऊँचा स्थान था। मालवीयजी को भारतीय संस्कृति और धर्म से जो प्रेम था, वह सर्वविदित है। गौरक्षा के भारतव्यापी आन्दोलन को मालवीयजी ने अपनाया। उसी बीच दक्षिण अफ्रिका से गान्धीजी लौटे और उन्होंने भी इस आन्दोलन का समर्थन किया। उन्होंने यहाँ तक कहा कि "मेरे विचार से गौ-वध और मनुष्य-वध एक ही वस्तु है।" संत विनोबा भावे का इस काल में इस आन्दोलन को बड़ा भारी समर्थन प्राप्त है।

इस प्रकार कुछ मनचलों का यह कहना कि गौरक्षा आन्दोलन एक सम्प्रदाय-वादी आन्दोलन है, और यह केवल हिन्दुओं द्वारा किया गया है तथा किया जा रहा है, सर्वथा भ्रमपूर्ण है। इस आन्दोलन में सभी वर्गों के लोग सम्मिलित रहे हैं और इसका समर्थन भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने किया है।

विदेशी सरकार में भारत के सभी वर्गों की गौरक्षा की इस माँग को सर्वथा ठुकराने की हिम्मत न थी। उसने कूटनीति का आश्रय लिया। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के लोगों में फूट डालकर ही विदेशी सरकार अपनी सत्ता कायम रख सकती थी। इस सरकार का "डिवाइड एण्ड रूल" आदर्श वाक्य था ही अतः सरकार ने ऐसी नीति अपनायी कि हिन्दू और मुसलमानों में गाय की कुरबानी और मस्जिद के सम्मुख बाजे के प्रश्न को लेकर आये दिन झगड़े-

फसाद होने लगे।

मेरा गौरक्षा के विषय से अनुराग तो था ही, सन् १९२० में जब मैं सार्वजनिक जीवन में आया उस समय हमारे प्रान्त के सागर जिले में रतौना नामक स्थान पर एक बड़ा कसाईखाना बनवाने का सरकार विचार कर रही थी। यह कसाईखाना निर्मित न हो इसके लिए देशव्यापी आन्दोलन हुआ। मैंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया ही था और सरकार के विरुद्ध असहयोग के कार्यक्रम की चर्चा भी चल रही थी, ऐसे समय मेरे प्रान्त में ही रतौना के कसाईखाने के विरोध का एक ऐसा कार्यक्रम मुझे मिल गया जिसमें मेरी स्वाभाविक रुचि थी अतः मैंने भी इस आन्दोलन में भाग लिया। समूचे देश में इस कसाईखाने के विरोध में ऐसा वायुमण्डल तैयार हुआ कि यह कसाईखाना बनते-बनते रुक गया। उसके बाद ही असहयोग आन्दोलन के समय खिलाफत के प्रश्न को जो कांग्रेस के कार्यक्रम में सम्मिलित किया गया, उसके कारण हिन्दू-मुस्लिम एकता हुई। गौरक्षा फिर से एक राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में आया। परन्तु ज्यों ही खिलाफत का प्रश्न लचर पड़ा और हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध बिगड़े त्यों ही सरकार ने फिर से इस विषय को हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों का एक प्रधान विषय बना लिया। देश में इस प्रश्न पर अनेक हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए और जबलपुर भी उससे अछूता न रह पाया।

सन् १९२६-२७ में रायल एग्रीकल्चरल कमीशन के अध्यक्ष लार्ड लिनलिथगो ने देश के प्रतिदिन क्षीण होने वाले पशुधन पर आशंका प्रकट करते हुए उसकी उन्नति के लिए अनेक सुझाव दिये, क्योंकि बिना पशुधन की उन्नति के इस देश की खेती की उन्नति एक असम्भव कल्पना है। राजनैतिक दृष्टि से अपना उल्लू सीधा करनेवाली जो सरकार गाय के प्रश्न पर सदा हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाती रहती थी उसी सरकार के प्रतिनिधि लार्ड लिनलिथगो के लिए यह असम्भव था कि वे एग्रीकल्चरल कमीशन के अध्यक्ष की हैसियत से पशुधन के सम्बन्ध में यह सुझाव न देते। हाँ, वही लार्ड लिनलिथगो जब सन् १९४०-४५ ई० में भारतवर्ष के वाइसराय होकर आये तब इस विषय में [illegible] करने के सिवा उन्होंने कुछ भी न किया यद्यपि उस समय वे [illegible] करने की क्षमता रखते थे।

मेरा गौरक्षा विषय से सन् १९२० ई० में सार्वजनिक जीवन में आते ही रतौना के कसाईखाने के विरोधी आन्दोलन में जो सम्बन्ध हो गया था, वह और बढ़ चला। जब मैं पुरानी कौंसिल ऑफ स्टेट्स का सदस्य था, उस समय सन् १९२७-२८ में मैंने यह प्रश्न पूछा कि सेना के विभाग में कितना गौमांस ब्रिटिश सिपाहियों के उपयोग में आता है और यह सुझाव दिया कि गौमांस के स्थान में भेड़-बकरी आदि का मांस काम में लाया जावे। इसी के साथ मैंने एक प्रश्न और पूछकर इस विषय के आँकड़े माँगे कि गत दस वर्षों में कितने गौमांस का भारत के बाहर निर्यात हुआ है। इन प्रश्नों के बाद मैंने सन् १९२९ ई० में कौंसिल ऑफ स्टेट में ही विधेयक पेश किया कि देश से बाहर जाने वाले गौधन पर रोक लगायी जावे। उस समय उस कौंसिल का जैसा संगठन था, उसमें मेरा वह विधेयक स्वीकृत न हो सकता था तथापि मेरे उस विधेयक का हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी वर्ग के लोगों ने बिना किसी भेद-भाव के समर्थन किया। सन् १९२९ ई० में लाहौर में कांग्रेस अधिवेशन के समय अखिल भारतीय गौ-सम्मेलन हुआ, उसका मैं सभापति चुना गया और इस पद से जो भाषण मैंने दिया, उसकी उस समय देश में काफी चर्चा हुई।

इसके बाद स्वराज्य आन्दोलन में लगे रहने के कारण मुझे बारंबार सरकार के कारागार में अतिथि होना पड़ा; पर क्या जेल के भीतर, क्या जेल के बाहर, गौरक्षा की भावना मुझ में सदा बनी रहती। सरकार की हठधर्मी देखकर तो मेरी यह दृढ भावना हो गयी थी कि जब तक स्वराज्य न होगा गौरक्षा न होगी, पर तब मुझे यह पता न था कि स्वराज्य हो जाने पर भी गौरक्षा के लिए मुझे तड़पना पड़ेगा, झगड़ना पड़ेगा और देश के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने पर भी साम्प्रदायिक होने का आक्षेप सहना पड़ेगा।

द्वितीय महासमर ने ब्रिटिश साम्राज्य को झकझोर डाला। जिसमें कहा जाता था कि यहाँ कभी सूर्य अस्त नहीं होता पर अब तो सबके देखते-देखते वह अस्ताचल को जा रहा था; ऐसा डूबा जा रहा था कि मानो कभी उगेगा ही नहीं। भारत की प्रधान एक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल में नेहरूजी आगये थे और शीघ्र ही यह भी घोषणा हो गयी कि १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार हो जायगी।

देश की सोयी हुई भावनाएँ उमड़ पड़ीं। स्थान-स्थान से माँग की जाने लगी कि स्वराज्य की घोषणा के साथ-साथ ही पुण्य भूमि भारत में गौवध अब न होगा यह पुण्य घोषणा भी हो जाय। स्वराज्य की स्मृति को पुण्य पर्व का रूप देने के लिए इससे उत्तम अन्य घोषणा हो भी क्या सकती थी ?

पर नेहरू सरकार ने इतना ही आश्वासन दिया कि वे एक समिति नियत करेंगे और समिति का आवेदन आने पर गौरक्षा के अनुकूल कार्यवाही की जायगी।

सरकार ने गौरक्षा के सम्बन्ध में छान-बीन करने के लिए एक समिति नियत की जिसमें मुझे भी रखा। इसी बीच सर्वसाधारण से अनुरोध किया गया कि वे अधिकाधिक संख्या में गौवध न हो ऐसा नियम बनाने के सम्बन्ध में शासक वर्ग से प्रार्थना करे। देश भर के कोने-कोने से पत्र आने लगे। लाखों पत्रों का ढेर लग गया।

९-११-४८ को उपर्युक्त कैटिल प्रिज़र्वेशन एण्ड डेवलैपमेंट कमेटी ने अनुरोध किया कि दो साल में गौवध सर्वथा बन्द हो, गौसदनों की स्थापना हो और आगामी दो वर्षों में भी १४ वर्ष से कम आयु के गाय-बैल न मारे जावें।

संविधान सभा में भी गौवध सर्वथा बन्द हो ऐसी धारा जुड़वाने का प्रयत्न किया गया। इस प्रयत्न में धारा सभा के श्री माननीय टण्डनजी, श्री ठाकुरदास भार्गव, एवं अन्य अनेक महानुभावों ने अपनी सद्भावना एवं सहयोग से गौरक्षा की माँग में बल दिया।

संविधान सभा में गौरक्षा के प्रश्न को लेकर आपस में बहुत वाद-विवाद हो गया। बहुत से सदस्य गौरक्षा के प्रश्न को केवल आर्थिक एवं तात्कालिक हानि-लाभ की दृष्टि से देखते थे और उन्हें गौरक्षा के आग्रह में रूढ़ि परम्परा के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखलायी देता था, किन्तु हम लोगों के लिए गौरक्षा का प्रश्न अत्यधिक महत्त्व का था। आर्थिक विचार से भी, व्यापकता एवं दूरदर्शिता की दृष्टि से भी विचार करने पर गौरक्षा में हमें लाभ ही लाभ दिखाई देता था। पर आर्थिक दृष्टि ही तो सब कुछ नहीं। संस्कृति का हृदय से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। गौरक्षा हमारी संस्कृति रक्षा का परमोज्ज्वल प्रतीक है। हमने कहा कि अपनी संस्कृति को तिलांजलि देकर स्वराज्य शासन स्वराज्य

नहीं, पर राज्य का ही एक अभिनव रूप होगा।

एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि पार्टी की आज्ञा के अनुसार सम्भवतः हम लोगों को गौरक्षा की उस धारा के विपक्ष में मतदान देना पड़े, परन्तु हम लोगों में ऐसे लोग भी कम न थे जो गौरक्षा के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने के लिए तैयार थे। गौरक्षा का जहाँ प्रश्न हो वहाँ अपनी अन्तरात्मा की पुकार ही मेरा कर्त्तव्य-पथ निश्चित करेगी यह मैंने अपने पक्ष के लोगों से सुस्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया था। जहाँ गौरक्षा एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रश्न होगा वहाँ लोग पक्ष के अनुशासन को न मानेंगे, यह अधिकारियों को सुविदित हो गया।

विधान का कार्य समाप्त होने जा रहा था। गौरक्षा के प्रश्न को विवादास्पद माना जाकर टाला जा रहा था ऐसी आशंका हमें होने लगी। हम लोग श्री राजेन्द्र बाबू के पास पहुँचे और उनसे कहा कि गौरक्षा सारी जनता की माँग है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी जाति के लोगों ने गौवध न हो इसकी समय-समय पर माँग की है। अब भी असंख्य पत्र गौरक्षा हो इस आशय से अर्पण हुए हैं ऐसी दशा में जनता जनार्दन के माँग की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। हमारे विधान में गौवध न हो, गौरक्षा हो, ऐसा स्पष्ट आदेश होना चाहिए। उन्होंने हमें आश्वासन दिया कि उनसे जो कुछ भी हो सकेगा, गौरक्षा के लिए करेंगे।

श्री राजेन्द्र बाबू सचमुच बड़े गो-भक्त हैं। वे गाय का ही दूध और घी उपयोग में लाते हैं और गौरक्षा के प्रबल समर्थक हैं। उनके एवं अन्य महानुभावों के सहयोग से धारा ४८ विधान में जोड़ दी गयी जिसके अनुसार गौरक्षा को स्वीकार किया गया।

गौरक्षा के समर्थकों को पूरा सन्तोष तो न हुआ पर यह आशा अवश्य हुई कि सच्चे हृदय से यदि विभिन्न राज्यों ने उपर्युक्त आदेश का अनुपालन किया तो देश को महान् लाभ होगा।

ता० २३-१-४६ को अखिल भारतीय गौरक्षा परिषद् का अधिवेशन बम्बई में हुआ जिसका सभापति मुझे चुना गया। यहीं अखिल भारतीय गौ-सेवक समाज की स्थापना की गयी और यह लक्ष्य रक्खा गया कि समस्त

गौरक्षा एवं संवर्द्धन में लगे हुए सज्जनों का सहयोग लेकर देश भर में गौरक्षा एवं संवर्द्धन का सुसंगठित महान् प्रयत्न किया जावे। तब से अब तक उक्त संस्था के सभापति रूप से देश भर के लोगों ने जो मुझे सहयोग दिया उसका मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

मार्च सन् १९४९ को यह निश्चय हुआ कि गौरक्षा के लिए प्रबल जनमत तैयार किया जाय। यह सच है कि यदि भारत के प्रत्येक निवासी से सम्मति ली जावे तो वे यही कहेंगे गाय का वध न हो किन्तु स्वराज्य जनराज्य है। सर्वसाधारण की सम्मति को लोक-प्रतिनिधियों के माध्यम से सरकार तक पहुँचाना स्थिर किया गया। कार्यकारिणी के सदस्यों ने अनुरोध किया कि जन-सम्पर्क स्थापित करने के लिए सर्वप्रथम मैं ही श्रीगणेश करूँ।

बम्बई, महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, आसाम, उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश में मैंने पहले परिभ्रमण किया। पंजाब में मुसलमानों के पाकिस्तान चले जाने के कारण एक प्रकार से गौहत्या समाप्त-सी हो चुकी थी। अधिकांश देशी राज्यों में गौवध का सर्वथा निषेध था। उत्तर भारत में यात्रा समाप्त करने पर मैं दक्षिण में मद्रास तथा कन्याकुमारी तक गया। जहाँ-जहाँ भी मैं गया हिन्दी और गौरक्षा के सम्बन्ध में बड़े-बड़े आयोजन हुए।

इसके सिवा जहाँ कहीं मैं जाता व्याख्यान आदि के अतिरिक्त जनता के प्रतिनिधियों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करता, विशेष रूप से ऐसे प्रतिनिधियों से जिनके समाज में गौमांस का व्यवहार होता था। इसका कारण यह था कि गौरक्षा के प्रश्न को हम शुद्ध धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक रूप नहीं देना चाहते थे। बिना किसी जाति या सम्प्रदाय के प्रत्येक वर्ग की समुन्नति उत्तम गौरस की सुलभता पर निर्भर रही है। सस्ते विशुद्ध दूध, दही, घी आदि से एवं सस्ते पर्याप्त अन्न से कोई भी राष्ट्र स्वस्थ, बलिष्ठ एवं सच्चे अर्थों में समृद्ध हो सकता है। सस्ते अन्न के लिए हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ गौ-पुत्रों की आवश्यकता है जो बिना गौरक्षा किये सम्भव नहीं और प्रज्ञा, मेधा और धारणा की वृद्धि के लिए गाय के पय समान तिहुँ लोक में औषध और न कोय। गायों के बढ़ते हुए विनाश से कई प्रान्तों के निवासियों को तो एक छटाँक प्रतिदिन के अनुपात से भी दूध नहीं मिलता। और यही कारण है कि

शिशु मृत्यु संख्या यहाँ इतनी अधिक है कि स्मरण मात्र से रोमांच होता है। क्षय आदि अनेक प्रकार के रोगों से जितनी अकाल मृत्यु यहाँ होती है उसका बहुत बड़ा भाग राष्ट्र के स्वास्थ्य एवं बल में वृद्धि करके रोका जा सकता है।

गोरक्षा से होने वाले इस सर्वतोमुखी लाभों में प्रत्येक जाति और वर्ग का समान रूप से भाग है; रहेगा और रहना चाहिए। यही मैं प्रत्येक व्यक्ति को हृदयंगम कराना चाहता था और यही जहाँ तक मुझ से हो सका है मैंने किया है। अपने इस दृष्टिकोण को सामने रखकर मैं हिन्दू, मुसलमान ईसाई और पारसी—सभी सम्प्रदाय, जाति और वर्ग के लोगों से मिला और लोगों से पत्रों द्वारा अपने भावों का आदान-प्रदान किया। व्यक्तिगत सौमनस्य, सद्भावना एवं स्नेहपूर्वक अनुरोध एवं आत्मीयता के भाव अपने पत्रों में प्रकट कर मैंने इनके प्रतिफल रूप जो उत्तर पाया है उसे मैं अपनी अमूल्य निधि समझता हूँ। केन्द्र के सदस्यों से मैं प्रायः मिलता रहता था और गोरक्षा के लिए मुझे उनकी सद्भावना और प्रोत्साहन बराबर मिलता ही रहता था। भारत के विभिन्न प्रान्तों में उस समय लगभग १,२०० धारा सभाओं के सदस्य थे। इनमें से मैंने प्रत्येक व्यक्ति को बारम्बार व्यक्तिगत पत्र भेजे और गौरक्षा के लिए सहयोग देने के लिए अनुरोध किया। मुझे हर्ष है कि इनमें से ४०० से अधिक सज्जनों ने अपनी सम्मति दी कि गौवध सर्वथा बन्द होना चाहिए और गौ-वंश की वृद्धि के लिए अन्य प्रयत्न किये जाने चाहिएँ। शेष सज्जनों ने आलस्यवश उत्तर न दिया। इन उत्तरों में हिन्दू तो हैं ही; मुसलमान ईसाई आदि जाति के सदस्यों ने भी अपनी सम्मति यही दी है कि गौवध नहीं होना चाहिए। धारा सभाओं के सदस्यों की यह सम्मति एक पुस्तक के आकार में प्रकाशित भी हुई है। राष्ट्र के प्रतिनिधियों की गौ-रक्षा के विषय में संगठित रूप में प्रकाशित इस सम्मति का सर्वथा समादर होना चाहिए। देश के १,२०० सदस्यों में से ४०० की बहुमूल्य सम्मति मुझे प्राप्त हो ही चुकी थी। मध्य प्रान्त में तो गौवध नहीं हो ऐसा कानून भी बन गया जो वहाँ की सरकार ने प्रस्तुत किया था। यदि गौरक्षा के लिए मान्य सदस्यों का एक-एक शिष्टमण्डल प्रान्तीय धारा सभा के प्रत्येक सदस्य से

मिलकर व्यक्तिगत रूप से गौरक्षा के लिए अनुनय-विनय एवं अनुरोध करता कि गौवध न हो तो ऐसा नियम कई प्रान्तों में पास हो जाता। पंजाब, बिहार उत्तर प्रदेश एवं अन्य प्रान्तों के बहुत से मन्त्रिमण्डल के सदस्यों ने गौरक्षा के अनुकूल ही मुझ से अपने भाव प्रकट किये थे। इसी के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश, बिहार और पंजाब में भी गौवध बन्दी के कानून बने।

गौरक्षा लोग हृदय से चाहते थे पर हम में इतना आत्म-बल नहीं था कि हम केन्द्र की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कर सकें।

यही बात वनस्पति तेल के विरोध के विषय में भी हुई। लोगों ने हस्ताक्षर कर लाखों की संख्या में पत्र भी दिये कि वनस्पति तेल न बनाया जावे और यदि बनाना सर्वथा न रोका जा सके तो कम से कम जमे हुए उस तेल में रंग डाला जावे। इस सम्बन्ध में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी स्पष्ट सम्मति दी कि वनस्पति तेल का उत्पादन रोका जावे, किन्तु लोकमत की उपेक्षा की गयी। सरकार वनस्पति तेल का उत्पादन अभी तक नहीं रोक रही है और न उसमें रंग मिलाने का नियम बना रही है। अब तो दशा यहाँ तक पहुँची है कि राजस्थान में जहाँ उसके आयात पर प्रतिबन्ध था, प्रतिबन्ध हटा दिया जाय यह सरकार की ओर से घोषित किया गया है। सरकार की इस नीति से गौवंश को असीम हानि हो रही है। तात्कालिक लाभ का लोभ यदि संवरण किया जा सके तो नैसर्गिक गौ-घृत और परिपुष्ट गौ-पुत्रों के संवर्द्धन से राष्ट्र को १०-२० वर्षों में ही महान् एवं स्थायी लाभ होगा इसमें अणु मात्र भी सन्देह नहीं है।

अप्रैल सन् १९५० में हरिद्वार का कुम्भ पड़ा था जिसमें १५-२० लाख व्यक्ति देश के कोने-कोने से एकत्रित होनेवाले थे। गौरक्षा के प्रचार के लिए इससे उत्तम अवसर मिलना दुर्लभ था। अतएव कुम्भ के एक मास पूर्व ही गौरक्षा के कार्यकर्त्ताओं का एक दल हरिद्वार पहुँच गया। लाला हरदेव सहायजी ने भिवानी से गोरक्षा के प्रेमी स्वयंसेवक भेजे और गौसेवक समाज के मन्त्री श्री मानकरजी ने बम्बई से अनेक कार्यकर्त्ता भेजे। बाबा काली कमलीजी के अधिकारियों ने अपने विशाल प्रदेश में गौसेवा नगर की रचना की। गौरक्षा प्रेमियों के लिए आने वाले महानुभावों के सपरिवार रहने की व्यवस्था की गयी।

इसके अतिरिक्त अनेक धर्मशालाओं, विद्यालयों एवं अन्य स्थानों में आवास, भोजन आदि की सुचारु व्यवस्था गौसेवक समाज की ओर से हुई।

देश के सहस्रों गौरक्षा-प्रेमियों को इस पुण्य पर्व पर सम्मिलित होने का आमंत्रण दिया गया और लाखों जनों ने गौरक्षा सम्मेलन में भाग लेकर अपनी सद्भावना प्रकट की।

हरिद्वार के इस कुम्भ के अवसर पर भारतीय गौसेवक समाज ने जो बृहत् गौरक्षा सम्मेलन किया उसका अध्यक्ष मुझे ही निर्वाचित किया। उस समय जो भाषण दिया गया उसमें मैंने गौवध से होने वाले महान् अत्याचार का तीव्र विरोध किया, देश की श्री-समृद्धि, अन्न-वृद्धि, स्वास्थ्य-वृद्धि गौरक्षा पर कितनी निर्भर है यह निवेदन किया। गौसदनों की स्थापना से जो दूध आदि नहीं दे सकते ऐसे गौधन से प्राप्त खाद आदि से किस प्रकार गौरक्षा पर होने वाले व्यय का कितना अधिक भाग पुनः प्राप्त हो सकता है यह योजना प्रस्तुत की, बड़े नगरों में बढ़ते हुए वध को रोकने के लिए जब दूध बन्द हो जाय तो गौचर बहुल प्रदेशों में रेल द्वारा वे सस्ते से सस्ते किराये पर लौटाये जा सकें यह माँग उपस्थित की, और गौ-समिति के राष्ट्रीयकरण की योजना अर्पण की जिसका प्रारम्भ सरकारी सैनिक विभाग, रेलवे विभाग, विद्यालय के छात्रावास विभाग, सरकारी कर्मचारियों को गोदुग्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति विभाग नगर निवासियों को शुद्ध दूध आदि देकर आरम्भ किया जा सकता है।

मुझे सन्तोष है कि बम्बई एवं दिल्ली की केन्द्रीय सरकार द्वारा ऐसी योजनाओं का आरम्भ हुआ जो नागरिकों को शुद्ध दुग्ध सस्ते से सस्ते मूल्य पर देने का प्रयत्न कर रही हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि अधिकांश गौ-सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण हो जाय तो देश को आशातीत लाभ होगा ; अन्त में हानि नहीं ही होगी यह मैं निश्चय रूप से कह सकता हूँ।

प्रारम्भिक वर्षों में अवश्य कुछ संरक्षण की आवश्यकता है, पर चीनी, चाय, रेलवे, टेक्सटाइल, स्टील कौनसा ऐसा उद्योग है जिसकी समृद्धि बिना संरक्षण के प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त हानि सहते हुए भी नमक कर हम नहीं लगाना चाहते। अरबों रुपयों की हानि सह कर भी मद्य-प्रचार को रोकना चाहते हैं। मैं इसी कोटि में गौरक्षा के प्रश्न को भी लेता हूँ। स्वास्थ्य एवं

समृद्धि के अतिरिक्त गौ हमारी परम्परा और संस्कृति की परम पावन प्रतीक है जिसकी हमें सर्वथा रक्षा करनी चाहिए ।

इसके बाद नासिक में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसके अध्यक्ष श्रद्धेय टण्डनजी थे । नासिक में एक बृहद् गौ-सम्मेलन मेरी अध्यक्षता में हुआ, जिसका उद्घाटन श्रद्धेय टण्डनजी ने किया । श्री टण्डनजी ने बहुत ही ओज-पूर्ण शब्दों में गौरक्षा हो यह उद्गार प्रकट किये ।

कांग्रेस देश की सबसे बड़ी संस्था है । इसमें जिन्होंने अपना सर्वस्व बलि-दान कर दिया वे प्रायः साम्प्रदायिकता से दूर रहे हैं । आधुनिक समय से ऐसे ही लोगों ने मिल-जुल कर देश भर में गौरक्षा के लिए एक ऐसा वातावरण बनाया जिसमें स्वास्थ्य, अन्न-वृद्धि, पोषक तत्त्वों की सुलभ प्राप्ति एवं भारतीय संस्कृति की रक्षा के चारों ओर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी समान रूप से एकत्रित हुए किन्तु केन्द्रीय सरकार से जितनी सहानुभूति की आशा थी वह पूरी न हुई ।

फल यह हुआ कि सन् १९५२ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने अपने ढंग से गौरक्षा के प्रश्न को अपनाया । स्थान-स्थान से गौवध बन्द हो इस सम्मति पर हस्ताक्षर लिये जाने लगे । एक करोड़ से अधिक लोगों ने गौवध बन्द हो इस पर हस्ताक्षर किये ।

इसी बीच पटना में एक गौरक्षा सम्मेलन हुआ जिसमें खाद्य एवं कृषि मन्त्री श्री किदवाई साहब ने गौरक्षा के विषय में विचार प्रकट करते हुए कहा कि "गौरक्षा का प्रश्न उस सीमा पर पहुँच चुका है जब उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।"

आशा हुई कि सरकार की ओर से कोई ऐसी घोषणा होगी या नियम बनेगा कि अब आगे गौवध न होगा, परन्तु आशा पूरी न हुई ।

स्वराज्य के बाद लोकसभा में गौवध बन्द करने के लिए मैंने समय-समय पर विधेयक भी उपस्थित किया है । पहले-पहल यह विधेयक ३ दिसम्बर सन् १९४७ को पेश हुआ, पर इस पर बहस हुई १६ दिसम्बर सन् १९४९ को । इसके बाद ही वह संसद् भंग हो गयी और नये चुनाव हुए । इन चुनावों के बाद वही विधेयक फिर १६ जुलाई १९५२ को उपस्थित किया गया । इस पर फिर बहस हुई सन १९५३ की २७ नवम्बर और ११ दिसम्बर को । इस

बार इस विधेयक पर मेरा भाषण कोई दो घण्टे चला और इस भाषण को गौरक्षा विषय पर इस विषय के विशेषज्ञों ने विश्व-कोष की उपमा दी। सारे देश में इस भाषण की बड़ी चर्चा हुई, और इस विधेयक का देशव्यापी समर्थन भी हुआ।

हम कांग्रेस के अनुयायी अपनी ही सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह आदि अवैध उपायों का अवलम्बन नहीं कर सकते। जनमत गौहत्या के सर्वथा विरुद्ध है। गौरक्षा के लिए यदि आवश्यक हो तो लोग विशेष कर भी देना स्वीकार कर लेंगे। देश की सरकार को एक न एक दिन गौवध बन्द करना ही होगा। अब प्रश्न यही है कि क्या सरकार उन लोगों के आन्दोलन से दब कर गौरक्षा में प्रवृत्त होगी जो सम्प्रदाय के एकमात्र आधार पर गौरक्षा चाहते हैं अथवा उन लोगों का अनुमोदन करेगी जो गौरक्षा के लिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी का सहयोग और सद्भावना लेकर सरकार से गौहत्या सर्वथा बन्द करने के लिए प्रार्थना करते आ रहे हैं।

मैंने अनेक बार कहा है और मैं फिर कहता हूँ कि जब तक भी इस पुण्यमयी भारत भूमि पर गाय के खून की एक बूँद भी गिरती है तब तक इस देश के निवासियों को कदापि सन्तोष नहीं हो सकता। चाहे इस देश की सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक किसी भी दृष्टि से इस प्रश्न को देखा जाय, सम्पूर्ण रीति से गौवध बन्द होना अनिवार्य है। जो सरकार प्रजातन्त्र का दावा करती है उसे प्रजा की भावनाओं के अनुसार आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों चलना ही होगा।

भगवान हमारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे ही।

इस अध्याय को पूर्ण करने के पहले मेरा यह कर्त्तव्य है कि उन सज्जनों को हृदय से धन्यवाद दूँ जिन्होंने मुझे इस पुण्य कार्य में महान् सहायता दी है। इन सज्जनों में प्रमुख हैं—श्री जयन्तीलालजी मानकर, श्री रामप्रसादजी खण्डेलवाल, श्री धर्मलालसिंहजी, श्री हरदेवसहायजी, श्री ठाकुरदासजी भार्गव, श्री नवाबेजी, श्री लोचनदासजी, श्री गजाधरजी सोमानी, श्री अमृतलालजी शाह, श्री आनन्दराजजी सुराणा, श्री सेठ अचलसिंहजी, श्री किशनलालजी पोद्दार, श्री विशम्भर प्रसादजी शर्मा, रायसाहब गोपीकृष्णजी अग्रवाल,

भूदान में मेरा कार्य

मैं सन् १६२० में सार्वजनिक जीवन की ओर जिन वृत्तियों के कारण खिचा था उनका उल्लेख पहले हो चुका है। देश की स्वाधीनता प्राप्त कराने में मेरा भी छोटा सा सहयोग हो तथा लोकेषणा वृत्ति के अतिरिक्त जन-सेवा की भावना भी मुझे सार्वजनिक जीवन में लाने का एक प्रधान कारण थी। मेरा निर्माण जिस वायुमण्डल में हुआ था और होश सँभालते ही धर्म एवं साहित्य ने जैसा मुझे बनाया था उन संस्कारों के कारण यह सेवा-वृत्ति मेरी स्वाभाविक वृत्ति थी। इसीलिए गान्धीजी के विधायक कार्यक्रमों में मुझे सदा अनुराग रहा था और मैं समय-समय पर उनमें योग भी देता रहता था। महाकोशल में यदि वे विधायक कार्य न पनप पाये तो इसमें मेरा दोष बहुत कम है। यह दोष है यथार्थ में महाकोशल के अन्य कार्यकर्त्ताओं का। विधायक कार्यक्रमों में मेरा साथ देने वाला महाकोशल में एक भी तो ऐसा कार्यकर्त्ता न मिला जिसका सार्वजनिक जीवन में कोई व्यापक स्थान हो। महाकोशल में राजनीति और चुनावों की ही प्रधानता रही है। मेरी इस सेवा-वृत्ति में लोकेषणा का जो ग्रहण लगा हुआ था उससे भी पिताजी की मृत्यु के पश्चात् मेरी मुक्ति-सी हो गयी थी। स्वराज्य के बाद की दलगत राजनीति से मैं ऊबता भी जाता था अतः भूदान ने मुझे अत्यधिक आकृष्ट किया।

तिलंगाने में साम्यवादियों के उपद्रव के कारण विनोबाजी के वहाँ जाने पर श्री रामचन्द्र रेड्डी के सौ एकड़ भूमि दान और विनोबाजी के भूदान आन्दोलन के आरम्भ करने के समाचार मैंने बड़े चाव से पढ़े थे और तभी से मैंने अपने मन में निश्चय किया था सन् २० के अहिंसात्मक स्वतन्त्रता-युद्ध में सहयोग देने के सदृश ही इस आर्थिक समानता को लाने वाली अहिंसक क्रान्ति में भी मैं योग दूँगा। साथ ही जिस प्रकार मुझे यह विश्वास था कि स्वराज्य प्राप्त होकर रहेगा उसी प्रकार इस क्रान्ति की सफलता में भी मेरा विश्वास था।

जब सन् ५१ के अक्टूबर में जवाहरलालजी से मिलने के लिए विनोबाजी पैदल दिल्ली जाते हुए महाकोशल के सागर नगर में ठहरे तब मैं जबलपुर से सागर गया और महाकोशल प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से मैंने उन्हें एक पत्र लिख कर दिया कि महाकोशल में उन्हें एक लाख एकड़ भूमि मिलनी चाहिए। बाद में तो उन्हें एक-एक व्यक्ति ने लाखों एकड़ भूमि दी, पर उस समय उन्हें केवल बीस हजार एकड़ भूमि मिली थी अतः मेरा वह पत्र अपना एक विशिष्ट स्थान रखता था।

मैं भूदान का कार्य महाकोशल में जल्दी आरम्भ करना चाहता था, पर उन्हीं दिनों लोकसभा के अध्यक्ष श्री मावलंकर ने मुझे कैनेडा में होने वाली कामनवैल्थ पार्लियामेन्टरी परिषद् के प्रतिनिधिमण्डल में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित किया। अफ्रिका, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, फीजी और मलाया मैं पहले हो आया था। इस निमन्त्रण पर मैंने विश्व भ्रमण का निश्चय किया। मेरी इस पृथ्वी-परिक्रमा पर एक अध्याय ही इस पुस्तक में लिखा गया है। अतः भूदान का मेरा संकल्पित कार्य कुछ समय के लिए मुल्तवी हो गया। जब मैं पृथ्वी-परिक्रमा से लौटा उस समय संसद् का अधिवेशन शुरू होने वाला था। इस कारण यह कार्य और आगे मुल्तवी हुआ।

भूदान का कार्य मैं महाकोशल में सन् ५३ के १ जून से आरम्भ कर सका। इस कार्य के लिए किसी अन्य से जमीन माँगने के पूर्व मैंने अपने पुत्रों से उनकी जमीन का छठवाँ हिस्सा इस काम के लिए दिलाया और इसके बाद मैंने भूदान के सिलसिले में प्रान्त के कई दौरे किये।

अब तक के मेरे इन दौरों में गान्धी जयन्ती २ अक्टूबर सन् ५३ को ३३ दिन का जो दौरा आरम्भ हुआ वह सबसे महत्त्वपूर्ण रहा। यह दौरा कुँआर की धूप में जबलपुर जिले में हुआ और पैदल। यह पैदल चलाई एक दिन में बीस-बीस मील तक हुई। मुझे स्वयं कुछ आश्चर्य ही हुआ कि इस उम्र में भी ऐसे मौसम में लगातार ३३ दिन इस प्रकार मैं चल सका। सारे जबलपुर जिले में इस दौरे ने उत्साह की एक बिजली-सी दौड़ा दी। इस दौरे में ग्यारह हजार एकड़ कुछ से अधिक भूमि प्राप्त हुई। यह दौरा तो समूचे भारत देश में [illegible] सर्वश्रेष्ठ दौरों में एक दौरा माना जाता है। मेरे इस

दौरे में मध्य प्रदेश भूदान यज्ञ-समिति के संयोजक श्री दादाभाई नाइक, जबलपुर जिले की भूदान यज्ञ-समिति के संयोजक श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह, प्रजा-समाजवादी दल के एक प्रधान कार्यकर्त्ता श्री गणेशप्रसाद नायक आदि अनेक महानुभाव रहे। इनके सिवा मैं जिले की जिन तहसीलों में जाता उन तहसीलों के कांग्रेस तथा प्रजा-समाजवादी दल के कार्यकर्त्ता सहयोग देते। जिन गाँवों में सभाएँ होतीं, एक-एक सभा में ३०-३०,४०-४० गाँवों के लोग जमा होते। कहीं अधिक और कहीं कम जमीन मिलती। पर ऐसा कहीं नहीं हुआ कि जमीन बिलकुल न मिले। कटनी तहसील के रोहनियाँ नामक गाँव से तो एक दिन में ७०० एकड़ भूमि मिली। उस दिन पानी बरसा। ऊपर से पानी बरसता और नीचे दानदाता जमीन की वर्षा-सी करते। सभी गाँवों में ग्रामीण जनता घण्टों पहले से स्वागत के लिए एकत्र रहती। गेंदे का मौसम होने के कारण गेंदे के केशरी और पीले फूलों के हारों को महात्मा गान्धी और संत विनोबा के जय-जयकार के नारों के बीच पहनाकर ग्रामीण स्वागत करते। कई स्थानों पर बाजे भी बजते, स्त्रियाँ सिरों पर प्रज्वलित दीपों के साथ मंगल कलश रखे मंगल गीत गातीं। पुष्प वर्षा होती। कहीं-कहीं स्वागत में बन्दूकें चलायी जातीं। बिदा होते समय गाँव के लोग गाँव के बाहर तक बिदाई देने आते और बार-बार कहने पर कठिनाई से वापस जाते। इस दौरे की कुछ बातों को मैं आजीवन न भूल सकूँगा। ये हैं—एक दिन धूप बड़ी तेज थी और सिहोरा तहसील में जब हम लोग लगभग मध्याह्न में रास्ते के एक गाँव से निकल रहे थे तब उस गाँव की कुछ स्त्रियाँ गाँव से निकलीं और उनमें एक अत्यन्त वृद्ध महिला आगे बढ़कर मेरी ठोड़ी पकड़ बुँदेली भाषा में बोली—"भइया, जो का आय करत हो? हमने जबलपुर में तुम्हारे महलन को देखो है। महलन के रहब बारे ई कुँआर के घाम में पैदर घूम रहे हो। ई घाम में तो मिरगा भी कारे हो जात हैं।" इस वृद्धा का स्नेह देख मेरी आँखें सजल हो गयीं और उसे बहुत कुछ सान्त्वना देने के बाद ही मैं आगे बढ़ सका। एक दिन कटनी तहसील में जब हम लोग तीसरे पहर एक गाँव से जा रहे थे तो स्कूल के कुछ विद्यार्थी हमारे साथ हो गये। एक बड़ी उम्र का कुछ देहाती और शहराती ढंग के मिले से विद्यार्थी ने कुछ देर बाद कहा—"अभी तो आप हैं, आप जब

नहीं होंगे तब हमें याद आयेगा कि कभी आप कुँआर की धूप में भूदान के लिए इन रास्तों से पैदल गये थे।" कैसा शुद्ध, महान् और सरल था इन ग्रामीणों का यह अगाध प्रेम !

भूदान के इस कार्य के अतिरिक्त भूदान-यज्ञ पर 'भूदान-यज्ञ' नामक एक तीन अंक का नाटक भी मैंने लिखा। इस नाटक में सन्त विनोबा भावे, डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद, पं० जवाहरलाल नेहरू और श्री जयप्रकाशनारायण को मैं पात्रों के रूप में लाया हूँ। नाटक की कथा सन् ६० तक चली है। इसमें भूदान का भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों वर्णित हैं। सन् ४५ में जेल से छूटने के बाद गत आठ वर्षों में मैं यही एक नाटक लिख पाया। यह नाटक काफी लोक-प्रिय हुआ। सभी पत्र-पत्रिकाओं और आलोचकों ने इस पर कुछ न कुछ लिखा है। कुछ स्थानों में यह खेला भी गया, यद्यपि इसमें जीवित पात्रों के रहने के कारण इसका खेलना बहुत कठिन है। यह नाटक मध्य प्रदेश भूदान-यज्ञ समिति ने प्रकाशित किया है।

भूदान-यज्ञ के क्षेत्र में मेरा सारा कार्य लोकेषणा या किसी अन्य दूषित वृत्ति से एकदम रहित, सर्वथा स्वार्थ-विहीन, एक परम सात्विक सेवा की भावना से भरा हुआ रहा है। इस कार्य में मुझे वैसा ही महान् आनन्द मिला जैसा सन् २२ में जबलपुर के प्लेग रिलीफ कमेटी के मन्त्री पद पर से किये हुए कार्य में मिला था। हाँ, एक बात का खेद मुझे अवश्य रहा कि महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मेरे कार्य पर दो बधाई के प्रस्ताव पास करने के सिवा महाकोशल में किसी भी राजनैतिक दल के किसी भी कार्यकर्त्ता ने इस परम पवित्र कार्य के लिए कोई सच्ची लगन नहीं दिखायी।

जबलपुर जिले और महाकोशल प्रान्त में अपने समस्त दौरों में मैं लगभग पचास हजार एकड़ भूमि एकत्रित कर सका ; इस भूमि में सभी प्रकार की ज़मीन थी ; परन्तु अच्छी भी कम नहीं।

भूदान-यज्ञ का सारा आन्दोलन कुछ प्राचीन और कुछ अर्वाचीन सिद्धान्तों के मिश्रण की मौलिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। प्राचीन सिद्धान्त स्वार्थ-त्याग और अर्वाचीन सिद्धान्त आर्थिक असमता की समाप्ति इन दो प्रधान सिद्धान्तों का समावेश कर इस आन्दोलन की रचना हुई है। एक ओर यदि

यह आन्दोलन पुराने धार्मिक सिद्धान्तों के समीप है तो दूसरी ओर अर्वाचीन साम्यवादी सिद्धान्तों के निकट। साम्यवाद जिस आर्थिक समता को बलपूर्वक रक्तपात से लाना चाहता है, वह स्थिति प्राचीन सिद्धान्त स्वार्थ-त्याग से भी लायी जा सकती है। यदि यह कहा जाय कि शताब्दियों से स्वार्थ-त्याग की बातें चलते रहने पर भी समाज में आर्थिक समता नहीं आयी तो यह भी कहा जा सकता है कि फ्रांस और रूस की हिंसात्मक क्रान्तियाँ भी उस स्थिति को नहीं ला सकीं। इसीलिए भूमिदान हृदय-परिवर्तन और मूल्य-परिवर्तन की बात कहता है। यदि हम कुछ गहराई में जाकर संसार के दुखों के मूल कारण का पता लगाने का प्रयत्न करें तो हमें मानना ही होगा कि वह स्वार्थ की भावना ही है—व्यक्ति का स्वार्थ, जाति का स्वार्थ, राष्ट्र का स्वार्थ, देश का स्वार्थ। स्वार्थ की भावना का मूलोच्छेदन हृदय और मूल्यों के परिवर्तन बिना सम्भव नहीं और बिना इसके आर्थिक असमानता से रहित सुखी समाज रचना सम्भव नहीं, चाहे वह धार्मिक सिद्धान्तों द्वारा लाने का प्रयत्न किया जाय या रक्तपातमय क्रान्तियों के द्वारा। मैं मानता हूँ कि सामूहिक रूप से इस प्रकार का हृदय-परिवर्तन सरल नहीं है जिसके बिना मूल्यों में परिवर्तन सम्भव नहीं। इसी कारण अब तक के धार्मिक उपदेशों तथा क्रान्तियों से वैसी सामाजिक रचना हो नहीं पायी। इसे अत्यधिक कठिन मानते हुए भी मैं इसे असम्भव नहीं मानता। आस्ट्रिया हंगरी के एक विख्यात लेखक स्टीफेन ज्वेग ने एक स्थान पर कहा है "जो अन्तिम अवस्था, पराकाष्ठा की कड़वी अवस्था तक जाता है, जिसके पास कभी भी समाप्त न होने वाला धैर्य का खजाना रहता है, वही अपने साथियों की सच्ची सहायता कर सकता है। यह वह तभी कर पाता है जब अपना सम्पूर्ण बलिदान करने को तैयार हो।" भूदान के सदृश कार्य में काम करने वालों के लिए इस प्रकार की मनोवृत्ति आवश्यक है।

पूर्वजों की जन्मभूमि में

संसार के प्राय: समस्त देशों की यात्रा करने के बाद मेरे मन में एक भावना बार-बार उठने लगी थी—एक बार पूर्वजों की जन्मभूमि के भी दर्शन करूँ, जो कम से कम मेरे लिए किसी पवित्रतम तीर्थों से कम पवित्र और कम महत्त्व की नहीं।

राजस्थान के एकीकरण के बाद जयसलमेर पहले एक जिला बनाया गया था, फिर एक सब डिवीजन और फिर से जिला। इस जिले का क्षेत्रफल है सोलह हजार वर्ग मील और जनसंख्या है केवल एक लाख के कुछ ऊपर। जयसलमेर नगर में तो केवल आठ हजार आदमी ही रहते हैं। भारतवर्ष में शायद इस जिले से बड़ा क्षेत्रफल किसी जिले का नहीं है और इतने बड़े क्षेत्रफल में इससे कम आबादी कहीं की नहीं। जयसलमेर की इस जनसंख्या का मिलान आस्ट्रेलिया, कैनेडा और न्यूजीलैण्ड की जनसंख्या से ही हो सकता है। जयसलमेर में एक वर्ग मील पर ६, ७ मनुष्य रहते हैं, आस्ट्रेलिया तथा कैनाडा में ४ और न्यूजीलेंड में ८। जयसलमेर की इस आबादी में ४० प्रतिशत राजपूत, ३० प्रतिशत मुसलमान और शेष तीस प्रतिशत में ब्राह्मण, बनिये, हरिजन आदि हैं। पर हिन्दू और मुसलमानों में भाषा, वेश-भूषा में कोई विशेष अन्तर नहीं।

राजस्थान के एकीकरण के बाद राजस्थान प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने जयसलमेर जिले की भी जिला कांग्रेस कमेटी की एक एडहाक कमेटी बनायी और उसका संयोजक बनाया एक युवक श्री सत्यदेव व्यास को। व्यासजी के अतिरिक्त श्री भंवरलालजी नामक एक प्रौढ़ कांग्रेसवादी भी जयसलमेर में निवास करते हैं। मैंने अपने जयसलमेर जाने का इरादा पहले राजस्थान प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मन्त्री श्री युगलकिशोरजी चतुर्वेदी को बताया और फिर उनकी राय के अनुसार श्री भंवरलालजी तथा श्री सत्यदेवजी व्यास से इस सम्बन्ध में लिखा-पढ़ी आरम्भ की। जयसलमेर के इन कांग्रेसजनों ने बड़े

उत्साह से मुझे जयसलमेर आने को लिखा और यह भी लिखा कि चूँकि मेरे पूर्वज जयसलमेर से ही गये थे और अब तक हमारे पूर्वजों के रहने का मकान तथा वहाँ के मुख्य सरोवर "गड़ीसर" में हमारे पूर्वजों के बनाये हुए घाट, बारहदरी आदि हैं इसलिए जयसलमेर की सारी जनता ही मेरे आगमन की खबर सुन अत्यन्त उत्साहित है। जयसलमेर के भूतपूर्व नरेश श्री महारावलजी से भी हमारे कुटुम्ब का घना सम्बन्ध रहा था अतः जब उन्हें मेरे आने की खबर मिली तब उन्होंने भी मेरा स्वागत करते हुए मुझे उनके साथ ठहरने का आग्रह किया जो मैंने वहाँ के कांग्रेसजनों से पूछकर स्वीकार कर लिया।

जयसलमेर मुझे कितने दिन रहना चाहिए अब यह प्रश्न उठा। राजस्थान से आये हुए लोग प्रायः अपनी जन्मभूमि को जाते-आते रहते हैं और कई बार वहाँ महीनों रहते हैं। हमारे पूर्वज सेवारामजी के वि० सं० १८४० में जयसलमेर छोड़ने के बाद केवल एक बार संवत् १९४९ में मेरे पितामह राजा गोकुलदासजी जयसलमेर गये थे अतः मैं वहाँ कितने दिन ठहरूँ यह प्रश्न एक महत्त्व का प्रश्न बन गया। अधिकतर लोगों की राय थी कि मुझे महीने-बीस दिन तो वहाँ ठहरना ही चाहिए, पर मेरे पास इतना समय कहाँ ? अतः सोच-विचार कर मैंने तय किया कि मैं वहाँ तीन रात्रि ठहरूँगा जो समय किसी तीर्थ-स्थान पर ठहरने के लिए हमारी संस्कृति में निर्धारित है।

दिल्ली में संसद् का अधिवेशन चल रहा था अतः दिल्ली से ही मैंने जयसलमेर जाने का निर्णय किया और ता० १३ सितम्बर को मैं दिल्ली से जयसलमेर के लिए रवाना हुआ। दुनिया के किसी भी देश को जाते समय मेरा मन इतना उत्साहित और उल्लसित नहीं था जितना जयसलमेर जाते समय।

ता० १४ सितम्बर को संविधान सभा ने हिन्दी को राज्यभाषा स्वीकृत किया था अतः १४ सितम्बर देश भर में हिन्दी दिवस के रूप में मनाया जा रहा था। दिल्ली से रात को चलकर हमारी गाड़ी दोपहर को जोधपुर पहुँचती थी और वहाँ से दूसरी गाड़ी पोकरण रात को जाती थी जहाँ से जयसलमेर सड़क गयी है। अतः १४ सितम्बर को जोधपुर की जिला कांग्रेस कमेटी के कार्यकर्त्ताओं ने मेरा पूरा उपयोग हिन्दी के आयोजनों में कर लिया।

जोधपुर से ता० १४ की रात को चलकर ता० १५ को प्रातःकाल

५ बजे मैं पोकरण पहुँचा। जयसलमेर से मुझे लेने के लिए महारावलजी साहब ने एक जीप भेजी थी जिसमें महारावलजी की ओर से उनके कामदार तथा कांग्रेस की ओर से श्री सत्यदेवजी व्यास मेरे स्वागतार्थ आये थे।

मेरे ट्रेन से उतरते ही हम लोग जयसलमेर के लिए रवाना हो गये।

सितम्बर के महीने में पाँच बजे कुछ अन्धकार ही रहता है, पर शीघ्र ही पौ फटी और हमें उषा के दर्शन हुए।

मेरा विवाह राजस्थान के सीकर में हुआ था अतः कई बार मैं वहाँ के रेगिस्तान के दृश्य देख चुका था। मैं समझता था कि जयसलमेर में तो उससे भी कहीं बड़े मरुस्थल के दर्शन होंगे, जहाँ तक दृष्टि जायगी रेत का समुद्र दिख पड़ेगा ; उसी के उड़ने वाले बड़े-बड़े टीले। पर मुझे कुछ निराशा हुई यह देखकर कि जिस सड़क से हमारी जीप जा रही थी वह तो पठार भूमि है, रेगिस्तान नहीं। हमारे जयसलमेर के साथियों ने बताया कि मरुस्थल इस ओर नहीं पड़ता। पोकरण से जयसलमेर ६८ मील है। सड़क पक्की होने पर भी अच्छी दशा में न थी पर उसके पुनः बनाये जाने का प्रबन्ध हो रहा था।

प्राकृतिक दृश्य मरुस्थल का न होकर पठार भूमि का था, पर वृक्षावली से रहित। इधर-उधर कहीं खेजड़ी के कुछ वृक्ष दिख जाते थे, कहीं-कहीं कैर तथा फोग की कुछ झाड़ियाँ और सर्वत्र सेवण नामक घास। मालूम हुआ कि यह सेवण घास जयसलमेर की ही विशेषता है और पशुओं के लिए यह खाद्य इतना पौष्टिक है कि इसे खिलाने के बाद जानवरों को अनाज इत्यादि खिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस घास को खाकर यहाँ की गायें पाँच-पाँच सेर दूध तक देती हैं। इस घास को देखकर मुझे न्यूजीलैंड की गोचर भूमि याद आयी। वहाँ की उस भूमि में भी इसी प्रकार की कुछ घास होती है और वहाँ के जानवरों को भी अनाज आदि नहीं दिया जाता। वहाँ की गायें तो डेढ़-डेढ़ मन तक दूध देती हैं। एक विचित्र बेल भी जयसलमेर की उस भूमि में देखने को मिली जिसमें मौसंबी और सन्तरे के सदृश गोल-गोल पीले फल फले हुए थे। ये फल प्रचुर मात्रा में उस हरी घास के बीच दिख पड़ते थे। इस बेल का नाम था तूस और फलों का तूंबा। मालूम हुआ कि इन फलों का स्वाद बड़ा कड़वा होता है पर इनके भीतर [illegible]

में बीज रहते हैं जो कडुवे नहीं होते और दुर्भिक्ष के समय यहाँ के निवासी इन बीजों को पीस कर इनकी रोटी बना कर खाते हैं।

पशुओं में ऊँटों के झुण्ड, गायों के खिरके और बकरियों तथा भेड़ों के समूह दिखायी दिये। भूरे ऊँट, सफेद गायें, काली बकरी और श्याम मुख तथा श्वेत शरीर वाली भेड़ें। वहाँ इन पशुओं के कारण अधिकांश लोगों की रोजी चलती है। पच्चीस पचास ऊँट, गायें, बकरियाँ और भेड़ तो वहाँ के अधिकांश देहातियों के पास होती हैं, पर किसी-किसी के पास पाँच-पाँच सौ ऊँट, पाँच-पाँच सौ गायें और हजार-हजार दो-दो हजार बकरी-भेड़ें रहती हैं। ऐसे पशु-पालकों की संख्या भी वहाँ कम नहीं है। अपने पशुओं की कीमत के कारण ऐसे लोग लाखों के धनी हैं। औसत से एक ऊँट की कीमत तीन सौ रुपया और एक गाय की कीमत सौ रुपया है। जयसलमेर का ऊन अच्छी कोटि का और घी तो देश में सर्वोत्तम कोटि का माना जाता है। गायों की नसल वहीं की है। वहीं के साँड। यह नसल सिन्ध की ऐसी ही एक नसल से मिलती हुई है, पर यह लाल सिन्धी नहीं। लाल सिन्धी नसल के बैल अच्छे नहीं होते पर इस नसल के बैल भी गायों के सदृश ही अच्छे होते हैं। गायों की यह नसल सफेद रंग की थी और गायें तथा साँड काफी अच्छे। राजस्थान में गौवध सर्वथा बन्द है और गाय के पालकों में सब से बढ़े-चढ़े हैं जयसलमेर के मुसलमान। मुसलमानों के यहाँ जयसलमेर में जैसा अच्छा घी मिलता है भारत में कहीं भी नहीं। ये मुसलमान गाय की कुरबानी की कल्पना तक नहीं कर सकते।

एक जगह कुछ ऊँट अपनी गरदनें ऊँची कर खेजड़ी के पत्ते खा रहे थे। खेजड़ी में काँटे होते हैं अतः मैंने अपने साथियों से पूछा कि क्या ऊँट काँटे वाली चीजें भी चबा जाते हैं? इसके उत्तर में हमारे ड्राइवर ने जयसलमेर की एक कहावत ही कह डाली—

ऊँट छोड़े आँकड़ो
छाली छोड़े कांकड़ो

अर्थात् ऊँट केवल अकोये के वृक्ष को और बकरी केवल कंकरों को छोड़ती है, अन्य किसी वस्तु को नहीं।

पक्षियों में राजस्थान में मोर और कबूतरों की बहुतायत है ही। वह

यहाँ भी थी। कई मोर नाचते और केका शब्द उच्चारते भी मिले। इनके अतिरिक्त बइया नामक पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड दिखायी दिये। ये पक्षी सैकड़ों और हजारों के झुण्डों में उड़ते, एकाएक इकट्ठे दरख्तों पर बैठ जाते। सुना, ये टिड्डी खाते हैं और इसी मौसम में सिन्ध से आते हैं। ऐसे पक्षियों के झुण्ड मैंने पहले नहीं देखे थे।

मार्ग में हमें कुछ छोटे-बड़े गाँव भी मिले। गाँवों के अधिकांश झोंपड़े पत्थर के टुकड़ों की दीवालों के, पर ऊपर घास-फूस की छावनी, किसी की गोल, किसी की लम्बी। गाँवों के पास कुछ बाजरे के खेत थे। बाजरे में भुट्टे आ गये थे और ये पौधे प्रातःकाल की पवन में झूमते हुए बड़े सुहावने लगते थे। दो गाँव बड़े थे—एक का नाम था लाठी और दूसरे का चाँचा। लाठी गाँव में तो वहाँ के जागीरदार की एक पत्थर की गढ़ी बनी थी, जो अब यत्र-तत्र टूट गयी थी। इन गाँवों के निवासियों में राजपूत, ब्राह्मण, बनिये और मुसलमान थे; अधिकांश लोग गेहुँए और साँवले रंग के ऊँचे, पूरे, तगड़े। वेष हिन्दू, मुसलमान सब का एक सा। मुसलमानों के सिर पर मारवाड़ी पगड़ी, ऊपर के शरीर पर तनी वाला छोटा अँगरखा और नीचे के शरीर पर धोती, पाजामा विरल व्यक्ति ही पहने थे। औरतें धारण किये हुए थीं लँहगा, ओढ़नी और काँचली, सलवार नहीं।

लाठी के पास एक छोटे से तालाब पर कुछ पणिहारी पानी भर रही थीं और गा रही थीं। पणिहारियों का गान राजस्थान के लोक-गीतों में एक विशेष स्थान रखता है। अतः हम कुछ देर ठहर कर यह गीत सुनने लगे। गीत पूरा मेरी समझ में न आया, पर साथियों ने मुझे समझाया और मैंने नोट कर लिया। गीत के आरम्भिक चरण थे—

कालीरे कालाँयण ऊपड़ी ए पणिहारी हेलो,
गुडला सा बरसे मेह सेणोलो ॥१॥
आज धुराउ धुँधलोए पणिहारी हेलो,
मोटोड़ी छोंटोंरो बरसे मेह सेणोलो ॥२॥

लाठी गाँव में मुझे एक बात और मालूम हुई। कुछ दिन पहले पाकिस्तान की ओर से कुछ डाकू लाठी गाँव से दो-तीन व्यापारियों को उठा कर ले गये

थे। डाकुओं ने इनके छोड़ने के लिए पन्द्रह हजार रुपये माँगे और जब यह रकम उन्हें मिल गयी तब इन्हें छोड़ा। यह भी सुनने में आया कि आजकल जयसलमेर के आस-पास ऐसी घटनाएँ बहुत हो रही हैं। ये डाकू राजस्थान के ही हैं, पर ये पाकिस्तान की सीमा में रहते हैं और पाकिस्तान की सरकार ने इन्हें संरक्षण दे रखा है। मैं नहीं जानता कि पाकिस्तान की सरकार के इस संरक्षण की बात में कितनी सचाई है पर यदि यह सत्य है तो किसी भी सरकार के लिए इससे अधिक नैतिक अधःपतन की अन्य कोई बात नहीं हो सकती। डाकुओं की इन घटनाओं के कारण मुझे वहाँ काफी आतंक दिखा। राजस्थान की सरकार इस ओर ध्यान दे रही है। देखना है कितने दिनों में इस आपत्ति का शमन होता है।

एक छोटे से गाँव में लड़की की बिदा हो रही थी और जिस ऊँट पर वह लड़की जा रही थी उस ऊँट को संबोधन कर स्त्रियों की एक टोली गीत गा रही थी। ऊँट को वहाँ झीझलियो कहा जाता है। झीझलिया के लोक-गीत भी जयसलमेर में बहुत प्रसिद्ध हैं। हम इस गीत को सुनने के लिए भी कुछ ठहर गये। साथियों ने मुझे इसे भी समझाया और मैंने नोट किया—

अरणी रे लगोड़ा हे फूल राये बगड़ी रे
छाई झाझे मोतीये रे ॥१॥
झीझलीया रे तू तोरे पग-पग पाछल फोर,
राय रूखड़ला बताये रे डाडाँणे रे देशरा रे॥२॥

लगभग तीन घंटे में हम जयसलमेर पहुँचे। सात मील की दूरी से ही वहाँ का किला दिखायी देने लगा था। पहाड़ी पर बना हुआ पीले पत्थर का यह किला धूप में दूर से सोने का सा बना दिखता था। आगे चल कर हमें सारा नगर इसी पीले पत्थर का बना दृष्टिगोचर हुआ। दूर से जान पड़ा कि क्या हम सोने की द्वारका या सोने की लंका में पहुँच रहे हैं। पीले पत्थर का ऐसा नगर मैंने दुनिया में कहीं नहीं देखा था। सुना कि यह पीला पत्थर जयसलमेर की ही विशेषता है। यह एक प्रकार का पीला संगमरमर है, मजबूत और साथ ही मुलायम। इस पर खुदाई, विशेषकर जाली का काम जितना सुन्दर होता है, अन्य किसी पत्थर पर नहीं; साथ ही इस पर पालिश भी

बहुत अच्छा जमता है। जयसलमेर के मन्दिर और महल ही नहीं, पर साधारण लोगों के रहने का भी शायद ऐसा कोई मकान न होगा जिसमें खुदाई और जाली का काम न हो। मैंने इतना सुन्दर और बारीक पत्थर का काम इतनी बहुतायत से दुनिया के किसी शहर में नहीं देखा था।

मैं जितने उत्साह और उल्लास से जयसलमेर आया था उससे कम उत्साह और उल्लास वहाँ के लोगों में मेरे स्वागत के लिए नहीं था। जयसलमेर-निवासी मुझे अपना मानते थे और अपना ऐसा जो चिरकाल से बिछड़ा हुआ हो। आधुनिक जगत से विलग, जीवन संघर्ष से दूर, इसीलिए किसी भी प्रकार की धूर्तता से रहित, ये सरल हृदय के लोग बड़े ही भावुक हैं। प्रेम से ओत-प्रोत सने हुए! अपने बिछुड़े हुए मानवों के लिए ही नहीं पशु, पक्षी, वृक्ष झाड़ियों तक के लिए इनका स्नेह उमड़ पड़ता है। औरंगजेब ने जब जोधपुर-नरेश महाराजा जसवन्तसिंह को लड़ाई पर काबुल भेजा तब उन्हें वहाँ फोग की एक झाड़ी दिख गयी। उसे देखते ही जसवन्तसिंह विह्वल हो पड़े। रोमांचित तन तथा सजल नयन हो उन्होंने उस झाड़ी का आलिंगन किया और उसी समय एक दोहा बना डाला—

थूँ मरु घर रौ रूंखड़ो
हूँ मारवाड़ रो लोग।
हूँ तो आयो राड़ में
थूँ क्यूँ आयो फोग?

जयसलमेर में पैर रखते ही वही प्रेम, वही सौजन्य मैंने वहाँ के वासियों में पाया। ऐसा प्रेम मैंने जबलपुर में कुछ अवसरों पर अवश्य देखा था जैसे सन् ३० में जब मैं पहले-पहल गिरफ्तार हुआ और जब मेरी पहले-पहल रिहाई हुई, भूदान यज्ञ के कार्य के लिए सन् ५३ में जब मैंने जबलपुर जिले का ३३ दिन पैदल दौरा किया उस समय कुछ गाँवों में, पर अन्य कहीं भी मैंने ऐसा उमड़ता स्नेह का सिन्धु नहीं देखा था। यह प्रेम देख मैंने तो जयसलमेर का नाम ही कम-से-कम अपने लिए वात्सल्य की बस्ती रख दिया। जयसलमेर नगर में मेरे पैर रखने के बाद वहाँ से रवाना होने तक साढ़े तीन दिन जयसल-

एक ही काम रह गया था—जहाँ कहीं भी मैं जाऊँ वहाँ एकत्रित रहना । यहाँ तक कि जयसलमेर के महारावलजी साहब भी हर दिन आधी रात तक अपने काका महाराज हुकुमसिंहजी के तथा उनके भूतपूर्व दीवान श्री सिकंड साहब के साथ मेरे ही पास बैठे रहते थे । श्री सिकंड वहाँ बड़े लोकप्रिय दीवान रहे थे और इन दिनों में कुछ दिन के लिए जयसलमेर आये थे । ता० १७ को जयसलमेर में मेरे भाषण की जो सभा हुई उसके लिए कहा गया कि जयसलमेर में उससे बड़ी सभा कभी भी नहीं हुई और उसमें औरतों तथा बच्चों को छोड़ जयसलमेर के समस्त निवासी मौजूद थे ।

जयसलमेर के फाटक पर पहुँचते ही वहाँ की जनता ने मेरा हार्दिक स्वागत किया । इस स्वागत के लिए फूलों के हार जोधपुर से बनवाकर मँगाये गये थे । यहाँ से मैं जवाहर निवास नामक महल में महारावलजी के अतिथि के रूप में ठहराया गया । जयसलमेर के भूतपूर्व नरेश महारावल जवाहरसिंहजी के नाम पर इस महल का नाम जवाहर निवास रखा गया था ।

जयसलमेर का मेरा कार्यक्रम वहाँ के कांग्रेसजनों, समाज में कार्य करने वाले सज्जनों और महारावलजी सा० के सम्मिलित परामर्श से बड़ा व्यवस्थित बनाया गया था । चूँकि मैं जयसलमेर साढ़े तीन दिन ही रहने वाला था इसलिए यद्यपि इस कार्यक्रम में व्यस्तता आ गयी थी, परन्तु इस बात का प्रयत्न हुआ था कि जहाँ तक हो कोई महत्त्वपूर्ण बात छूटने न पावे । कार्यक्रम के मोटे रूप से चार विभाग थे—

१—जयसलमेर के लोगों से व्यक्तिगत भेंटें ।

२—सार्वजनिक आयोजन । ये आयोजन चार थे—जयसलमेर हाई स्कूल में विद्यार्थियों की ओर से मानपत्र और मेरा भाषण; नगरपालिका की ओर से मानपत्र ; माहेश्वरियों द्वारा स्वागत-समारोह और सार्वजनिक सभा ।

३—मेरे पूर्वजों के स्थानों का निरीक्षण ।

४—जयसलमेर के दर्शनीय स्थानों को देखना ।

व्यक्तिगत भेंटें महारावलजी सा० की भेंट से आरम्भ हुईं । महारावलजी की भेंट के अतिरिक्त शेष भेंटें माहेश्वरी समाज के लोगों से ही हुईं, जहाँ कई जगह भोज [illegible]

थे कि पन्द्रह दिनों में भी पूरे न होते। अन्तिम भोज बड़ी शान-शौकत से महारावलजी ने दिया। इन भेंटों का प्रबन्ध प्रधानतया श्री नगीनदासजी ने किया। जहाँ-जहाँ भी मैं गया किस प्रकार पलक पाँवड़े बिछा कर मेरा स्वागत हुआ ! कितना उमड़ता हुआ स्नेह पाया मैंने सभी जगह ! सार्वजनिक आयोजन सभी बड़े सफल हुए। मानपत्र बरू की कलम द्वारा राजस्थान की उस स्याही से लिखे गये थे जो युगों के बीत जाने पर भी फीकी नहीं पड़ती। इन मानपत्रों के मसौदों से मालूम पड़ता था कि मेरे कार्यों की कितनी ब्यौरे-वार जानकारी यहाँ के लोगों को थी। इन आयोजनों में दो बड़े सफल आयोजन हुए—एक माहेश्वरियों का स्वागत-समारोह और दूसरा सार्वजनिक सभा। माहेश्वरियों का आयोजन गड़ीसर में मेरे पूर्वज सेवारामजी की बनवायी हुई बारहदरी में हुआ। इस आयोजन में महारावलजी भी उपस्थित थे। इन सार्वजनिक आयोजनों का प्रबन्ध जिन्होंने किया था उनमें प्रधान थे श्री भंवर-लालजी, श्री सत्यदेवजी, श्री कन्हैयालालजी, श्री चतुर्भुजजी डाँगरा और श्री भगवानदासजी। कितना प्रेम-नीर बहा इन आयोजनों में भी !

मेरे पूर्वजों के जिन स्थानों का मैंने निरीक्षण किया वे थे हमारे कुटुम्ब का निवास गृह, गड़ीसर पर मेरे पूर्वज सेवारामजी और गोविन्दसर पर उनके पुत्र खुशहालचन्दजी द्वारा बनवाये गये घाट, बारहदरी, मन्दिर, दालान आदि और हमारे पितरों के चबूतरे। इन स्थानों को देखकर और इनके सम्बन्ध में वहाँ के वृद्धजनों से अपने कुटुम्ब की कथाएँ सुनकर मेरी अपने कुटुम्ब के सम्बन्ध में सुनी हुई गाथाओं के कुछ प्रमाण मिले तथा कुछ टूटी शृंखलाएँ जुड़ीं। इस इतिहास ने मेरी आत्मसम्मान की भावनाओं को अत्यधिक बल पहुँचाया।

दर्शनीय स्थानों में मैंने सबसे पहले जयसलमेर का पुराना किला देखा। वहाँ श्री लक्ष्मीनाथजी के मन्दिर और जैन मन्दिर के दर्शन किये। किले का पुराना राजमहल देखा। इस किले में जयसलमेर के नागरिकों की भी काफी बस्ती है। यहाँ के जैन मन्दिर की विशद स्थापत्य कला के सिवा जैन मन्दिर में अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों का एक बहुत बड़ा संग्रह है, जहाँ पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा मुझे खोज की नितान्त आवश्यकता जान पड़ती है। किले के बाद मैं वहाँ

का अमरसर देखने गया। यहाँ के जैन मन्दिर की कारीगरी तो हर प्रकार से अनुपम कही जा सकती है। पत्थर पर ऐसा बारीक खुदाव का काम और जाली मैंने इसके पहले कहीं न देखी थी। अमरसर के निकट ही महारावलजी का फल का एक सुन्दर उद्यान भी है। फिर हम गये पुराने जयसलमेर की राजधानी लिघरवा। यहाँ सभी टूट-फूट चुका है, केवल एक जैन मन्दिर अच्छी दशा में है। इसकी स्थापत्य-कला एक निराले ही ढंग की है। यह मन्दिर कोई एक हजार वर्ष पुराना है और जैनियों के अखिल भारतीय तीर्थ-स्थलों में एक माना जाता है। इसके उपरान्त मैंने वहाँ के गड़ीसर, गोविन्दसर आदि झीलों को देखा। मरुस्थल में इन जलाशयों का सबसे अधिक महत्त्व है। और फिर में शहर की कई सड़कों, गलियों आदि में घूमा जहाँ मैंने साधारण से साधारण गृहस्थों के घरों में भी पत्थर की खुदाई देखी। अन्त में मैंने जयसलमेर के अमर शहीद सागरमलजी गोपा की समाधि पर जाकर उन्हें पुष्पांजलि अर्पित की। जयसलमेर में आधुनिक काल के श्री गोपा ऐसे शहीद हुए जिनका नाम जयसलमेर का आधुनिक इतिहास कभी भी विस्मृत न कर सकेगा। उनका जिस परिस्थिति में जिस प्रकार जेल में बलिदान हुआ वह सभी को ज्ञात है अतः उस इतिहास को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। इन सभी स्थलों पर श्री भंवरलालजी, श्री सत्यदेवजी, श्री कन्हैयालालजी और वहाँ के एक उत्साही तरुण फोटोग्राफर श्री गोपालकृष्ण जोशी मेरे साथ रहे।

जयसलमेर इस देश के पुराने-से-पुराने नगरों में एक नगर है। यह बसा था वि० संवत् १२१२ में। किसी काल में यह बहुत बड़ा शहर था जो इसके खाली पड़े हुए मकानों से अभी भी ज्ञात हो जाता है। किसी समय यह रोज-गार की बड़ी भारी मण्डी भी था। अभी भी वहाँ कई मूल्यवान चीजें उपलब्ध हैं। पीला पत्थर, एक प्रकार का संगमरमर, अनेक प्रकार के अन्य रंगीन पत्थर, इनमें भी अधिकांश एक तरह के संगमरमर। कई तरह की मिट्टी—सफेद, पीली, लाल, मुल्तानी, जो ऊसर जमीन का ऊसरपन निकाल देती है वह जिप-सन मिट्टी। कानोद नामक स्थान में नमक होता है। प्रतिवर्ष कोई पन्द्रह लाख पाउण्ड ऊन यहाँ से बाहर जाता है। घी तो यहाँ इतना बढ़िया होता है जितना अन्यत्र कहीं नहीं। गूगल भी बहुत होता है। परन्तु रेल न होने के

कारण इन सब चीजों का निर्यात नहीं होने पाता। तेल मिलने की भी यहाँ आशा हो गयी है। अब जयसलमेर हमारे देश की सीमा का क्षेत्र हो गया है। जयसलमेर से ७० मील पर पाकिस्तान की हद लग गयी है और वह ३५० मील लम्बी। अतः वहाँ शीघ्र-से-शीघ्र रेल आना आवश्यक है। पोकरण से केवल ६८ मील ही तो जयसलमेर रह जाता है। अगर यहाँ रेल आ जाय तो यह भूखण्ड पुनः सम्पन्न हो जायगा। साथ ही सुरक्षा का भी प्रबन्ध। इसके सिवा "हरी के पतन" नहर योजना की भी जाँच हो गयी है। मरुस्थल में सबसे अधिक आवश्यकता पानी की रहती है। यह नहर बन जाय तो जिस प्रकार गंगनहर ने बीकानेर के मरुस्थल को सरसब्ज भूमि बना दिया उसी प्रकार "हरी के पतन" नहर जयसलमेर की मरुभूमि को उपजाऊ भूमि में परिणत कर देगी। वहाँ सबसे अधिक आवश्यकता रेल और नहर की है। कुछ समय पहले नेहरूजी जयसलमेर गये थे और उन्होंने एक जैन मन्दिर की यात्रियों के आवागमन की पुस्तक में लिखा था—"हमें जयसलमेर की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।" जयसलमेर की तथा देश की वर्त्तमान परिस्थिति में क्या मैं आशा करूँ कि राजस्थान की राज्य सरकार और केन्द्र की भारत सरकार इस ओर अविलम्ब शीघ्रता से ध्यान देगी।

जयसलमेर की जनता अन्य राजस्थानी जनता के सदृश ही है। लोगों का प्रधान पेशा पशु पालन और खेती है। बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे तो वहाँ हैं ही नहीं, गृह-उद्योग भी नहीं हैं। यदि कोई गृह-उद्योग है तो भेड़ों से ऊन निकालना और दूध से घी बनाना है। परन्तु इन्हें यथार्थ में उद्योग-धन्धे नहीं माने जा सकते, क्योंकि ऊन तो अधिकांश जैसा का तैसा बिना कोई चीज बनाये भेज दिया जाता है और घी का उद्योग यथार्थ में कच्चे माल का ही उद्योग है। मैं समझता हूँ कि यदि यातायात का ठीक प्रबन्ध हो जाय तो जयसलमेर में कुटीर उद्योग, गृह-उद्योग चल सकते हैं। जनता अधिकतर निर्धन है और अशिक्षित। प्राथमिक शिक्षा के कुछ विद्यालय हैं और केवल एक हाई स्कूल है, परन्तु विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती जा रही है। रहन-सहन बड़ा सादा है। मोटा खाना और मोटा पहनना। लोग बाजरा खाते हैं। मरुस्थल के कारण साग-भाजी नहीं के बराबर होती है। वहाँ की मुख्य तरकारी है कैर और

साँगरी। फोग का रायता भी बनता है। बाजरे की रोटी और बाजरे की खीच दही, छाछ और घी के साथ खायी जाती है। रीति-रिवाज भी बड़ी सादगी के हैं। ब्याह-शादी और व्यवहार आदि में जितना कम खर्च जयसलमेर में होता है उतना शायद भारत में कहीं नहीं। ब्याह-शादी में कम खर्च हो इसके लिये जयसलमेर ने एक नया तरीका निकाला है। हर तीसरे वर्ष श्रीगणेशजी के नाम पर विवाह की लगन निकाली जाती है और वहाँ के ब्राह्मण तथा वैश्य उस दिन एक ही मुहूर्त्त पर सैकड़ों ब्याह कर डालते हैं। उस समय जयसलमेर निवासियों में, जो जयसलमेर के बाहर बस गये हैं, वे भी सैकड़ों और हजारों की संख्या में जयसलमेर पहुँचते हैं। परन्तु चूँकि घर-घर ब्याह रहते हैं इसलिए एक ब्याह में वर और कन्या के पक्ष के १०, ५ आदमियों से अधिक सम्मिलित नहीं हो पाते। इसीलिए बड़े भोज, बरात आदि के खर्च वहाँ के विवाहों में नहीं होते।

जयसलमेर की भाषा राजस्थानी है, परन्तु राजस्थानी भाषा के अनेक भेद हैं। राजस्थानी जयपुर में एक तरह से, बीकानेर में दूसरी तरह से और शेखावटी में तीसरी तरह से बोली जाती है। मैं राजस्थानी और हिन्दी भाषा में कोई अन्तर नहीं समझता। जिस प्रकार ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, बुन्देली आदि हिन्दी भाषा के ही अंग हैं उसी प्रकार राजस्थानी भी। वहाँ का हर आदमी हिन्दी अच्छी तरह बोल और समझ सकता है।

जयसलमेर में स्वास्थ्य-रक्षा का प्रबन्ध बहुत ही बुरा है। वैद्य-डाक्टरों का अत्यधिक अभाव है।

जयसलमेर छोड़ने के एक दिन पूर्व ता० १७ के तीसरे पहर मैंने वहाँ के कुछ लोक-गीत सुने। पहले गीत का पहला बोल था—

हे बोले बोले ए हरिये बनरी म्हौंरी कोयल है थांरो सादड़लो रे म्हौंनां घणों सोहावणो।१।

दूसरे गीत का पहला चरण था—

बोले रे पपैयो हांजी रे पिवड़ो रे गाढ़ा रे मारू मगरिये रे बोल्या झीणा मोर हंजा रे मारू मगरिये रे बोल्या झीणा मोर।१।

एक और गीत मुझे अच्छा लगा उसका पहला बोल था—

ईयेरे संघड़ी रे मारगे, मारगे ए माँजी सईयल भींणोड़ी सी उडे जाँणो खेव हो मणेहारड़ारे हो गवरादे रा हाँजी बालमा रे एकी ने जोड़ी रो रे मणेहार ।१।

ता० १८ सितम्बर के तीसरे पहर मैंने जयसलमेर छोड़ा। जिस प्रकार भावोद्वेगता के आल्हाद से वहाँ के निवासियों ने मेरा स्वागत किया था उसी प्रकार भावोद्वेगता के विरह से उन्होंने मुझे बिदा किया। मैंने देखा कितने लोग उस समय सचमुच ही सजल नयन थे। मध्य प्रदेश के हीगन घाट नामक स्थान के श्री सुजानसिंहजी मोहता जयसलमेर प्रायः आया करते हैं। इस समय भी वे वहाँ मौजूद थे। वयोवृद्ध ७० वर्ष की अवस्था के ये सज्जन बार-बार गद्गद स्वर से मुझे कह रहे थे "तुमने तो तीन दिन में ही जयसलमेर वालों पर जादू कर दिया।" मेरी समझ में न आया कि मैंने उन पर जादू कर दिया था या उन्होंने मुझ पर। मेरी भी वहाँ से चलते समय कुछ विचित्र सी ही दशा थी। बार-बार लोग मुझसे पूछते थे अब मैं फिर वहाँ कब आऊँगा। मेरी समझ में न आता था कि मैं उन्हें क्या उत्तर दूँ। जैसा पहले कहा गया है मेरे पूर्वज सेवारामजी ने जयसलमेर वि० सं० १८४० में छोड़ा था। उसके बाद उनके पौत्र और मेरे पितामह राजा गोकुलदासजी केवल एक बार वि० सं० १९४९ में वहाँ गये थे। उनकी उस यात्रा का भी वृत्त मैंने वहीं सुना था। उनके साथ थे कोई सौ सवा सौ आदमी। रेल थी उस समय केवल जोधपुर तक। जोधपुर से उन्हें जयसलमेर पहुँचने में आठ दिन लगे थे। उन्हें लाने और वापस भेजने की सारी व्यवस्था उस समय जयसलमेर नरेश की थी। छः ऊँट जिस गाड़ी में जुतते थे वह गाड़ी तथा साठ ऊँट उनके साथ के आदमियों और सामान को लेने और पहुँचाने गये थे। वे तीस दिन जयसलमेर रहे थे। और उन्होंने वहाँ बड़े-बड़े काम भी किये थे। सारे जयसलमेर नगर का भोज कराया था। उसे वहाँ "हेड़ा" कहते हैं। सुना कि उस समय जयसलमेर में कोई अठारह-बीस हजार आदमी रहते थे। ब्राह्मण भोजन कराया था और एक-एक ब्राह्मण को चार-चार रुपये का गौदान दिया था। महारावलजी को घर बुलाकर भोजन कराया था। यह भोजन वहाँ "चौकी" कहलाता है। रुपयों की चौकी बनाकर उस पर बिठा

कर खिलाया जाता है। प्रचुर मात्रा में रुपये रख यह चौकी बनवायी गयी थी। उस समय मेरे दादाजी सम्पन्नता और प्रतिष्ठा में अपने जीवन के उच्चतम शिखर पर थे। और उनका पौत्र मैं उनकी उस यात्रा के साठ वर्ष बाद वहाँ गया था, केवल एक नौकर के साथ तीन दिन के लिए। मैंने इनमें से कोई भी काम नहीं किया था। इतने पर भी वहाँ के निवासी गद्गद् स्वर और सजल नयन हो बार-बार मुझसे पूछ रहे थे मैं फिर कब आऊँगा ?

मैं अब जल्दी से जल्दी किसी तरह वहाँ से रवाना हो जाना चाहता था अन्यथा मुझे लगता था कि मैं इस करुणा के सागर में डूब जाऊँगा। श्री सत्यदेवजी व्यास और गोपालकृष्ण जोशी मुझे पोकरण तक पहुँचाने आये। जिस प्रकार महारावलजी की जीप में मैं पोकरण से जयसलमेर आया था उसी प्रकार उन्हीं की जीप में जयसलमेर से पोकरण गया।

लौटते हुए पोकरण में कुछ सार्वजनिक आयोजन हुए और जोधपुर में भी। जोधपुर पहुँचने के पहले अर्द्धरात्रि को फलोदी स्टेशन पर भी एक भीड़ जमा होगयी थी।

मैं ता० २० सितम्बर को दिल्ली लौट आया, पर जयसलमेर की यह यात्रा मैं जीवन भर कभी विस्मृत न कर पाऊँगा।

राजस्थान से आये हुए लोगों में अधिकांश प्रायः अपनी-अपनी जन्मभूमि को जाते-आते रहते हैं। कई तो ब्याह-शादी भी वहीं करते हैं। हमारे कुटुम्ब में यह नहीं हुआ था। इमरसन ने एक जगह लिखा है "सितारे नित्य रात्रि को उदय हुआ करते हैं अतः कोई उनकी ओर नहीं देखता। यदि सौ वर्ष में वे एक बार निकलते होते तो सारा संसार स्तब्ध हो उनकी बाट देखता और जिस दिन वे उदय होते संसार का एक जन भी ऐसा न रहता जो साँस रोककर इस दृश्य को एक टक न देखे।"

जयसलमेर निवासी अत्यधिक प्रेमल, सरल और जोशीले तो हैं ही, पर मेरे मन में यह भी उठा करता है कि जो कुछ मैंने वहाँ पाया उसमें शायद यह बात भी है कि इन १६० वर्षों में हमारे कुटुम्ब की तीन-तीन पीढ़ियों के अन्तर हमारा वहाँ जाना हुआ।

किधर ?

इतिहास ने करवट बदली है। अंग्रेज भारत से गये, भारत स्वतन्त्र हुआ। स्वतन्त्र भारत का संविधान बना। राष्ट्रपति चुने गये, मन्त्रिमण्डल नियुक्त हुए। संसद् और विधान सभाएँ गठित हुईं। सर्वोच्च न्यायालय स्थापित हुए। और स्वतन्त्र भारत का शासन प्रारम्भ हुआ।

जो लोग यह कहते हैं कि अभी तक देश पूर्ण रीति से स्वतन्त्र हो कहाँ हुआ है, स्वतन्त्रता आकाश से टपककर खजूर में अटक गयी है इन सबसे मैं जरा भी सहमत नहीं हूँ। देश स्वतन्त्र हो गया, पूर्ण रीति से स्वतन्त्र हो गया, इसमें किसी प्रकार की आशंका करना वास्तविकता को अस्वीकार करना है।

स्वतन्त्र भारत में नवनिर्माण का काम भी तेजी से आरम्भ हो गया है यह निर्माण दो प्रकार का है—आर्थिक वस्तुओं का निर्माण और नयी पीढ़ी का निर्माण। पहले प्रकार के निर्माण में हम सफलता भी प्राप्त कर रहे हैं। लोगों का मत है, और मैं भी बहुत दूर तक इससे सहमत हूँ, कि मानव इतिहास में किसी भी देश ने इतने थोड़े समय में इस दिशा में इतनी सफलता प्राप्त नहीं की होगी, जितनी हमने की है।

भिन्न-भिन्न देशों ने अपना-अपना निर्माण अपने-अपने आदर्शों के अनुसार किया जो आदर्श उस देश की परिस्थिति के अनुकूल थे। अमरीका का निर्माण अमरीका की परिस्थिति के अनुसार हुआ; रूस का निर्माण रूस की परिस्थिति के अनुसार। एक ही वाद को मानने वाले दो राष्ट्रों ने भी अपने-अपने निर्माण में उस वाद का अनुसरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया। रूस और चीन दोनों अपने को साम्यवादी देश मानते हैं और साम्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार ही अपने-अपने निर्माण में दत्तचित्त हैं, पर रूस और चीन में हमें भिन्न-भिन्न प्रकार का साम्यवाद दिखायी पड़ता है।

गान्धीजी ने हमारे देश के सामने कुछ नये आदर्श रखे थे और आज तो

संसार के अधिकांश विचारक यह मानते हैं कि युद्ध के भय से त्रस्त तथा काँपते हुए संसार के लिए ये आदर्श ही कल्याणकारी हैं।

अतः स्वतन्त्र होने के पश्चात् निर्माण के इस युग में हमारे सामने यह ज्वलंत प्रश्न उठता है कि हम जिस ढंग से अपना निर्माण कर रहे हैं वह क्या हमारी जनता के लिए अरिमा-गरिमा के समान ऋद्धि-सिद्धि प्रदान करने वाला सिद्ध होगा ? क्या वह स्वप्न सत्य होगा जिसके लिए हमारे देश ने पिछली दशाब्दियों में साधना की, संघर्ष किया और अनेक कष्ट तथा यातनायें सहीं ? क्या वह आकांक्षा पूरी होगी जिससे प्रेरित हो कर मैंने अपने सम्बन्धियों और सहचरों की इच्छा के विरुद्ध अंग्रेजों के खिलाफ राजनैतिक संघर्ष में भाग लेने का निश्चय किया और लगभग ३५ वर्ष तक लेता रहा ? इस प्रकार के प्रश्न मेरे मन में अब अनेक बार उठते हैं। इनका उत्तर भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ है और भविष्य के रहस्यों को जान लेना तो साधारण बात नहीं।

यह कहा जाता है कि आकाश की परिधि को बेदकर संजय महाराज धृतराष्ट्र को कुरुक्षेत्र की रणभूमि में होने वाली बातों को सुनाते रहे। समय की परिधि को बेधकर भविष्य के रहस्यों का कथन करने वाला कोई संजय सम्भवतः अब तक नहीं हुआ है। आज भी और मानव इतिहास के गत युगों में भी कुछ लोग ऐसे हैं या हुए हैं जिनका यह दावा है या था कि वे भविष्य की बातें बता सकते हैं।

व्यक्तियों के भावी जीवन के वृत्त को बताने का दावा करने वाले अनेक ज्योतिषी एवं हस्त-रेखाओं के पढ़ने वाले आजकल भी वर्त्तमान हैं। कुछ लोग राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं को ज्योतिष के सहारे बताने का भी दावा करते हैं। किन्तु इनके दावों में कितना सत्य है और कितना अनुमान यह नहीं कहा जा सकता। न मैं ज्योतिषी हूँ और न हाथ या चेहरा देखकर भविष्य जान लेने वाला ही हूँ। मुझे फलित ज्योतिष और सामुद्रिक पर विश्वास भी नहीं है।

किन्तु मैंने राजनीति में सक्रिय भाग लिया है और थोड़ा-बहुत इतिहास पढ़ा है। उन्हीं के आधार पर मैं इन प्रश्नों के बारे में अपने मन में यदा-कदा आने वाले विचारों को यहाँ व्यक्त कर देता हूँ।

मेरी यह मान्यता है कि ऐसा करके मैं कोई अन्याय नहीं कर रहा हूँ। मनुष्य आगे के लिए जैसी भी योजना बनाता है वह सब अपनी पूर्वानुभूति के आधार पर ही बनाता है। क्या व्यक्ति और क्या समूह सभी प्रतिदिन कुछ न कुछ बातों की अनुभूति करते हैं। इन दैनिक अनुभूतियों में कुछ ऐसी हैं जो नित्य-प्रति बहुत कुछ एक सी ही रहती हैं। मुझे कल भूख लगी थी, आज भी लगी है, इसी आधार पर तो मैं सोचता हूँ कि सम्भवतः कल भी मुझे भूख लगेगी। इसी प्रकार जबसे मैं देखता आ रहा हूँ प्रतिदिन सूर्य उदय होता है, अस्त होता है। यह ठीक है कि इस पिछली अनुभूति के आधार पर ही निश्चयपूर्वक और साग्रह यह नहीं कहा जा सकता कि कल भी सूर्य उदय होगा। हो सकता है कि कल होने से पूर्व ही पृथ्वी किसी अज्ञात तारे से टकराकर भस्मसात हो जाय और न मैं ही रहूँ और न यह सम्भावना ही रहे कि पृथ्वी पर सूर्य उदय हो या अस्त हो। वास्तव में हमारा सारा ज्ञान कोरे अनुमान के आधार पर ही ठहरा हुआ है। बहुधा आधुनिक वैज्ञानिक यह दावा करने लगते हैं कि उनका ज्ञान तो ठोस सत्य के आधार पर है तथा अन्य प्रकार का ज्ञान कोरी कपोल कल्पना के आधार पर। इसी धारणा से वे कवि की वाणी को सत्य और वास्तविकता के आधार पर निर्भर करने वाली मानने को तैयार नहीं होते और केवल गणित को ही सत्य का मापदण्ड मानते हैं। इस तर्क में अन्य प्रकार के दोष होने के साथ ही साथ यह दोष भी है कि उनका गणित भी अनुमान के सहारे ही है किसी अपरिवर्त्तनशील सत्य के आधार पर नहीं है। दो और दो मिलकर चार होते हैं यह कथन इसी लिए तो सत्य माना जाता है कि अब तक के मानवी अनुभव में यह बात ठीक पायी गयी है। किन्तु मानव के अब तक के अनुभव को चरम तथा अमर सत्य मान लेना ही कहाँ तक उचित एवं तर्क पूर्ण ? क्या यह बात सत्य नहीं कि मानव-जीवन का तो प्रश्न ही क्या, स्वयं जीवन परिवर्त्तनशील है, इस कारण यह पूर्णतः सम्भव है कि भविष्य में जीवन की वैसी अनुभूति न हो जैसी कि पिछले युगों में होती रही है और यह लगने लगे कि दो और दो मिलकर तीन होते हैं न कि चार। आज यह बात अटपटी अवश्य लगती है, किन्तु इस बात का कोई ठेका नहीं कि आगे भी वह वैसी ही अटपटी लगेगी। इस सम्बन्ध में यहाँ यह कह देना

अनुपयुक्त न होगा कि अभी कुछ दिनों पूर्व तक गणितज्ञ यह अकाट्य सत्य मानते थे कि समानान्तर रेखाएँ कभी मिलती ही नहीं, परन्तु अब गणितज्ञ भी यह मानते हैं कि यह बात केवल पृथ्वी-तल तक ही ठीक है, खुले आकाश के लिए यह बात ठीक नहीं है और उसमें तो समानान्तर रेखाएँ भी मिलती हैं। विज्ञान के क्षेत्र से ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि कल तक वैज्ञानिक जिस बात को ठोस एवं अमर सत्य मानते थे वही नयी अनुभूतियों के कारण अर्द्धसत्य सिद्ध हुई हैं। अतः आज यह बात किसी हद तक कही जा सकती है कि हमारा सब ज्ञान बहुत कुछ अनुमान पर ही निर्भर करता है और वे बातें भी अनुमान पर ही आश्रित हैं जिन्हें हम अब तक ध्रुव सत्य मानते रहे हैं। अतएव यदि सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में अपनी पिछली अनुभूति एवं जानकारी के आधार पर मैं यह अनुमान लगाऊँ कि भविष्य में हमारे देश में राजनैतिक और सामाजिक जीवन का क्या रूप होना है तो मैं कुछ अनुचित बात न करूँगा।

यहाँ मैं एक बात और कह दूँ। बहुधा कहा जाता है कि इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता है। कुछ लोग इस कथन का यह अर्थ लगाते हैं कि प्रत्येक देश में युग-युग में वैसी ही राजनैतिक तथा सामाजिक घटनाएँ होती हैं जैसी कि पिछले युगों में हुई थीं। यदि भूतकाल में साम्राज्यों का उत्थान तथा पतन हुआ तो वैसा ही उत्थान और पतन अब भी होना है और आगे भी होता रहेगा। स्पष्ट है कि यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता। जैसे-जैसे समय बीतता गया है वैसे-वैसे मानव की अनुभूति, उसके उपकरण और साधन भी बढ़ते गये हैं। अतः जो बात एक युग में एक रूप में हुई वह बात बाद के युगों में उस रूप में हो सकती ही नहीं। बाद की घटनाएँ तो उस युग के ज्ञान तथा साधनों की रगड़ से मुक्त नहीं हो सकतीं। इसलिए उनका रूप गत युगों की घटनाओं के समान हो सकता ही नहीं। इस बात को पहचानकर कुछ विद्वान यह कह उठते हैं कि इतिहास की कभी पुनरावृत्ति नहीं होती। किन्तु मेरे विचार में यह कथन भी अत्यन्त व्यापक शब्दों में है और सत्य नहीं है।

बात यह है कि मानवों के सम्बन्ध में हुई अब तक की अनुभूति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मानव-प्रकृति में कुछ बातें तो ऐसी हैं जो युग-

युगान्तर में एक सी रहती हैं और कुछ ऐसी हैं जो परिवर्तनशील हैं। उदाहरणार्थ प्रत्येक मानव को भूख लगती है। मानव-प्रकृति में यह ऐसी बात है जो समय या आकाश से आबद्ध नहीं है। कोई ऐसा दिन नहीं हुआ जब मानव भूख से मुक्त रहा और इस गतानुभूति के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि आगे भी मानव भूख से मुक्त न होगा। इसी प्रकार मानव को काम-वासना होती है, आज भी होती है, पिछले सब युगों में होती थी और आगे भी होती रहेगी। यदि विचार करके देखा जाय तो भूख तथा काम-वासना इन दो मानव-प्रवृत्तियों की रगड़ से ही समस्त मानव इतिहास का प्रपंच फैला है। भूख एवं काम-वासना ऐसे दो किनारे हैं जिनके बीच में होकर और जिनके दबाव से जीवन-धारा बहती रही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इन दो चिर-प्रवृत्तियों की पूर्त्ति करने की रीतियाँ युग-युग में बदलती रही हैं। कोई युग था जब मानव पशुओं तथा अन्य मानवों का कच्चा मांस खाकर अपनी उदर-पूर्त्ति करता था, किन्तु कालान्तर में उसने मांस को पकाना सीख लिया और उससे अनेक व्यंजन बनाने आरम्भ कर दिये। कभी वह अपने नखों तथा दाँतों से मांस को चीर-फाड़कर खाता था पर बाद में उसने चाकू, काँटे और चम्टी का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। अतएव यह कहा जा सकता है कि मानव-जीवन में कुछ बातों की तो पुनरावृत्ति होती रहती है और कुछ बातें नयी-नयी होती हैं। जो बातें मानव की चिरस्थायी प्रवृत्तियों पर निर्भर करती हैं वे एक सूत्र की तरह मानव-जीवन के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैली हुई हैं और फैली रहेंगी, किन्तु जो क्षणिक तथा स्थानिक सुयोग एवं अवसर के कारण पैदा होती हैं वे बातें नित्य नये ढंग की होती हैं और होती रहती हैं। अतः चाहे इस कथन में कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती है और पुनरावृत्ति नहीं होती, विरोधाभास भले ही हो, किन्तु वह ठीक अवश्य है।

इस बात को यथावत् जान लेने पर हम यह जान सकते हैं कि समय विजयी इतिहास रूपी चश्मा कहाँ तक हमें भविष्य की बातें दिखा सकता है और कहाँ तक उन्हें दिखाने में वह असमर्थ रहेगा।

मेरा विचार है कि जहाँ तक मानव-समाज के व्यापक तथा बृहत भावी आकार का प्रश्न है यह चश्मा हमें उनकी झाँकी दिखा सकता है, किन्तु जहाँ

तक भविष्य की सूक्ष्म एवं ब्यौरे की बातों का प्रश्न है यह चश्मा हमारे लिए कार्य साधन नहीं हो सकता अतः इतिहास के इसी चश्मे के सहारे मैं भविष्य को पढ़ने का प्रयास करता हूँ।

मेरे मतानुसार हमारी भावी राजनैतिक और सामाजिक जीवन की रूप-रेखा उन प्रेरणाओं तथा शक्तियों द्वारा ही निर्मित होगी जिनका जन्म हमारे देश में सुदूर एवं निकट भूतकाल में हुआ था और जो आज भी इतनी सजीव बनी हुई हैं कि इस बात की लेशमात्र सम्भावना नहीं है कि कल तक वे प्राण-हीन हो जायँगी। जब ये शक्तियाँ आज से कल में घुसने वाली हैं ही तब यह कहना अनुपयुक्त नहीं कि ये कल की रूपरेखा को भी निर्मित करेंगी। ये प्रेरणाएँ और शक्तियाँ क्या हैं ?

सर्वप्रथम मैं उन प्रेरणाओं का वर्णन किये देता हूँ जो अंग्रेजी साम्राज्य ने भारत में पैदा कीं और जो अंग्रेजों के चले जाने के पश्चात् भी यहाँ बची हुई हैं। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि अंग्रेजों के लिए अपनी ही जन या धन-शक्ति से सम्भव न था कि वह भारत के राजनैतिक या आर्थिक तन्त्र को अपने वश में कर लें। उनका देश इतनी दूर था तथा उन दिनों आर्थिक दृष्टि से इतना निर्बल था कि उनके लिए यह सम्भव न था कि अपने व्यय पर सज्जित किसी बड़ी सेना को भारत-विजय के लिए भेजें या विजय के पश्चात् अपना राज-काज चला सकें। अतः यह बात अनिवार्य थी कि वे इस बात का प्रयास करें कि भारत के ही धन और भारत के ही लोगों की सहायता से भारत में अपना राज्य स्थापित करें एवं उसे चलावें। जब वे भारत आये तो उनका जितना सम्बन्ध यहाँ के कुछ राजाओं से हुआ उससे कहीं अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध यहाँ के कुछ व्यापारियों से हुआ। उन दिनों भी विदेशों से व्यापार करने में भारी लाभ था। अतः कुछ भारतीयों का अंग्रेजों से ऐसा आर्थिक गठबन्धन हो गया कि अंग्रेजों के भाग्य से उनका आर्थिक भाग्य बँध गया। ये व्यापारी अधिकतर हिन्दू धर्मावलंबी थे। यद्यपि वे अपने को अंग्रेजों से पृथक् मानते थे, किन्तु उनको यह न लगता था कि अंग्रेजों की अपेक्षा भारत के तुर्की, पठानी, मुगली या ईरानी विदेशी शासक उनके अधिक निकट हैं। इसके विपरीत उनमें से अनेक इन विदेशी शासकों के रंग-ढंग से इतने तंग आ गये थे कि वे कुछ हानि

सह कर भी इन लोगों के शत्रुओं और विपक्षियों का साथ देने को तैयार थे। अंग्रेजी व्यापारियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में तो उन्हें अच्छा-खासा आर्थिक लाभ भी था। अतः यह स्वाभाविक था कि ये भारतीय हिन्दू व्यापारी भारत में तुर्की, पठानी, मुगली या ईरानी शासकों के विरुद्ध अंग्रेजों के साथी बन जायँ। ऐसा ही हुआ भी। भारत के इन साहूकारों अपने साथ हो जाने से अंग्रेजों के लिए यह सुविधा हुई कि भारत के ही धन से भारत के ही युवक वीरों को अपनी सेना में भर्त्ती करे और भारत के अन्य शासकों से लड़ें-भिड़ें। जैसे-जैसे समय बीतता गया उन भारतीयों की संख्या बढ़ती गयी, जिनका अंग्रेजों से ऐसा सम्पर्क था और जिनका अपना आर्थिक भाग्य तथा भविष्य भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार पर निर्भर करता था। जब पूरे भारत पर अंग्रेजी साम्राज्य छा गया उस समय तक भारत में भारतीयों का ही ऐसा पर्याप्त बड़ी संख्या वाला वर्ग बन चुका था जो भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के छोटे भागीदार थे और जिनका यह निहित स्वार्थ था कि भारत में वह साम्राज्यवाद बना रहे। तत्पश्चात् साम्राज्य के चलाने को भी अंग्रेजों को भारतीयों की आवश्यकता हुई। अंग्रेजों के लिए यह सम्भव न था कि वे भारत के ग्राम्य प्रदेशों में अपने अंग्रेज शासनकर्त्ता या व्यापारिक क्षेत्र में अपने अंग्रेजी व्यापारी रखें। किन्तु उन प्रदेशों में अपने विश्वसनीय जनों को रखे बिना अंग्रेजों के लिए यह भी सम्भव न था कि वे भारत में अपना राज्य या व्यापार चला सकें। अतः उन्होंने इन प्रदेशों में ऐसे भारतीय रखने आरम्भ किये जो यह जानते तथा मानते थे कि उनका अपना वैभव, ऐश्वर्य एवं प्रभुत्व अंग्रेजों के ही भाग्य पर निर्भर करता था। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि जहाँ भी अंग्रेज गये वहाँ ही उन्होंने ऐसी नीति अपनायी कि उन प्रदेशों में के पुराने जमींदार, जो मुगलों या अन्य विदेशियों के विश्वसनीय जन थे और जिनका आर्थिक तथा मानसिक गठबन्धन उन पुराने विदेशी शासकों से था, बरबाद हो गये एवं उनकी जमींदारियाँ अंग्रेजों के कारकुनों के हाथों में आ गयीं। ऐसे ही शासकीय क्षेत्र में भी ऐसे ही व्यक्ति पैदा करने को अंग्रेजों ने भारत की शिक्षा-पद्धति का माध्यम और उद्देश्य बदल कर अंग्रेजी भाषा तथा अंग्रेजी संस्कृति कर ली, जिससे कि ये व्यक्ति चाहे चमड़ी में भारतीय क्यों न बने रहें, किन्तु

मन में वे पूरे अंग्रेज हो गये । जैसे-जैसे यह शिक्षा भारत में फैली वैसे-वैसे भारत में इन बादामी अंग्रेजों की संख्या बढ़नी आरम्भ हो गयी और जब भारत से सफेद अंग्रेजों के जाने का समय आया उस समय इन बादामी अंग्रेजों की संख्या भारत में लाखों हो चुकी थी । ये भारत के छोटे-छोटे नगरों में भी बसे हुए थे । इन लोगों का यह निहित स्वार्थ था, और अंग्रेजों के चले जाने के पश्चात् भी है, कि भारत में यह शासन-प्रणाली बनी रहे जिसके ये स्वयं अंग हैं, एवं जिस पर बैठे हुए भी ये भारत के साधारण जन का आर्थिक तथा राजनैतिक दोहन करते रहे हैं । इतना ही नहीं, भारत छोड़ने से पूर्व अंग्रेजों ने इस बात का भी प्रबन्ध कर दिया कि उनके जाने के पश्चात् उनके ये छोटे भागीदार और राजकर्मचारी अपदस्थ न किये जा सकें । परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों के जाने के पश्चात् शासन-यन्त्र इन्हीं लोगों के हाथ में पड़ गया । उससे पूर्व इस तन्त्र के महत्त्वपूर्ण पदों पर अंग्रेज शासक आरूढ़ थे और ये लोग उनके अनुयायी । किन्तु जब अंग्रेज शासक चले गये तो इन महत्त्वपूर्ण स्थानों पर बादामी अंग्रेज छा गये । इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं कि उन अनेक नलियों में से, जिनके द्वारा अंग्रेज भारत का रक्त चूसते थे, एक बड़ी नली यह शासनतन्त्र था । इसके जरिये करोड़ों रुपया अंग्रेजों की जेब में जाता था, उन्हें मालामाल करता था । अंग्रेजों के जाने के पश्चात् इस रक्त-शोषक नली के मालिक ये बादामी अंग्रेज बन बैठे और भारत की जनता का करोड़ों रुपया इन लोगों की जेबों में जाने लगा । इन लोगों का महत्त्व इसी-लिए था कि उस शासन-प्रणाली के रहस्यों से ये परिचित थे जिसे अंग्रेजों ने भारत में कायम किया था । न तो भारत के राजनैतिक नेता और न अन्य इन रहस्यों को जानते थे अतः इन बादामी अंग्रेजों का यह निहित स्वार्थ हो गया है कि ये इस शासन-पद्धति को यथाशक्ति उसी रूप में रखें जो अंग्रेजों के सामने थी जिससे इनकी अपनी प्रभुता तथा समृद्धि पर कोई हानिकर प्रभाव न पड़े । यह ठीक है कि राजनैतिक आन्दोलन और राजनैतिक नेताओं के दबाव से इसमें कुछ परिवर्त्तन हुआ है, किन्तु तब भी इसका मूल रूप नहीं बदला है । यह आज भी भारत में दोहन का वैसा ही प्रभावशाली साधन है जैसा कि यह अंग्रेजों के सामने था । साथ ही इन बादामी अंग्रेजों की मनोवृत्ति

एवं प्रेरणाएँ भी वही हैं जो इनकी तब थीं जब ये अंग्रेजी साम्राज्यवाद के बादामी रंग वाले भागीदार थे। भारत में किसी प्रकार के शासन-परिवर्त्तन से इन लोगों के अपने हितों पर हानिकर प्रभाव पड़ सकता है अतः आज के भारत में ये ऐसी शक्ति हैं जो किसी प्रकार के आमूल परिवर्त्तन के पूर्ण विरोधी हैं और वर्त्तमान अवस्था को ही चिरस्थायी बनाना चाहते हैं।

इन्हीं लोगों के हाथ में यह शक्ति है कि ये भावी राजकर्मचारियों की भर्ती करें तथा उन्हें शासन के लिए आवश्यक शिक्षा दें। स्वभावतः ये इन नये राजकर्मचारियों की भर्ती करने में भी उन्हीं बातों को ध्यान में रखते हैं जो इनकी दृष्टि में वर्त्तमान शासन के समुचित रूप से चलाने को आवश्यक समझी जाती हैं। अंग्रेजी साम्राज्य के दिनों में भारतीय शासन के बारे में यह आधारभूत मान्यता थी कि वह इतनी शक्ति बनाये रखने के लिए तत्पर रहे जितनी भारत के आर्थिक साधनों तथा जन-शक्ति के सफल दोहन के लिए आवश्यक है। इसलिए राजकर्मचारियों का मुख्य कर्त्तव्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत प्रदेश में शान्ति कायम रखना होता था। वह यह शान्ति अपने दबदबे और पुलिस के डंडे के जोर से बनाये रखता था। यद्यपि उन दिनों भी ये राजकर्मचारी अपने को जनता का श्रद्धावान सेवक लिखते थे, किन्तु वास्तव में थे ये तानाशाह। यह आकस्मिक बात न थी कि जिले के कलेक्टरों के बारे में यह विचार फैला हुआ था कि यदि ईश्वरी सत्ता से बढ़कर नहीं तो कम से कम उसके तुल्य ही उसकी शक्ति है। अतः अंग्रेजी साम्राज्य के युग में इन राजकर्मचारियों को इस बात की शिक्षा दी जाती थी कि वे किस प्रकार जनता पर अपना दबदबा रखें और कैसे शासन के रूप में व्यवहार करें। सिन्दबाद नाविक के कंधे पर चढ़ बैठने वाले बुढ्ढे के समान ही इन्हें भी भारत के जनसाधारण के कन्धे पर चढ़ बैठने, वहाँ डटकर बैठे रहने के कौशल तथा कला की विद्या सिखायी जाती थी। उन दिनों जो राजकर्मचारी इस प्रकार जनता के गले पर सवार रहने के आवश्यक गुणों से हीन होता था वह असफल माना जाता था। भारत के भावी राजकर्मचारियों को उन्हीं गुणों से मण्डित करने का कार्य आज भी चल रहा है। फल यह है कि नया राजकर्मचारियों का वर्ग अपने को जनता का वैतनभोगी भृत्य न समझ कर जनता तथा भारत का

स्वामी मानता है। अंग्रेजों के युग में तो यह विचार था ही, आज के राजकर्मचारियों के मन में भी यह विचार है कि भारत उनके लिए है, वे भारत के लिए नहीं हैं। मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि हमारे राजकर्मचारियों में राष्ट्र भावना है ही नहीं। उनमें राष्ट्र भावना है, किन्तु वैसी ही राष्ट्र भावना है जैसी कि आस्ट्रेलियनों, कैनेडा वालों में है। वे लोग अधिकतर अंग्रेजी जाति के ही हैं और उनके पूर्वज इंगलैंड से ही आये थे। किन्तु अंग्रेज होते हुए भी वे यह पसन्द न करते थे कि उन पर शासन करने की शक्ति केवल इंगलैंड-वासियों के ही हाथ में हो। इस हेतु उन्होंने इंगलैंड से यह माँग की कि वह उनके यहाँ स्वायत्त शासन-प्रणाली स्थापित करें। उनमें इंगलैंड के प्रति मोह तथा प्रेम था, किन्तु साथ ही उन्हें अपने नये गृह के प्रति प्रेम भी हो गया था। इस प्रकार उनके लक्ष्य व एक साथ ही दो राष्ट्र-प्रेम थे। अपने पूर्वजों की जन्म-भूमि के प्रति प्रेम अपनी ही जन्मभूमि के प्रति प्रेम से कहीं क्षीण था। इसी प्रकार के दो प्रकार के राष्ट्र प्रेम इन भारतीय राजकर्मचारियों में हैं। इनका इंगलैंड के प्रति प्रेम तो अंग्रेजी साम्राज्यवाद के युग में हो ही गया था। इंगलैंड को ये "होम" कहकर पुकारते थे किन्तु इनके निजी स्वार्थ भारत भूमि और उसके वासियों से बँधे हुए थे, अतः इनका भारत के प्रति भी प्रेम था। जब तक अंग्रेजी साम्राज्य भारत में रहा इनका यह भारत प्रेम दबा-सा बना रहा, किन्तु अंग्रेजों के भारत छोड़ने के उपरान्त इनका यह भारत प्रेम उमड़ आया है।

किन्तु भारत प्रेम एक बात है और जन-सेवा की भावना दूसरी बात है। यह ठीक है कि यदि राष्ट्र भावना तथा जन-सेवा भावना दोनों एक साथ मिल जाती हैं तो सामूहिक प्रगति बड़ी द्रुत गति से होती है किन्तु जिन परिस्थितियों में एवं जिन आन्दोलनों के दबाव से इन राजकर्मचारियों की मनोवृत्ति अपने बाल्यकाल से बनी वह ऐसी थी कि उससे इनके मन में निस्पृह सेवा भावना के जागृत और सक्रिय होने का प्रश्न ही पैदा न होता था; जैसा मैं कह चुका हूँ कि इन्हें तो अंग्रेजी साम्राज्यवाद का छोटा भागीदार बनना था। इस हेतु इन्होंने जानकर अपनी ऐसी मनोवृत्ति बनायी थी कि ये वह काम सफलतापूर्वक कर सकें। आज चाहने पर भी ये अपनी इस मनोवृत्ति को बदल नहीं सकते। पर

इनके मन में ऐसी इच्छा उत्पन्न होने का भी तो प्रश्न पैदा नहीं हुआ है और न पैदा होने की कोई सम्भावना है। ये दिखावे के लिए कुछ भी क्यों न कहें, या आचरण करें, वास्तव में इनके मन में यह भावना वर्तमान है कि भारत के वास्तविक शासक ये हैं, न कि जनता ; वह शक्ति-सूत्र जो अंग्रेजों के हाथ से सन् १९४७ में छूट पड़ा था इनके ही हाथ में आया है और इनके ही हाथ में रहना चाहिए।

मेरा विश्वास है कि इनकी यह प्रवृत्ति भावी भारतीय जीवन और इतिहास की गतिविधि को पर्याप्त प्रभावित करेगी। उसका आज भी यह फल हो रहा है कि ये जो चाहते हैं, पसन्द करते हैं, वही होता है। भारत की राज्य-क्रान्ति के सेनानी जो आज भारत सरकार के प्रमुख नीति-निर्धारक तथा संचालक समझे जाते हैं, कुछ क्यों न चाहें, वे तब तक अपनी इच्छा को फलवती नहीं कर पाते जब तक कि ये राजकर्मचारी भी उस इच्छा का स्वागत न करते हों। अतः आज यह अवस्था पैदा हो गयी है कि जिस नव समाज के स्वप्न से प्रेरित होकर हममें से अनेक राष्ट्रीय राज्य-क्रान्ति में सम्मिलित हुए थे उसकी रचना नहीं हो पा रही है। जो लोग उस नव समाज के आदर्श से प्रेरित थे, यद्यपि उनमें से कुछ अग्रगणी भारत शासन के प्रमुख स्थानों में अवश्य हैं तथापि उनमें से भारी बहुसंख्यक लोगों का न तो भारतीय प्रशासन से कोई वास्ता है और न वास्ता रखने दिया जाता है। परिणाम यह है कि नव-समाज की सफल रचना का कार्य इन बादामी अंग्रेजों के हाथ में पड़ा है। कैसी विडम्बना है यह कि साम्राज्यवादियों को क्रान्ति का अग्रदूत माना जाय, किन्तु भारत में यह अनोखी बात आज है।

मुझे यह भय है कि इस विरोगर्भित परिस्थिति से कहीं भविष्य में भारत में सरकार और जनता में पुनः संघर्ष पैदा न हो जाय। इतना तो स्पष्ट है कि यदि ये बादामी अंग्रेज अपनी मनोवृत्ति को पूर्णतः नहीं बदलेंगे तो यह संघर्ष अनिवार्य हो जायगा। जब तक भारत के जनसाधारण राजनैतिक बातों के प्रति उदासीन थे, जब तक राज्य उनके लिए एक सुदूर तथा आपातावस्थाओं में ही उनके जीवन में सक्रिय होने वाली बात थी तब तक यह सम्भव था कि राज्य में तानाशाहों के बने रहने पर भी जनता उनके विरुद्ध विप्लव न करे,

किन्तु आज यह बात नहीं है, भविष्य में तो किसी अवस्था में भी न रहेगी। आज भारत की जनता के जीवन में राज्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो उठा है। उसने आवागमन, औद्योगिक उत्पादन और वितरण के साधनों, शिक्षण एवं सामाजिक कार्यों को भी इतनी सीमा तक अपने हाथ में ले लिया है कि राज्य के हाथ हिलाये बिना अब जनता अपना दैनिक कार्य भी नहीं कर सकती। अतः यह स्वाभाविक ही है कि हर बात के लिए आज जनता राज्य की ओर देखे। ऐसी अवस्था में यदि राजकर्मचारी जनता के दोहक होंगे, उसकी आवश्यकताओं को गौण मानकर अपने हित साधन में निरत रहेंगे तो जनता उन्हें देर तक अपने कन्धे पर वहन न करेगी, उन्हें नीचे पटकने को आतुर और उतावली हो जायगी। नौकरशाही और जनता में आज जो निहित विरोध है वह भावी संघर्ष का द्योतक है। भविष्य में मुझे यह संघर्ष असम्भव प्रतीत नहीं होता।

हाँ, यदि अभी से इस विरोध को दूर करने के लिए आवश्यक कदम हम लोग उठाने लगें तो सम्भवतः यह संघर्ष टल जाय। यदि अभी तक यह संघर्ष फूट नहीं पड़ा है, तो इसका प्रमुख कारण यही है कि अभी तक ये राजकर्मचारी उन लोगों की आड़ में अपना कार्य करते हैं जिन पर जनसाधारण विश्वास रखते हैं कि वे लोग उनके हितचिन्तक हैं और उन्हीं की हित साधना के लिए अपना जीवन अर्पित कर चुके हैं। किन्तु जब भारत के जनसाधारण का यह विश्वास जाता रहेगा, या भारत के ऐसे जन नेता काल के कराल गाल में चले जायँगे, तब उस संघर्ष के फूट पड़ने में देर न लगेगी। मुझे यह बराबर दिखायी पड़ रहा है कि जनता का नेताओं पर से भी विश्वास शनैः शनैः उठता जा रहा है और इसके उठने में इन तानाशाह राजकर्मचारियों का कम हाथ नहीं है। इन लोगों ने अपनी शक्ति अक्षुण्ण रखने को उस दिन से ही, जब अंग्रेज भारत से गये, लोगों के कान में यह बात फूँकनी शुरू कर दी है कि भारतीय राज्य-क्रान्ति के सेनानी राज्य चलाने की योग्यता से तो शून्य हैं ही, वे सेवाधर्म से भी प्रेरित नहीं हैं, ईमानदार भी नहीं हैं। कांग्रेसी मन्त्रियों पर जो यह प्रच्छन्न आक्षेप होते हैं मुझे विश्वास है कि अधिकतर इन्हीं राजकर्मचारियों के इशारों पर होते हैं। मैं यह जानता हूँ कि आपस में ये लोग

जब मिलते हैं तब इसी प्रकार के विचारों का प्रसार करते हैं। यह ठीक है कि ऐसा करके ये लोग उसी शाखा को काट रहे हैं जिस पर ये स्वयं बैठे हुए हैं, किन्तु यदि मानव-जीवन में ऐसा न होता तो फिर अन्याय भला मिटता ही क्योंकर ?

यदि आततायी और अन्यायी की आँखों में अपने ही मद की चर्बी भर न जाती, यदि उनकी आँखों पर अपने ही स्वार्थों की पट्टी न बँध जाती तो भला उन्हें क्योंकर ढाया जा सकता ? उनकी हरकत से जनता तथा उनके अपने पारस्परिक संघर्ष का दिन निकट आ रहा है। पर क्या यह उचित नहीं कि इस बात का प्रयास किया जाय कि इस संघर्ष के कारण को ही समय रहते समाप्त कर दिया जाय।

मेरा अपना विचार है कि यदि तुरन्त इसका प्रबन्ध कर दिया जाय कि आगे के राजकर्मचारियों की भर्ती तथा शिक्षा इन लोगों के हाथ से ले ली जाय और ऐसी संस्थाओं को सौंपी जाय जिसमें वे लोग हैं जिन्हें अफलातूँ (प्लेटो) के शब्दों में जन-हितों का सच्चा संरक्षक कहा जा सकता है, जिनके मन में सेवाधर्म प्रधान है, जो अपने स्वार्थों को जन-हित के लिए तिलांजलि दे चुके हैं, तो सम्भवतः भावी राजकर्मचारियों की मनोवृत्ति ऐसी बन सके कि वे अपने को जनता का सेवक मानें और तदनुकूल अपना आचरण रखें। यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर दूँ कि मैं यह नहीं समझता कि केवल एक स्वायत्त विभाग स्थापित करके एवं प्रतियोगात्मक परीक्षाओं के द्वारा ही यह उद्देश्य सिद्ध किया जा सकता है। यह प्रबन्ध तो आज भी है, किन्तु जब तक उस स्वायत्त विभाग अर्थात् लोकसेवा आयोगों में इस मनोवृत्ति वालों का ही प्राधान्य है, जब वे लोग सेवा-धर्म के आदर्श से प्रेरित नहीं हैं, जब वे सेवा-धर्म आदर्श वाले युवकों को शासन के योग्य नहीं समझते, तब यह सम्भव हो ही कैसे सकता है कि वे भावी राजकर्मचारियों को सेवा-धर्म की दृष्टि से चुनें। साथ ही मैं यह नहीं समझ पाता कि यह मान्यता क्योंकर ली जाय कि केवल शासन में ही कार्य करने वाले लोग निष्पक्ष भावना से कार्य कर सकते हैं और जो राजनीतिज्ञ हैं वे अवश्य पक्षपाती होते हैं। इसी मान्यता के आधार पर ही तो आज के ये लोक सेवा आयोग स्थापित एवं गठित हैं। इसी मान्यता के कारण तो

यह बात कही जाती है कि इन आयोगों में राजनीतिज्ञों को पद नहीं मिलना चाहिए। यह ठीक है कि इंगलैंड में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व जो राजनीतिज्ञ थे वे लोग योग्यता-अयोग्यता का विचार किये बिना अपने पिट्ठुओं को राज्यपदों पर रख लिया करते थे। किन्तु यह बात भी न भूलनी चाहिए कि इंगलैंड के ये राजनीतिज्ञ सामन्तवर्ग के होते थे, वे राज्यतन्त्र को अपने वर्गगत हितों की साधना का ही साधन समझते तथा मानते थे। वे सेवा-धर्म के आदर्श से न तो परिचित थे और न प्रेरित। अतः उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे अपने स्वार्थों को ही सर्वोपरि रखें। इसलिए इंगलैंड में यह विचार पैदा हुआ कि शासन पदों पर नियुक्त करने का अधिकार राजनीतिज्ञों के हाथ में न रहे। यह विचार भी इन्हीं राजनीतिज्ञों के मन में पैदा हुआ था, वह भी अधिकतर इसीलिए कि उनमें परस्पर इस कारण द्वेष पैदा न हो कि उनका साथी अलग कर दिया गया। इस विचार की जड़ में सेवा-धर्म की भावना न थी वरन् यह भावना थी कि पारस्परिक द्वेष से कहीं वे उस राज्यतन्त्र को दुर्बल न कर डालें जिसके सहारे वे इंगलैंड के और पृथ्वी के अन्य देशों के साधारण जन का दोहन कर रहे थे। जहाँ-जहाँ सामन्त वर्ग राज्यतन्त्र को अपने हित साधन का साधन मानता है वहाँ-वहाँ इस विचार का प्रसार भी हुआ है; किन्तु जहाँ राज्य सामन्त वर्ग के हित साधन का माध्यम ही न रह कर जन हित साधन का माध्यम हो गया है वहाँ इस प्रकार के विचार का महत्त्व ही जाता रहा है। वहाँ पदों पर नियुक्ति करने के अधिकार से राजनीतिज्ञ वंचित नहीं हैं। रूस और चीन इसके उदाहरण हैं। यदि इस ऐतिहासिक तर्क को थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दिया जाय तब भी भारत के शासक वर्ग के बारे में तो यह बात नहीं कही जा सकती कि वे निष्पक्षता के अवतार हैं। इसके विपरीत उनकी सारी पिछली शिक्षा तथा आधारभूति मनोवृत्ति तो स्वार्थ-साधना एवं जन-दोहन के आदर्शों से ओतप्रोत रही है अतः उनके लिए तो यह सम्भव है ही नहीं कि वे कहीं भी निष्पक्षता से कार्य कर सकें। इस वास्तविक तथ्य की ओर आँखें बन्द करके और उन्नीसवीं शताब्दी के इंगलैंड में उत्पन्न हुए कोरे प्रशासनिक सिद्धान्त के आधार पर ही भरोसा करके भारत के भावी राजकर्मचारियों की भर्त्ती पूर्णतः इन स्वार्थी लोगों के हाथ में सौंप देना कम से कम मुझे उचित

प्रतीत नहीं होता। हो सकता है कि सन् १९४७ के तुरन्त पश्चात् पैदा हुई अराजक परिस्थितियों में यह वर्ग अपनी पिछली शिक्षा और शासनसूत्र पर एकाधिपत्य रखने के कारण हमारी राज्य-क्रान्ति के अग्रगणियों के लिए उत्तम साधन सिद्ध हुआ हो, किन्तु इसी कारण यह मान्यता नहीं कर लेनी चाहिए कि ये लोग सर्वथा स्वार्थ-त्यागी तथा सेवा-धर्म से प्रेरित हैं। इन्होंने उस समय भी अपनी स्वार्थ-साधना के लिए वह कार्य किया था, आज भी अपनी पदोन्नति तथा अपनी स्वार्थ-साधना की भावना से ही ये प्रेरित हैं इसलिए ये न तो नव समाज और न नव शासन के रचयिता हो सकते हैं। उसकी रचना के लिए उचित सहायक साम्राज्यवाद के इन प्रहरियों को क्रान्ति का सैनिक मानना भारी भूल है अतएव यह आवश्यक है कि शनैः शनैः इन लोगों को उन महत्त्वपूर्ण स्थानों से हटा दिया जाय जिन पर रहते हुए ये भारत के भाग्य-विधाता बने हुए हैं। तभी यह कहा जा सकेगा कि भारत की राज्य-क्रान्ति ने अंग्रेजों और उनके पिट्ठुओं के हाथ से राज्य-शक्ति लेकर भारतीय जनता को दे दी। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक विधि की दृष्टि से भले ही राज्य-शक्ति भारत की जनता में निहित हो, वास्तव में वह अंग्रेजों के पिट्ठुओं के हाथ में रही आयेगी। कम से कम ऐसा करने पर ही उस संघर्ष की सम्भावना दूर होगी जिसके बारे में अपनी आशंका पहले बता चुका हूँ।

इसके अतिरिक्त भारत के भावी राजकर्मचारियों की शिक्षा-दीक्षा की दिशा तथा क्रम भी बदलना आवश्यक है। इनकी ठाट-बाट से रहने की शिक्षा का अन्त होना चाहिए। आजकल इनकी शिक्षा के लिए जो शासनिक केन्द्र हैं उनमें अभी तक उसी साम्राज्यवादी ढंग की ही शिक्षा दी जाती है और उन्हें साहबी ढंग से रहना सिखाया जाता है। कहाँ तो बापू ने भारत के युवक-युवतियों के समक्ष जीवन का यह आदर्श रखा था कि वे दरिद्रनारायण की सेवा के हेतु अपना जीवन अत्यन्त सादा रखें, किसी तरह का ठाट-बाट न करें एवं अपने हाथ से हर प्रकार का कार्य करने को तत्पर रहें और कहाँ हमारी नव समाज की रचना के मानवी साधन निर्माण करने को शासनिक केन्द्र में ठाट-बाट से रहना तथा सतत दूसरों से अपनी सेवा कराने का पाठ पढ़ाया जा रहा है। यह कहा जाता है कि महापुरुषों के धर्म का पतन उनके अनुयायियों

द्वारा ही हुआ करता है। ये अनुयायी ही वास्तव में अपने आचार्यों की आत्मा का हनन करने वाले होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कहावत बापू के बाद भी सत्य सिद्ध हो रही है। भले ही उनकी शारीरिक हत्या किसी जड़मत व्यक्ति द्वारा की गयी थी, किन्तु उनके सिद्धान्त की, उनके अमर रूप की हत्या के अपराध के तो वे ही लोग भागी हैं जो कल तक उनके साथ थे और उनके सैनिक होने का दम भरते थे। मैं समझता हूँ कि आज तथा भावी भारत में एक ओर अंग्रेजी साम्राज्यवादी संस्कृति और दूसरी ओर गान्धीवादी संस्कृति का संघर्ष हो रहा है और होगा। जो लोग गान्धीवादी हैं उनका यह धर्म होना चाहिए कि वे इस साम्राज्यवादी संस्कृति के तख्ते को ढा दें; किन्तु अत्यन्त खेद की बात है कि उनमें से अनेक लोग जो कल तक गान्धीजी के साथी थे आज साम्राज्यवाद के इस तख्ते का पोषण कर रहे हैं, न कि उसके ढाने का प्रयास और ऐसा करके भारतीय जनता और राजतन्त्र में घोर संघर्ष की सम्भावना पैदा कर रहे हैं। अभी घटनाओं का क्रम हमारे हाथ से निकल नहीं गया है। अब भी हम यह प्रयास कर सकते हैं कि साम्राज्यवाद के इस ढाँचे को जर्जरित करके भारत से साम्राज्यवादी शक्तियों तथा प्रेरणाओं को दूर कर दिया जावे एवं इस संघर्ष की सम्भावना को दूर कर दिया जाय। ऐसा करने के लिए एक कदम यह है कि सब भावी राजकर्मचारियों की शिक्षा का ढंग बदल दिया जाय। पुलिस, सेना तथा अन्य शासन सम्बन्धी सब विद्यालयों का शिक्षा ही नहीं पर सम्पूर्ण शिक्षा माध्यम, पाठ्य विषय इत्यादि-इत्यादि में ऐसा परिवर्त्तन कर दिया जाय कि हमारे देश में शिक्षा पाने वाले लोग सेवा-धर्म में दीक्षित हो जायँ।

इस परिवर्त्तन की बात से मुझे उस दूसरी प्रेरक शक्ति का स्मरण हो आता है जो आज भी भारत का हृदय चीरे हुए है और भविष्य में अत्यन्त घातिनी सिद्ध हो सकती है। यह प्रवृत्ति भी अंग्रेजी साम्राज्य की पिछलन है। भारत में बादामी अंग्रेजी जाति का सर्जन करने के लिए अंग्रेजों ने यहाँ अंग्रेजी संस्कृति, अंग्रेजी इतिहास और अंग्रेजी साहित्य की शिक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा देनी आरम्भ की थी। उन्होंने हमारे देश के युवकों के मन में यह भावना भरनी आरम्भ की थी कि भारत में जो कुछ भव्य है, जो कुछ आदरणीय है, जो कुछ अनुकरणीय है, जो कुछ संपादनीय है वह सब अंग्रेजी राज्य की ही देन

है। उससे पूर्व भारत में जो कुछ था वह तो हेय और नगण्य ही था। अतः विद्यालयों में अंग्रेजी के अध्यापकों का दर्जा उच्च था और भारत के पण्डित हेय समझे जाते थे। उन्होंने काशी, नासिक, गौड, दरभंगा, जयपुर, मदुरा जैसे प्राचीन संस्कृति शिक्षा-केन्द्रों को तो पीछे डाल दिया और लोगों के आगे रख दिये अपने द्वारा स्थापित नये विद्यालय तथा विश्वविद्यालय। भारत के पुराने शिक्षालय तो हो गये तिरस्कृत और राज्य के चहेते बन गये कल के स्थापित हुए स्कूल और कालेज, जिनकी न जड़ें थीं, न परम्पराएँ थीं, न भारतीय जन-जीवन से कोई वास्ता था। फल यह हुआ कि हमारा नव-सर्जित शिक्षित वर्ग अपने देश को भूल गया, अपने जातीय गौरव से अपरिचित रह गया और इंगलैंड के साहित्य तथा भाषा का पण्डित बन गया। कैसी विडम्बना थी यह कि भारतीय राष्ट्रीयता के युग में भारत के अनेक शिक्षितों को भारत का ही ज्ञान न था और उन्हें भारत जानने को पुनः अध्ययन करना पड़ा, साथ ही यह विडम्बना और भी भयानक थी कि भारतीय राष्ट्रीय राज्य-क्रान्ति के अग्रगणी भी बने वे लोग जो भारत से अपरिचित से थे जो इंगलैंड को ही आदर्श देश समझते, मानते और जो यह विश्वास करते थे कि भारत के इतिहास की चरम सार्थकता तभी होगी जब भारत दूसरा इंगलैंड बन गया होगा। इस प्रवृत्ति के कारण भारत के साधारणजनों में और इन बादामी अंग्रेजों में खाई-सी खिंच गयी है। परिणाम यह हुआ है कि भारतीय जनता और इन बादामी अंग्रेजी वर्ग में द्वेष तथा वैमनस्य के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यदि अभी तक यह द्वेष पूरी मात्रा में व्यक्त नहीं हुआ तो उसका श्रेय पूज्य बापू को है। उन्होंने एक प्रकार से बलात् खींचकर इस अंग्रेजी वर्ग को जन-मन से बाँध लिया था और अपने जीवन से जन-मन को यह विश्वास दिला दिया था कि वे जनता के हित के लिए ही जीवित हैं। अतः उनके इन साथियों के प्रति भी जनता के मन में आदर और मोह पैदा हो गया था, किन्तु जब सन् १९४७ के पश्चात् बापू ने इस अंग्रेजी वर्ग का रवैया देखा तो उनका माथा ठनका। उन्होंने बार-बार हरिजन में लिखा कि भारत का उद्धार अंग्रेजियत में नहीं है, किन्तु उस समय उनकी बात सुनने वाला था ही कौन, जो थे भी वे उन्हें अपरिचित और सनकी समझ कर तिरस्कृत करने लगे थे। पर सम्भवतः मेरी यह भूल है।

बापू की आवाज सुनने वाली जनता तब भी वर्त्तमान थी, पर बापू ने तब तक उसे यह आदेश न दिया था कि वह इस अंग्रेजी वर्ग से अपना सहयोग करना छोड़ दे या उसके विरुद्ध विप्लव कर दे ; नहीं तो यह कहा जा सकता है कि उनकी एक हुंकार पर ही इस अंग्रेजी वर्ग के अस्तित्व का भी चिह्न भारत भूमि पर न मिलता। पर उन्होंने उन दिनों की परिस्थितियों को ध्यान में रख कर इस संघर्ष का प्रारम्भ करना वांछनीय नहीं समझा। किन्तु क्या उनके हटा दिये जाने से ही इस संघर्ष की सम्भावना मिट गयी है, नहीं। यदि हमारे अंग्रेजी वर्ग ने अपना कलेवर न बदला, उसने भारत की सांस्कृतिक और सच्ची नागरिकता स्वीकार न की और वह भारतीय इतिहास धारा में स्वतः ही लीन न हो गये तो यह संघर्ष होगा। इतिहास ऐसे लोगों को चुनौती दे रहा है कि बदलो या मिटो। पर वे कान में रूई डालकर चलते-से दिखायी पड़ते हैं। वे सम्भवतः यह समझते हैं कि उन्हें नहीं बदलना है, भारत की जनता को ही स्वयं बदल जाना है। वे आज भी अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य, अंग्रेजी संस्कृति के हिमायती हैं और समझते हैं कि अंग्रेजियत ही संसार का आधुनिक युग धर्म है और उसी को अपनाने में भारत का कल्याण है। मैं यह जानता हूँ और पूर्णतः मानता हूँ कि बहुत सी बातें हमें सीखनी हैं, किन्तु मैं यह नहीं मानता कि भारत का कल्याण उस सेवा-धर्म के अतिरिक्त और किसी पथ पर चलने में है, जिसे उसके प्राचीन ऋषियों ने पहचाना था, जिसके बल पर ही वह अनेक युगों तक संसार के देशों का सिरमौर बना रहा और जिसके कारण ही भारतीय संस्कृति अनेक कठिनाइयों और विपदाओं के बावजूद आज भी जीवित है और जिस पर चलने का ही आदेश पूज्य बापू ने हमें दिया था। अतः मेरा यह विश्वास है कि यदि भारत को भावी संघर्ष से बचना है तो यह आवश्यक है कि यह अंग्रेजी वर्ग भारतीय भाषाओं तथा भारतीय साहित्य एवं सेवा-धर्म का अनुगामी बने। टाल्सटाय ने एक जगह लिखा है—"वे ही जातियाँ ऐतिहासिक पद प्राप्त कर सकती हैं जो अपनी स्वयं की संस्थाओं के महत्त्व और उपयोग को समझती हैं।" इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षा-पद्धति में भी भारतीय इतिहास, भारतीय साहित्य, भारतीय सेवा-धर्म का प्राधान्य हो।

एक तीसरे प्रकार के संघर्ष की आशंका इसलिए होती है कि भारत में

आर्थिक उत्पादनतन्त्र अब अधिकाधिक यन्त्रों द्वारा चलाया जाने लगा है। भारत की कृषि, भारत के कारखाने, सब में ही यन्त्रों का साम्राज्य होता जा रहा है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि जो जनशक्ति आज उत्पादन-तन्त्र में लगी हुई है वह अब उसके लिए निरर्थक तथा निष्प्रयोजन हो जायगी और इस कारण अनेक लोग अपना धंधा खो बैठेंगे। इस यन्त्रीकरण का एक परिणाम यह होगा कि उद्योग-धन्धों को चलाने का सामर्थ्य बड़े-बड़े साहूकारों या फिर राज्यों के लिए ही सम्भव रह जायगा और साधारण व्यक्ति स्वयं उस बारे में पूर्णतः अक्षम हो जायँगे। इससे एक ओर तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा सुख का हनन होगा ही दूसरी ओर धन का संकेन्द्रण भी होने लगेगा। इस प्रकार हमारा देश साहूकार और रंक इन दो वर्गों में बँटने लगेगा। हमारे देश में अंग्रेजों के आने के पूर्व धन का उतना विषम वितरण न था जैसा कि वह अंग्रेजों के आने के पश्चात् हो गया। जो धन बंगाल, बिहार, के लाखों जुलाहों में बटा हुआ था वह अंग्रेजी युग में यदि लंका शायर में नहीं तो बम्बई और अहमदाबाद के कुछ मिल मालिकों के हाथ में संकेन्द्रित हो गया। अब वह प्रक्रिया अधिक तीव्र गति से चलने लगी है। परिणाम यह हो रहा है कि एक ओर तो जनसाधारण की क्रय-शक्ति समाप्त प्रायः सी हो रही है और दूसरी ओर उद्योगपतियों की तिजोरियाँ फटी पड़ रही हैं। अतः औद्योगिक तन्त्र के इस यन्त्रीकरण से यह सम्भावना पैदा हो रही है कि भारत में धनिकों और रंकों में घोर संघर्ष पैदा हो जाय। वैसे तो अनेक शताब्दियों से भारत के जनसाधारण ने अहिंसा तथा त्याग का पाठ पढ़ा है। यह अहिंसा एवं त्याग का संदेश उनको अच्छा भी लगता था, क्योंकि अपनी आर्थिक पूर्णता और आत्म-निर्भरता के कारण इन लोगों को ऐसा कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता था कि वे अन्य जीवनों तथा प्राणियों का जीवन नाश करें या उन्हें पीड़ा पहुँचावें। किन्तु औद्योगीकरण से आज उन आदर्शों के नीचे से आर्थिक आधार टूटता जा रहा है। औद्योगीकरण से अन्यथा भी भारत का ऐतिहासिक गठन जर्जरित होता जा रहा है। विशेषतः यह बात इसलिए हो रही है कि हमारा औद्योगीकरण अभी तक उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार हो रहा है जिनके अनुसार इंगलैंड का औद्योगीकरण अठारहवीं और उन्नीसवीं

शताब्दी में हुआ था। स्वार्थ-परायण प्रतियोगिता का यह सिद्धान्त हमारे औद्योगीकरण को इस रूप में करता रहा है कि हमारी ग्राम-व्यवस्था, हमारी समाज-व्यवस्था दोनों ही टूटती चली जा रही हैं और उन दोनों से बँधे हुए हमारे आदर्श भी अब खोखले होते जा रहे हैं अतः हमारी वही जनता जिसे अहिंसा का सन्देश अपने व्यक्तित्व की पुकार लगा था अब हिंसात्मक संघर्ष की ओर अग्रसर होती दिखायी पड़ रही है। अतः इस बात की आशंका बढ़ रही है कि भविष्य में कहीं जनता अपनी बेकारी तथा दरिद्रता से विक्षिप्त होकर विनाशक संघर्ष एवं विप्लव न कर बैठे। इस सम्बन्ध में भी यदि हम अभी से उचित कदम उठायें तो यह पूर्णतः सम्भव है कि संघर्ष हो ही नहीं। यह कदम यथोचित वितरण करने का है। आज यद्यपि राज्य ने उत्पादन के विकास की योजनाएँ बना ली हैं, किन्तु वितरण के क्षेत्र में आज भी अराजकता वर्त्तमान है। परिणाम यह हो रहा है कि जैसे-जैसे औद्योगीकरण बढ़ता है, वैसे-वैसे ही हमारे साधारण जन वस्तुतः रंक होते जा रहे हैं। समृद्धि के मध्य में यह दरिद्रता हमारे जीवन का अन्तर्विरोध है। अफलातूँ ने एक जगह लिखा है—"धन विलास तथा आलस्य का उद्गम है और दारिद्रय नीचता तथा दुष्टता का। दोनों ही असन्तोष के कारण हैं।" इस असन्तोष को भी दूर किये बिना हम भावी संघर्ष से नहीं बच सकते। संसार के भावी सामाजिक संगठन और हमारे देश के भावी सामाजिक संगठन दोनों के विषय में रूसो के निम्नलिखित दो कथनों पर चाहे वे कितने ही पुराने क्यों न हो गये हों आज भी ध्यान रखना होगा। "असमता दो प्रकार की होती है। प्राकृतिक अथवा भौतिक और दूसरी रूढ़िगत, जो मानव की इच्छा से स्थापित अथवा अधिकृत होती है। हमें इस प्रकार की असमानता को दूर करना ही होगा, क्योंकि यही काफी नहीं कि व्यक्ति अपने-अपने स्तर के अनुसार रहें, यह भी नितान्त आवश्यक है कि वे मिलकर रहें, इस उद्देश्य से कि वे अपने-अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर सकें तथा अपनी स्थिति के परिवर्त्तन करने के लिए कम उत्सुक न हों, जिससे सार्वजनिक व्यवस्था अधिक सुचारु रूप से चले। अच्छी नैतिकता जितना हम सोचते हैं उससे कहीं ज्यादा प्रत्येक व्यक्ति के अपनी परिस्थितियों से सन्तुष्ट रहने पर निर्भर करती है; अशान्ति एवं असन्तोष के कारण कुचक्र चलते हैं। जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के रोजगार से [illegible]

जाता है तो सारा वातावरण दूषित हो उठता है। जीवन में सफल निर्वाह के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति की अपने कार्य में अभिरुचि हो। समस्त राज्य तब तक सुचारु गति से नहीं चलता जब तक प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने उचित स्थान पर आसीन न हो और उनकी सम्मिलित शक्ति ज्यादा-से-ज्यादा लोगों की भलाई की ओर केन्द्रित न हो। किसी भी विफल शासन-व्यवस्था में आपसी वैरभाव तथा ईर्ष्या का ही आधिक्य दिखायी देता है। अधिक से अधिक लोगों की भलाई के दो मुख्य लक्ष्य हो सकते हैं स्वतन्त्रता एवं समता। स्वतन्त्रता इसलिए कि निर्भरता का अर्थ है राज्य की बहुत सी शक्ति का कम हो जाना और समता इसलिए कि इसके अभाव में स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। ऐश्वर्य धनी तथा निर्धन सबको पतित करता है; धनी लोगों को अधिकार के कारण और निर्धनों को लोलुपता के कारण।"

भारत के-नव निर्माण के लिए हमने प्रजातन्त्र पद्धति (डिमोक्रेसी) को चुना है। इस प्रणाली के सम्बन्ध में बनार्ड शा ने एक जगह कहा है—"लोकतन्त्र मानवोपरि नहीं हो सकता, क्योंकि मतदाता भी तो मनुष्य ही होते हैं।"

इस समय हमारे सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है निर्माण का—वस्तुओं का निर्माण, व्यक्तियों का निर्माण। जैसा ऊपर कहा गया है वस्तुओं के निर्माण में हम सफल हो रहे हैं। पर वस्तुओं के निर्माण से भी व्यक्तियों का निर्माण अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जैसा अभी कहा गया कि प्रजातन्त्र की सफलता ही व्यक्तियों के निर्माण पर अवलंबित है। इस विषय में हिटलर ने अपने आत्मचरित्र में एक स्थान पर लिखा है—"किसी भी जाति के राष्ट्रीयकरण का सवाल मूलतः स्वस्थ सामाजिक परिस्थितियों की नींव डालने का सवाल है, जिससे कि व्यक्ति को शिक्षित किया जा सके, क्योंकि शिक्षा के द्वारा जब व्यक्ति अपनी तथा अपने देश की सांस्कृतिक, आर्थिक और इन सब के ऊपर राजनीतिक महानता जान पाता है तभी उसे ऐसे राष्ट्र के सदस्य होने का अधिकार होता है। मैं केवल उसी वस्तु के लिए संघर्ष कर सकता हूँ जिसे प्यार करता होऊँ, उसी वस्तु को प्यार कर सकता हूँ जिसके लिए मेरे मन में सम्मान हो और मैं उसी का सम्मान कर सकता हूँ जिसके विषय में मैं कुछ

आजकल सर्वत्र आर्थिक नींव पर ही सरकार और समाज की रचना हो यह चर्चा रहती है। ठीक है, एक व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से सर्वसम्पन्न रहे और निन्यानवे दुःखी इस अवस्था में तो परिवर्त्तन होना ही चाहिए और यह होकर रहेगा। परन्तु इस अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में रस्किन ने एक जगह जो कुछ लिखा है उस पर भी हमें ध्यान रखना है। किसी भी वाद या किसी भी देश का आँख मूँद कर अनुसरण हमारे लिए उपयुक्त न होगा, क्योंकि किसी भी वाद और किसी भी देश के अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष दोनों ओर ही बड़े से बड़े विद्वानों और विशेषज्ञों के कथन मौजूद हैं। रस्किन लिखते हैं—"अर्थशास्त्र न कला है और न विज्ञान। वह व्यवहार और कानून के निर्माण की एक पद्धति है जिसकी नींव कला संचालक विद्वानों पर स्थित है और जिसका असितत्व नैतिक संस्कृति की किसी खास सीमा के अभाव में असम्भव है।"

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पूर्व कवि सम्राट् रविबाबू ने हमारे देश के भावी रूप के सम्बन्ध में एक कल्पना की थी हम किधर जायँ और देश को कैसा बनायें। इस सम्बन्ध में मैं समझता हूँ कि उससे अच्छी और पूर्ण कल्पना स्वतन्त्र होने के पश्चात् आज भी सम्भव नहीं है। उनकी यह कल्पना थी—"जहाँ हृदय भय से रहित है और मस्तक ऊँचा, जहाँ ज्ञान स्वतन्त्र है, जहाँ जगत् टुकड़ों में नहीं बटा है, जहाँ शब्द सत्य की गहराई से आते हैं, जहाँ प्रत्येक पूर्णता को पहुँचने का प्रयत्न करता है, जहाँ विवेक के झरनों ने रूढियों के मरुस्थल में अपना मार्ग नहीं खोया है, जहाँ विचार और कर्म के विस्तार में मन आगे बढ़ रहा है उसी स्वतन्त्रता के स्वर्ग में मेरा देश जागे।"

हम आशा करें, प्रतीक्षा करें कि जिस भारत ने सदा ही संसार में नये मूल्यों का निर्माण किया है वह अपनी समस्त बाधाओं को ध्वंस कर रवि ठाकुर के इस कथन के अनुरूप एक नवनिर्माण कर संसार को एक नया रास्ता दिखायेगा, क्योंकि जैसा ड्यूमा ने कहा है—"इस बात का कभी भी विस्मरण न होना उचित है कि जब तक ईश्वर कृपाकर मनुष्य को यह बता न देवे कि भविष्य में क्या होने वाला है तब तक मानव-ज्ञान इन दो शब्दों में निहित है—'प्रतीक्षा और आशा'।"

श्री कृष्ण धाम

मेरी सन् ५२ की पृथ्वी-परिक्रमा के अवसर पर मैंने जो कुछ देखा उसमें से दो चीजों ने मेरे मन पर अमिट प्रभाव डाला। एक अमरीका के लासैंजल्स नामक नगर का एक कब्रिस्तान और दूसरा जापान के नारा नगर का एक बौद्ध मन्दिर।

लासैंजल्स के उस कब्रिस्तान में एक सुन्दर हॉल बना है और उस हॉल में महात्मा ईसा का एक विशाल चित्र है। ईसा के अनेक सुन्दर चित्र मैंने इस पृथ्वी-परिक्रमा में, रोम, फ्लोरेंस, पैरिस आदि स्थानों में देखे, परन्तु लासैंजल्स के कब्रिस्तान वाले हॉल के चित्र की एक विशेषता थी। उस चित्र में ईसा के जन्म से लेकर उनकी सूली तक के उनके जीवन की समस्त प्रमुख घटनाओं का चित्रण था। वह चित्र एक मखमली परदे से ढका रहता और प्रातःकाल ६ बजे तथा सायँकाल ४ बजे ४५-४५ मिनिट के इस हॉल में नित्य प्रति दो आयोजन होते। इन आयोजनों में प्रथम सुन्दर वाद्य बज कर धीरे-धीरे वह मखमली परदा खुलता, फिर बिजली से एक तीर का उस चित्र पर घूमना आरम्भ होता और उस तीर की घुमाई के साथ बड़ी सुन्दर साहित्यिक भाषा में ईसा के जीवन का वृत्तान्त चलता। अन्त में विश्व-शान्ति के लिए कविता में अत्यधिक मधुर स्वर में प्रार्थना होती और फिर वाद्य बजकर वह मखमली परदा उस चित्र को ढाँक देता। इन दोनों आयोजनों के रिकार्ड हैं, पर रिकार्ड इतनी अच्छी तरह लिये गये हैं कि सुनने वाले को वह कोई रिकार्ड सुन रहा है यह नहीं जान पड़ता। इस आयोजन का मन पर जैसा प्रभाव पड़ता है उसका अनुभव इस वर्णन के पढ़ने से नहीं हो सकता।

नारा के उस बौद्ध मन्दिर के चारों ओर ऐसा वन लगाया गया है कि वहाँ पहुँचने पर जान पड़ता है जैसे आप महाकवि कालिदास द्वारा अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में वर्णित महर्षि कण्व के आश्रम के तपोवन में खड़े हों। विविध प्रकार के वृक्षों, लता-गुल्मों और पुष्पों से पूरित उस स्थल पर जाकर

मेरे सदृश व्यक्ति तो अपने आपको भूल-सा गया। उस वन को महर्षि कण्व के आश्रम के ठीक अनुरूप बनाने में एक बात ने और सहायता पहुँचायी है। यह वहाँ के मृग हैं। सुना कि इन मृगों के पूर्वज कोई सत्रह सौ वर्ष पूर्व भारत से वहाँ गये थे। अब तो इनके झुण्ड के झुण्ड हो गये हैं और ये ऐसे पालतू हो गये हैं कि यदि आप इन्हें कुछ खाने को दें तो ये आपको चारों ओर से घेर लेंगे और आपके हाथ से खाने लगेंगे। भारत की प्राचीन संस्कृति का प्रादुर्भाव और विकास तपोवनों में ही हुआ था, परन्तु आज हमारे यहाँ नारा के उस तपोवन के सदृश कोई तपोवन नहीं।

मैं अवकाश मिलते ही प्रायः ब्रज जाया करता हूँ। होश सँभालने के पहले ही भगवान् श्रीकृष्ण के चरणार्विन्दों में मेरे मन में जिस प्रकार का अनुराग हो गया उसके विविध प्रसंगों के विविध वर्णन इस पुस्तक में कई स्थानों पर आये हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी सम्पूर्ण कलाओं की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के लिए ब्रज भूमि को लीला भूमि बनाया। ब्रज भूमि का महात्म्य एवं महत्त्व अतीत काल से हमारे प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित होता आया है। श्रीकृष्ण के मन को मुग्ध करने का रहस्य ही वृन्दावन की लता-कुन्जों में छिपा हुआ था।

यत्रारदाजेश शुकैरगम्य वृन्दावने मंजुल मंजुकुंजे।
तत्कृष्णचेती हरणैक विज्ञमत्रास्तिाकिंचित्परमं रहस्यम्॥

वृन्दावन महिमामृत के प्रणेता श्री प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने तो सौ शतकों में इस भूमि की महिमा गायी है। उन सरल श्लोकों में ब्रज भूमि को अमरावती और मोक्ष से भी पढ़ कर गाया है—

कृष्णानुराग सागर सारेष्वत्यन्त चमत्कारम्।
विन्दत वृन्दाकानन कुंज कुटी वृन्द वन्दना देव॥

पर आज उस वृन्दावन की क्या दशा है? वह हो गया है एक गन्दा नगर। न कहीं वन हैं, न वे ताल-तमाल और कदंब के वृक्ष, न कहीं लताएँ हैं और न कहीं गुल्म।

और वृन्दावन ही क्या प्रायः सारी ब्रज भूमि की यही दशा है। कहाँ है वह ब्रज भूमि जिसका वर्णन केवल प्राचीन साहित्य में ही नहीं मध्यकालीन

भक्त कवियों ने भी रस-विभोर होकर किया था। उसी रस प्रवाह में रसखान के कंठ से अनायास ही यह वाणी फूट पड़ी होगी—

मानुष हौं तो वही 'रसखान'
बसौं नित गोकुल गाँव-गुवारिन।
जो पशु हौं तो कहा बसु मेरौ,
चरौं नित नन्द की धेनु मँझारिन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को
जो कियो सिर छत्र पुरन्दर धारिन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं
कालिन्दी-कूल कदंब की डारिन॥

व्रज भूमि में आज तो उस काल की प्रतीक स्वरूप दो ही वस्तुएँ रह गयी हैं—श्री यमुना और श्री गोवर्धन। कालिन्दी के वे कूल किसी समय करील की कुन्जों से भरे हुए थे जिनके सम्बन्ध में एक कवि ने कहा है—"कोटि कहूँ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।" गोवर्धन पर्वत की सुरम्य कन्दराओं तथा उसके ऊपर की हरियाली की छटा का कितना वर्णन मिलता है। परन्तु आज कालिन्दी के वे कूल और गोवर्धन की सघन कन्दराएँ जीवन के शुष्क दुर्भिक्ष के रूप द्रुम लताओं से विहीन हो गये हैं। उत्तर प्रदेश की सरकार ने इधर गोवर्धन और उसके चारों ओर फिर से वृक्षावली का रोपण और आरम्भ किया है। इसका श्रेय बहुत दूर तक उत्तर प्रदेश के सुरसिक राज्यपाल श्री मुंशीजी को है।

पृथ्वी-परिक्रमा से लौट कर मैं पुनः व्रज गया। मेरे साथ मेरी पत्नी और मेरे छोटे पुत्र जगमोहनदास भी थे। एकाएक जगमोहनदास के मन में उठा कि जिस गोवर्धन पर्वत और उसके चारों ओर उत्तर प्रदेश की सरकार नयी बन राजि लगा रही है वहीं हम कुछ भूमि लेकर नारा के सदृश एक तपोवन लगा "श्रीकृष्ण धाम" के नाम से एक सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना क्यों न करें। जहाँ लासेंजलस के ईसा के जीवन के सदृश भगवान् श्रीकृष्ण का भी सारा जीवन चित्रित कराया जावे। जब जगमोहनदास ने मुझे अपने मन का हाल बताया तब मैं तो प्रायः उछल सा पड़ा। मेरी पत्नी को भी यह विचार

बहुत पसंद आया और हम लोगों ने विचार कर श्रीकृष्ण धाम की एक योजना ही बना डाली। यह योजना बनी एक सांस्कृतिक विश्वविद्यालय के रूप में। इसे बनाने में सबसे अधिक सहायता हमें दी डाक्टर कटारे ने।

हमारा विश्वास है कि इस सांस्कृतिक धरातल पर हम देश, जाति और वर्ण-भेद की विषमता को दूर कर फिर से एक बार समस्त मानवता को प्रेम, समता, सत्य, अहिंसा और आस्तिकता के सूत्र में आबद्ध कर सकेंगे और निम्नलिखित उक्ति को चरितार्थ—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमापनुयात्।

आजकल सदा मेरे मन में उठा करता है कि सब झंझटों से मुक्त हो अपना शेष जीवन मैं इसी काम में लगा दूँ और जीवन के इस संध्याकाल में अब ब्रजवास करूँ। भावी जीवन की क्या यही सर्वोत्तम दिशा नहीं होगी ? देखना है इस सम्बन्ध में कुछ कर पाता हूँ या नहीं।

सिंहावलोकन

शैक्सपियर ने एक स्थान पर लिखा है—"सारा संसार एक रंगमंच है।" मैं इसमें इतना और जोड़ देता हूँ कि इस संसार रूपी रंगमंच पर मानव सबसे प्रधान नट है। प्रसिद्ध साहित्यकार पर्लबक ने अपने "गुड अर्थ" उपन्यास में ऐसे मानव के लिए लिखा है—"मानव जीवन में ५ वर्ष का समय नगण्य है बशर्ते कि व्यक्ति का बाल्यकाल अथवा वृद्धावस्था न हो।" मेरा भी कुछ समय पूर्व तक अपनी अवस्था की ओर ध्यान ही न जाता था, पर अब ऐसी बात नहीं रही।

अब मैं साठ वर्ष की अवस्था के निकट पहुँच रहा हूँ। यूरोप, अमरीका, न्यूजीलैंड आदि देशों में चाहे यह उम्र बहुत न मानी जाती हो, परन्तु भारत में तो यह दीर्घायु नहीं तो मध्यायु का उत्तर चरण अवश्य माना जाता है फिर मेरी बाढ़ अपेक्षाकृत शीघ्र हुई थी। कर्मक्षेत्र में मैं बहुत जल्दी आया। साथ ही मैं अकर्मण्य एवं आलसी भी कभी नहीं रहा। इस सम्बन्ध में बाल्यावस्था में मेरे शिक्षक श्री द्वारकानाथ सरकार ने मेरे मन में आलस्य के विरुद्ध जो विचार भरे उनका जीवन भर मुझ पर बड़ा प्रभाव रहा। फिर इस विषय में यदि मैं कभी कोई बात पढ़ता तो तत्काल वह मुझे कण्ठस्थ-सी हो जाती। कहीं मैंने पढ़ा था कि शरीर और मन आलस्य से उसी प्रकार क्षय होते हैं जिस प्रकार पड़ा हुआ लोहा जंग से। इस कथन का मेरे मन पर बड़ा प्रभाव रहा। इसीलिए मुझे जान पड़ता है कि न जाने कब से मैं कितना और कितने प्रकार के कार्य करता आ रहा हूँ। जर्मनी की एक कहावत है—"मानव कर्म के लिए उसी प्रकार पैदा हुआ है जिस प्रकार पक्षी उड़ने के लिए।" यह कहावत मेरे जीवन में चरितार्थ हुई है। और अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि जर्मनी की यह कहावत भी सर्वथा सत्य है कि "ऐसा कोई आदमी नहीं है जो कुछ न कर सके और ऐसा भी कोई आदमी नहीं जो सब कुछ कर सके।" फिर जीवन में मैंने सदा महान् मार्गों को ही चुना। चीन की एक

कहावत है—"राजमार्ग बड़ा सीधा है, पर लोग तो गलियों से प्रेम करते हैं।" मैंने देखा है कि सचमुच में जीवन के महान् मार्गों पर चलना सरल है और गली-कूचों में चलना कठिन। एक बात और—महान् ध्येयों में यदि व्यक्ति असफल हो जाय तो भी छोटी बातों में सफल होने से कहीं अच्छा है। गेटे ने एक स्थान पर कहा है—"उच्च कोटि के आदर्श यदि सफल न हों तो भी वे सफल हुए निम्न-कोटि के कार्यों से कहीं अधिक मूल्यवान हैं।"

बिना पैर, बिना पंख, बिना किसी प्रकार के पहियों, बिना किसी एंजिन या मोटर के, जिसमें कोयला, तेल या किसी तरह का ईंधन पड़ता हो, यह समय किस ढंग से चलता, दौड़ता या उड़ता है; वरन् चलने, दौड़ने अथवा उड़ने शब्दों का प्रयोग भी इसकी गति के लिए हास्यास्पद है। समय की यह गति तब जान पड़ती है, जब बीते हुए दीर्घकाल का सिंहावलोकन किया जाय। और वही गति कभी-कभी कितनी धीमी भी मालूम होती है। यह उस समय जब आप किसी रोगी को थरमामीटर लगा या इसी प्रकार के अन्य किसी कार्य के लिए घड़ी के सैकिण्ड के काँटे की चाल को एक टक देखते हों। यद्यपि दोनों अवस्थाओं में समय की गति में कोई अन्तर नहीं, पर मन की स्थिति में जो अन्तर रहता है। आज मैं बैठा हूँ लगभग पचास वर्ष के समय का सिंहा-वलोकन करने और इस समय मुझे बीते हुए समय की चाल कितनी शीघ्र-गामी जान पड़ रही है। इसके सिवा भारत और संसार के गत चालीस-पचास वर्षों का युग तो एक ऐतिहासिक काल रहा है, जिस समय मेरे जीवन का प्रधान अंश बीता है। शताब्दियों से परतन्त्र भारत की स्वतन्त्रता का संग्राम इसी युग में लड़ा गया। फिर जिस तरीके से यह युद्ध लड़ा गया वह तरीका भी संसार के इतिहास में एक नया तरीका था। सत्य और अहिंसा के उस महान् पुजारी का सारा कार्य इसी युग में हुआ और अपने कार्य में सफल होने के कारण वह युग-पुरुष अपने काल का संसार का सर्वश्रेष्ठ माना जाता है; इतना ही नहीं, आज के विश्व भर के विचारक गान्धीवाद को ही इस संसार के त्राण का एक मात्र वाद मानते हैं। हमारे देश को इस युग में स्वतन्त्रता तो मिली ही, पर इसी के साथ साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक अर्थात् सम्पूर्ण सांस्कृतिक क्रान्ति भी हुई। कैसे-कैसे साहित्य रचयिताओं, समाज-सुधारकों,

धर्म के नवीन प्रवर्तकों, वैज्ञानिकों और राजनीतिज्ञों ने इस युग में जन्म लिया और अपने कार्यों के द्वारा जीवन के सभी क्षेत्रों में उथल-पुथल-सी मचा दी। सदियों से जिस देश की दुनिया में कोई जगह ही नहीं रही थी वह देश आज संसार के उन देशों में है जो सारे संसार का ध्यान आकर्षित करते हैं। समूचे विश्व की दृष्टि से भी कितने वैज्ञानिक आविष्कार इस युग में हुए—सृष्टि और प्रलय दोनों के लिए। एक ओर कितने विनाशकारी रोगों की रामबाण औषधियाँ निकलीं। मोटरकारें, वायुयान, रेडियो आदि भी इसी काल के वरदान हैं, जिन्होंने स्थान और समय की दूरी को कितना घटा दिया। दूसरी ओर टैंक, परमाणु बम, उद्जन बम आदि न जाने कितनी विनाश की सामग्री। जिनके समय में ये वैज्ञानिक आविष्कार नहीं हुए थे, वे यदि आज किसी प्रकार जी उठें तो इन सब आविष्कारों को देखते ही या तो हृदय की गति रुकने से तत्काल फिर मर जायँगे या पागल हो जायँगे। अरे! हम ही यदि इस काल में पैदा न होते और हमने यदि इन आविष्कारों का वृत्त पढ़ा या सुना होता तो क्या हमें ही इनकी सत्यता पर विश्वास हो सकता था? दो संसारव्यापी संग्राम इसी युग में लड़े गये, ऐसे युद्ध जैसे इसके पहले दुनिया ने कभी नहीं देखे थे। रूस की क्रान्ति और पुराने चीन के नये रूप के निर्माण का आरम्भ इसी युग में हुआ। फिर रूस की यह क्रान्ति और चीन का यह नव निर्माण एक विशिष्ट विचार की नींव पर हुआ तथा हो रहा है। लड़खड़ाते हुए पूँजीवाद को एक नये वाद ने चुनौती दी। इस विचारधारा को चाहे सम्पूर्ण दृष्टि से साम्यवादी न भी कहा जा सके, परन्तु इसके आरम्भ के पूर्व की विचारधारा से यह भिन्न है, यह तो मानना ही होगा। संसार तथा भारत के ऐसे महान् युग में मुझे पैदा होने, बड़े होने, शिक्षा पाने और कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

कितने मानव इस काल में जन्मे और मरे होंगे। मैंने कभी कहीं पढ़ा था कि दुनिया में हर मिनिट में अड़सठ मनुष्य पैदा होते हैं और छाछट मरते हैं। यह संख्या चाहे सही हो या गलत, पर संसार में नित्य जन्मने और मरने वालों की संख्या छोटी नहीं, बड़ी, बहुत बड़ी है। इन जन्म लेने वालों में न जाने कितनों की तो ज्ञान-प्राप्ति के पहले ही बाल-मृत्यु हो जाती है। न जाने कितने

या तो मूर्ख होते हैं या अपाहिज । न जाने कितने ऐसे साधनों से विहीन होते हैं जो शिक्षा प्राप्त कर पशु संज्ञा से सच्ची मानव संज्ञा में आ सकें । न जाने कितने ऐसे होते हैं जिन्हें शिक्षा भी मिल जाती है, पर जिनका सारा जीवन जीविकोपार्जन में ही बीत जाता है । न जाने कितने ऐसे होते हैं जो समस्त साधनों से सम्पन्न होते हुए भी विलासों अथवा आलस्य के शिकार रहते हैं । और उपर्युक्त नाना प्रकार के इन मानवों की गणना के उपरान्त अधिकतर मानव तो संसार में घटित होने वाली घटनाओं के दर्शक ही रहते हैं, उनमें भाग लेने अथवा उन्हें मोड़ने वाले नहीं । फिर इन घटनाओं में भाग लेने अथवा इन्हें मोड़ने वालों में भी कुछ रहते हैं विचार-क्षेत्र के विहारी और कुछ कर्म-क्षेत्र के नट । विचार तथा कर्म दोनों ही क्षेत्रों के कर्मठ व्यक्ति तो इने-गिने ही होते हैं । जो ऐसे हो पाते या हो सकते हैं उन्हीं को संसार सौभाग्यशाली मानता है और ऐसे ही व्यक्ति अपने को भी सौभाग्यशाली मान सकते हैं । फिर अनेक ऐसे व्यक्तियों को भी या तो पूर्ण आयु नहीं मिलती या जीवन के बीच में ही उनका जीवन पथ विशृंखल हो जाता है । कई के द्वारा तो ऐसे कृत्य तक हो जाते हैं जो उन्हें किसी काम का नहीं रहने देते ।

इस साठ वर्ष की अवस्था के निकट पहुँचते हुए जब मैं अपने जीवन का सिंहावलोकन करता हूँ तब मैं अपने को अनेक दृष्टियों से सौभाग्यशाली मानता हूँ । बालक सदा भविष्य की कल्पना किया करता है और वृद्ध हमेशा भूत का स्मरण, यथार्थ में सच्चे जीवन में युवक रहता है । फिर मेरी तो सारी युवावस्था क्रियाशील रूप में बीती है । वह भी ऐसे समय जिसके सम्बन्ध में अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्डस्वर्थ ने कहा है—"उस काल में जीवित रहना ही सुख था । फिर युवा रहना तो स्वर्गीय ।" और इससे मुझे सन्तोष भी कम नहीं है । जर्मनी के एक प्रसिद्ध उपन्यासकार टामस मैन ने एक स्थान पर लिखा है—"इस संसार में अपने आपसे सन्तोष सबसे ठोस सुख है ।" और यही बात एक दूसरे प्रकार से एक फ्रांसीसी कहावत में कही गयी है—"मानव अपने को जितना सुखी मानता है उससे अधिक सुखी नहीं हो सकता ।"

इस प्रकार अपने आपको परम सौभाग्यशाली मानते हुए जब मैं अपना निरीक्षण करता हूँ तब भूत, वर्त्तमान और भविष्य के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न

तथा बातें मेरे मन में उठती हैं। जहाँ तक भविष्य का सम्बन्ध है उसके आधार तो सदा ही भूत और वर्त्तमान रहते हैं। दुनिया में विचारकों के विचारों का अध्ययन तथा स्वयं का अनुभव दोनों आवश्यक होते हैं। भूत और वर्त्तमान दोनों की इन दोनों साधनों में टोह लेने पर ही मनुष्य, मनुष्यों के लिए, समाज के लिए और अपने लिए कुछ कह और कर सकता है।

सबसे पहला प्रश्न मेरे मन में उठता है कि मेरा यह जीवन जिस प्रकार चला और चल रहा है इसमें पूर्वजन्म का कैसा और कितना योग होगा ? पुनर्जन्म में विश्वास करते हुए भी मैं इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाता।

दूसरा प्रश्न उठता है कि आनुवंशिकता ने मेरे जीवन को इस प्रकार चलाने में कितनी सहायता पहुँचायी है ? आयु और निरोग शरीर मेरे जीवन में आनुवंशिकता की स्पष्ट सहायताएँ हैं। बिना आयु तथा स्वस्थता के मनुष्य क्या कर सकता है ? इसीलिए कहा है—"शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

तीसरा सवाल वातावरण सम्बन्धी है। कुछ बातों में मेरा निर्माण जिस वायुमण्डल में मैं पैदा हुआ और बड़ा हुआ उस वायुमण्डल के अनुसार हुआ और कुछ में उसके ठीक विपरीत। परन्तु घर के एवं आस-पास के वायुमण्डल के सिवा देश और संसार के वायुमण्डल का भी तो जीवन पर असर होता है। घर और बाहर दोनों के वायुमण्डल का मेरे जीवन पर थोड़ा नहीं, पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है।

मेरा जीवन-पथ ठीक है या नहीं, उस जीवन-पथ पर मेरा जीवन ठीक ढंग से चल रहा है या नहीं, जीवन में मुझे अपने कार्यों में सफलता मिल रही है या विफलता इस प्रकार के प्रश्न भी बार-बार मेरे मन में उठे हैं और उठते रहते हैं। इस प्रकार के प्रश्नों के अनेक परिस्थितियों में अनेक प्रकार के उत्तर देते हुए मेरे मन ने मेरे जीवन की नौका को इस संसार सागर में खेया है। अब तक के बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन करते हुए अपने बीते हुए भूत जीवन, चलते हुए वर्त्तमान जीवन तथा अब मैं अपना भविष्य जीवन किस प्रकार चलाने का इच्छुक हूँ इसका कुछ विवेचन कर मैं इस "आत्म-निरीक्षण" पुस्तक को समाप्त करूँगा।

जब मेरा जन्म हुआ तब इस देश पर अंग्रेजी राज्य था और वह युग इस

देश का सामन्तशाही-युग था। मेरे जन्म के बाद भी मेरी ५३ वर्ष की अवस्था तक अंग्रेजी राज्य ही चला और बहुत समय तक सामन्तशाही की ही प्रधानता रही। हमारा कुटुम्ब राजभक्त कुटुम्ब था और पहले चाहे वह व्यापारियों का कुटुम्ब रहा हो पर मेरे जन्म एवं बड़े होने तथा शिक्षा पाने के समय वह सामन्तशाही कुटुम्ब हो गया था। बड़ी सम्पन्नता थी, बड़ा वैभव और महान् प्रतिष्ठा! धन की कमी जो अधिकतर लोगों को अवसर-विहीन कर देती है उसका जीवन में मुझे अनुभव नहीं हुआ। मुझे उच्चकोटि की शिक्षा मिली, परन्तु कोई वैदेशिक अथवा भारतीय विश्वविद्यालय की प्रमाणित डिग्री प्राप्त न रहने से जीवन में बहुत समय तक मैं अर्द्ध-शिक्षित ही माना जाता रहा। मेरा यह कलंक मेरी साहित्य-साधना ने धोया। जीवन के आरम्भ में धन की प्रचुरता के कारण मेरा आरम्भिक जीवन आधिभौतिक सुखों से परिप्लावित रहा, परन्तु जीवन पर धार्मिक प्रभाव, आरम्भ में नरक के भय और पिताजी के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातों की प्रतिक्रिया के कारण इन अत्यधिक आधिभौतिक सुखों में भी मैं इनके निम्न-स्तर पर जाने से बच गया। मेरे इस बचाव में माताजी की तेजस्विता और मेरी पत्नी का समर्पण प्रेम भी एक बहुत बड़ा कारण सिद्ध हुए। मेरा मन बड़ा भावुक मन है। मेरे इस भावना-प्रधान मन ने यदि एक ओर मुझे महान् कौटुम्बिक सुख दिया, मुझे देश के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन पथ पर ढकेला तो दूसरी ओर अन्यों के द्वारा मेरा दुरुपयोग भी कराया। परन्तु आज जब मैं अपना निरीक्षण करता हूँ तो मुझे जान पड़ता है कि अन्यों का अनुचित लाभ उठाने की अपेक्षा अन्य अपना दुरुपयोग भी कर लें तो उतना बुरा नहीं। मेरे इस भावुक मन के कारण पिताजी से सैद्धान्तिक मतभेदों के होते हुए भी उनके और मेरे बीच कभी कटुता न आने पायी और पत्नी का और मेरा अक्षुण्ण प्रेम सम्बन्ध रहा। परन्तु इन दोनों बातों का मेरी अपेक्षा पिताजी और मेरी पत्नी को ही अधिक श्रेय है। इस भावुकपन ने मुझे अपूर्व मैत्री सुख भी दिये। पर मैत्री तभी तक निभती है जब तक मतों और हितों का पूर्ण ऐक्य रहे। यह सारे जीवन भर क्वचित ही रह पाता है। इसलिए इस विषय में महात्मा गान्धी के सदृश पुरुषों के शायद ये कथन ही सही हैं कि मनुष्य को अपना मित्र भगवान् को ही बनाने

का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार मेरा वैयक्तिक जीवन बड़ा सुखी रहा है। आगे चलकर सार्वजनिक जीवन और फिर धन की कमी ने मेरे आधिभौतिक सुखों को चाहे कम कर दिया हो, पर वे मेरा वैयक्तिक जीवन दुखी न बना सके।

भावना-प्रधान मन, आरम्भ में जीविका के लिए निश्चिन्तता, साहित्यानुराग और लोकेषणा मुझे सार्वजनिक जीवन में लाये। मेरा सार्वजनिक जीवन साहित्य-क्षेत्र से आरम्भ हुआ। साहित्य-सृजन बाद में हुआ, परन्तु इस सृजन के तत्त्व मुझ में स्वाभाविक रूप से विद्यमान थे, इसलिए जब कभी मैं कुछ देखता या पढ़ता, एकाएक मेरे मन में कुछ लिखने की प्रेरणा होती। अपना पहला उपन्यास मैंने बारह वर्ष की अवस्था में लिखा था, परन्तु यथार्थ में मेरा लेखन आरम्भ हुआ ३४ वर्ष की अवस्था में, जब मैं प्रथम बार जेल गया; यद्यपि बारह वर्ष की अवस्था और ३४ वर्ष की अवस्था के बीच भी मैं कभी कुछ और कभी कुछ लिखा अवश्य करता था, जो अब मैं प्रकाशन के योग्य नहीं मानता। ३४ वर्ष की अवस्था में भी मैंने लेखन का कार्य कोई योजना बना कर आरम्भ नहीं किया, यह आरम्भ हुआ जेल में समय काटने, पर इस प्रकार आरम्भ होने के बाद फिर लेखन-कार्य की एक योजना बन गयी और यद्यपि लिखना अधिकतर जेल में ही हुआ, पर फिर जेल के बाहर भी कुछ न कुछ परिमाण में चलता रहा और अभी भी चलता रहता है। जेल में समय बिताने के लिए "स्वान्तः सुखाय" ही यह लिखना शुरू हुआ था, पर इसके प्रकाशन के बाद इसे शनैः शनैः जो स्थान हिन्दी के साहित्य जगत् में प्राप्त हुआ और जब अंग्रेजी के द्वारा संसार के साहित्य जगत् में प्राप्त हो रहा है, उससे मुझको महान् सन्तोष मिला है। इस सन्तोष को मैं लोकेषणा की तुष्टि नहीं मानता, यह सन्तोष उस वृत्ति का तोष है जो मानव के ज्ञान-प्रधान एवं सामाजिक प्राणी होने के कारण उसके रक्त में आ गयी है। "स्वान्तः सुखाय" साहित्य रचना यदि समाज को भी सुख दे तो उससे जो तुष्टि होती है उसमें, और जनता की साधारण वाहवाही से जिस लोकेषणा की तुष्टि होती है, उसमें, बड़ा भारी अन्तर है, जो मुझे स्वयं के अनुभव से ज्ञात हुआ। कोई भी सच्चा सृजन, चाहे वह ललित-साहित्य अथवा विज्ञान आदि किसी भी क्षेत्र में

क्यों न हो, "स्वान्तः सुखाय" के साथ विद्वानों और अन्त में समाज द्वारा सम्मानित होने पर जिस तरह का सन्तोष देता है वह सन्तोष छोटी-छोटी बातों में सर्वसाधारण की थपोड़ियों से जो सन्तोष मिलता है उससे पृथक् है। दोनों में क्या अन्तर है यह इससे ज्ञात हो जाता है कि सृष्टा को अपनी रचना से समाज द्वारा उसके सम्मानित होने के पहले ही सुख मिल जाता है, उसके सम्मानित होने पर वह सुख बढ़ता है, पर इस सत्कार पर वह निर्भर नहीं रहता। इसीलिए यदि सच्चे सृष्टा के सृजन का समाज आदर नहीं करता तो भी महाकवि भवभूति के सदृश उसके मुख से निकलता है "कालोययं निरवधि-र्विपुला च पृथ्वी।" हाँ, साहित्य और वैज्ञानिक कृति में बुलवर लिटन के कथनानुसार एक अन्तर अवश्य रहता है —"विज्ञान में थोड़ों से कहा जाता है, साहित्य में अधिक से। विज्ञान में थोड़े अधिक की राय बनाते हैं पर साहित्य में शीघ्र या विलम्ब से अधिक अपना निर्णय थोड़ों पर लादते ही हैं।" पर दोनों प्रकार के सृष्टाओं को वह आत्म-विश्वास रहता है जिसको समाज का अनादर भी डिगा नहीं सकता। लोकेषणा वृत्ति को तुष्ट करने के लिए इस वृत्ति वाला व्यक्ति सदा भिखारी के सदृश जनता का मुँह ताकता रहता है। उसका सुख निर्भर रहता है अन्यों की सराहना पर और जब उसे यह सराहना नहीं मिलती तब वह क्षुब्ध हो उठता है। लिखने के साथ मैंने पढ़ा भी यथेष्ट है और पच्चीस वर्ष के निरन्तर लेखन तथा पठन के पश्चात् "निज कवित्त केहि लाग न नीका" की दृष्टि से नहीं, पर अपने स्वयं के निरीक्षण की दृष्टि से जब मैं अपने साहित्य को देखता हूँ तब आज तो यह कहने का साहस करता हूँ कि मेरी कुछ कृतियों का मिलान संसार की अनेक महान् कृतियों से हो सकता है। यह कोई गर्वोक्ति या आत्मश्लाघा नहीं है। दुनिया के कई चोटी के विद्वानों की इनमें से कुछ कृतियों के सम्बन्ध में यही राय है। हाँ, इतना अवश्य है कि कला की दृष्टि से इनमें से किसी भी कृति को सर्वथा पूर्ण नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह बात केवल इन्हीं कृतियों के सम्बन्ध में नहीं है, कोई भी कलात्मक वस्तु में सम्पूर्णता की आशा करना कला को न समझना है। जहाँ तक इन कृतियों की मौलिकता का सम्बन्ध है मैं यह दावा करता हूँ कि इनमें से अधिकांश रचनाएँ जिसे आज मौलिकता माना जाता है उस प्रकार की मौलिक हैं और

यों तो मौलिकता के विषय में श्री जार्ज बर्नार्ड शा के निम्नलिखित कथन से मैं क्या सभी को सहमत होना पड़ेगा। वे एक स्थान पर लिखते हैं—"दुनिया जिसे मौलिकता कहती है वह यथार्थ में किसी वस्तु को असाधारण ढंग से उपस्थित करना ही है।" जहाँ तक इन कृतियों के भविष्य का सम्बन्ध है उस ओर तो मेरा कभी ध्यान ही नहीं जाता, रोमाँ रोलाँ के इस कथन से मैं सर्वथा सहमत हूँ कि "सच्चा कलाकार अपनी कृति के भविष्य के सम्बन्ध में कभी विचार ही नहीं करता।" कुछ लोगों का मत है कि यदि मैं राजनैतिक क्षेत्र में न आकर केवल साहित्य क्षेत्र में काम करता तो संसार को इससे कहीं अधिक दे सकता था। पर इससे मैं सहमत नहीं हूँ। बहुत अधिक लिखने पर भी मेरे लेखन में जो कथाओं, पात्रों, भावों की विभिन्नताएँ हैं और पुनरुक्तियाँ नहीं, इसका कारण मेरा राजनैतिक क्षेत्र में रहने की वजह से इस देश और संसार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की एक साहित्यिक के नाते अनुभूतियाँ हैं। एक फ्रांसीसी कहावत है—"जहाँ अध्ययन न होकर केवल कल्पना है वहाँ पैर नहीं केवल पंख हैं।" मैं स्वयं के अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि यह कहावत सर्वथा सत्य है। हाँ, यह अध्ययन केवल पुस्तकों का न होकर प्रत्यक्ष जीवन का भी होना चाहिए। और लेनिन के कथनानुसार यह भी सत्य है कि "हर क्षेत्र में कलाकार अपने लिए उपयोगी विपुल सामग्री संग्रहीत कर सकता है।" साहित्य-सृष्टा के सिवा मैंने हिन्दी को उसका उचित स्थान प्रदान कराने में भी कार्य किया है। उसे आज चाहे बहुत ऊँचा स्थान दिया जा रहा हो, पर साहित्य-सृजन के कार्य के सम्मुख यह कार्य बहुत गौण है।

सार्वजनिक जीवन में मेरा दूसरा क्षेत्र समाज-सुधार रहा। इस क्षेत्र में मैंने व्याख्याता वृत्ति की अपेक्षा क्रियाशील वृत्ति को अधिक बरता है। मेरा कुटुम्ब इस देश के पुराने मारवाड़ी रूढ़िवादी धनवानों के कुटुम्ब के सदृश एक कुटुम्ब था। सन् १९२० में इस दकियानूसीपन के विरुद्ध जैसा जहाद करना पड़ता था उसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। न जाने कितने प्रकार की रूढ़ियों का, कुरीतियों का, मूलोच्छेदन, परदे से बाहर कुटुम्ब की महिलाओं को, पुराने ढंग के माता-पिता तथा अन्य स्वजनों की मौजूदगी में, निकालना और वह अपने आस-पास के समस्त वायुमण्डल के प्रतिकूल परिस्थिति में।

चीन के एक पुराने नाटक में कहा है कि "किसी राष्ट्र पर शासन करने की अपेक्षा किसी कुटुम्ब पर शासन करना कहीं कठिन है।" यह बिलकुल सत्य है, क्योंकि किसी राष्ट्र पर शासन करने के लिए जो दमनकारी साधन उपलब्ध रहते हैं, वे कुटुम्ब पर शासन करने के लिए नहीं।

सार्वजनिक जीवन का मेरा तीसरा क्षेत्र रहा राजनीति, देश के स्वाधीन होने के पहले की राजनीति और उसके पश्चात् की राजनीति। देश के स्वतन्त्र होने के पहले की राजनीति और स्वतन्त्र होने के पश्चात् की राजनीति में बड़ा भारी अन्तर है। देश के स्वतन्त्र होने के पहले की राजनीति यथार्थ में राजनीति नहीं थी, वह थी देश-भक्ति। चाहे उसमें लोकेषणा का अंश मिश्रित क्यों न रहता हो, आखिर उसमें त्याग और बलिदान की भावना तो रहती थी, सब तरह की जोखिमें। इस क्षेत्र में सन् २० में मैंने प्रवेश किया, उस समय न कहीं स्वराज्य दिखता था और न कहीं मन्त्री आदि पद। उस समय की पृष्ठभूमि थी पंजाब का हत्याकाण्ड, जब मेरे फिरके पंजाब के श्री हरकिशनलाल के सदृश व्यक्तियों की जायदादें जप्त हुई थीं और उन्हें फाँसी की सजाएँ मिली थीं, उस समय राजा गोकुलदास के कुटुम्ब के सदृश कुटुम्ब का कोई व्यक्ति कांग्रेस और गान्धीजी के साथ जायगा यह सोचा भी न जा सकता था। मुझे इस बात पर गर्व है कि मैंने ऐसे समय देश को स्वतन्त्र करने के आन्दोलन में पैर रखा और वह इस प्रकार कि देश जब तक स्वतन्त्र न हो गया तब तक चाहे कैसी ही कष्टप्रद तथा महान् जोखिमों से भरी हुई अवस्थाओं का मुझे सामना क्यों न करना पड़ा हो, मैंने आगे रखे हुए पैर को रंच मात्र भी पीछे हटाने की बात सोची तक नहीं। देश के स्वतन्त्र होने के पहले और देश के स्वतन्त्र होने के बाद भी मैं वर्षों केन्द्रीय धारा सभाओं में रहा और यहाँ पर मेरा काम बुरा नहीं माना गया। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् संविधान सभा में हिन्दी के सम्बन्ध में मैं जो काम कर सका, सन् २६ के चुनावों तथा गत आम चुनावों में मैंने जो काम किया, उस सबसे भी मुझे पूर्ण सन्तोष है। अफ्रिका मैं देश के स्वतन्त्र होने के पहले हो आया था। देश के स्वतन्त्र होने के बाद सन् ५० में मैं न्यूजीलैंड कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी कान्फ्रेंस में भारतीय शिष्टमण्डल का नेता होकर गया और सन् ५२ में फिर से कैनेडा की

कामनवैल्थ पार्लियामेंटरी कान्फ्रेंस में भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का एक सदस्य होकर। कैनेडा के इस दौरे में तो रूस को छोड़ मैं संसार के सभी देशों को गया और सभी जगह के लोगों को मैं प्रभावित कर सका। इससे भी मुझे कम सन्तोष नहीं है और फिर मैंने तमाम दुनिया को देखने की एक बड़ी भारी साध भी तो पूरी कर ली। इस क्षेत्र में मेरे द्वारा और भी अनेक सफल काम हुए ; जैसे त्रिपुरी का कांग्रेस अधिवेशन, जिसका मैं स्वागताध्यक्ष था और अनेक वर्ष बीत जाने पर आज भी जिस अधिवेशन को कम लोग याद नहीं करते हैं। अपने प्रान्त की कांग्रेस का मैं क्रियाशील सभापति माना जाता हूँ ; इसीलिए मैं इस पद पर जितने समय तक रहा हूँ शायद किसी प्रान्त में कोई नहीं। इस लम्बे राजनैतिक जीवन में मैंने अनेक अवसरों पर बड़े से बड़े त्याग, महान् से महान् साहस और अधिक से अधिक बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। पर यह सब होते हुए भी मैं जब अपना निरीक्षण करता हूँ तब मुझे सत्य के नाम पर यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि मेरे जीवन के कार्यों का यह प्रधान क्षेत्र रहते हुए भी इस क्षेत्र के मेरे समस्त कार्यों में देश-भक्ति, त्याग, साहस सब कुछ रहते हुए भी लोकेषणा वृत्ति ही प्रधान रही है। इसीलिए मुझे पद भी आकर्षित करते रहे हैं, लोग मेरे लिए क्या सोचते हैं, इसका भी मुझे सदा भय रहा है और जिन स्थानों पर पहुँचना मैंने अपना हक माना है उन स्थानों को प्राप्त न कर सकने के कारण मुझे क्षोभ और शोक भी हुआ है। यहाँ यह प्रश्न उठता है और मेरे मन में भी कई बार उठा करता था कि इस लोकेषणा से मुक्त हमारे या संसार के कितने नेता और कार्यकर्ता हैं ? पर इससे क्या ? आज जब मैं इस पर विचार करता हूँ तब मुझे यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि इस वृत्ति से मुक्त चाहे विरला ही व्यक्ति हो, लोकेषणा चाहे मानव की सबसे अन्तिम कमजोरी मानी जाती हो, यह वृत्ति चाहे अनेक सत्कर्मों की प्रेरक भी हो, फिर भी यह वृत्ति दूषित वृत्ति तो है ही। महाकवि मिल्टन ने लिखा है—"सम्मान, यश और सार्वजनिक प्रशंसा ऐसी चट्टानें हैं जिन पर बड़े से बड़े मानव प्रायः चूर-चूर हो गये हैं।"

मेरा चौथा सार्वजनिक क्षेत्र रहा है जिन्हें केवल सेवा का कार्य कहा जा सकता है, जैसे सन् २१ में जबलपुर की प्लेग रिलीफ कमेटी का कार्य, सन् २६

की बाढ़ में लोगों को सहायता देने का कार्य, सन् २८ में दुर्भिक्ष-पीड़ितों को मदद देने का कार्य, सन् ५३ में भूदान का कार्य इत्यादि। सभी सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं को अनेक बार इस प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। इन कामों में से पहला और अन्तिम कार्य सर्वथा सात्विक वृत्ति से हुआ, शेष सब अपने राजनैतिक दल के उल्लू सीधे करने के लिए। इनमें पहले और अन्तिम कार्य में जो आत्म-सन्तोष मुझे प्राप्त हुआ वह अपूर्व है।

यह हुआ मेरा व्यक्तिगत और सार्वजनिक अतीत जीवन। भूत के इस प्रकार के जीवन के कारण अपने वर्तमान जीवन में मैं सन्तुष्ट ही हूँ। जब मैं अपने अब तक के जीवन का सिंहावलोकन करता हूँ, अपना साहित्यिक कार्य देखता हूँ, स्वतन्त्रता के पूर्व और पश्चात् का अपने राजनैतिक कर्त्तव्यों का अवलोकन करता हूँ, तब मुझे अपना जीवन सफल ही जान पड़ता है। यों तो सफलता और असफलता सापेक्षिक हैं। एक जगह एंजिल्स ने लिखा है—"विश्व में निर्पेक्ष कुछ है ही नहीं, सब कुछ सापेक्ष है।" एंजिल्स के इस कथन से मैं पूर्णतया सहमत हूँ। कुछ वर्ष पूर्व मेरे मन में उठा करता था जो कुछ मैंने किया क्या उसके बदले में जो मुझे पाना चाहिए था वह मैं पा सका? और जब मैं यह सोचता तब मुझे अनेक ऐसे व्यक्ति दीखते जिन्होंने मुझसे न जाने कितना कम किया था और मुझसे न जाने कितना अधिक पाया था। यह प्रेक्षण मुझे क्लेश देता। गीता का भक्त रहते हुए, उसका नित्य पाठ करते हुए और उसकी "कर्मण्येमाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" उक्ति को निरन्तर स्मरण रखते हुए भी मेरा यह क्लेश न मिटता। परन्तु पिताजी की मृत्यु के पश्चात् एकाएक न जाने कैसे इस लोकेषणा से मेरे मन को छुटकारा-सा मिल गया। अब अनेक बार मुझे निम्नांकित दोहा याद आ जाता है—

चाह गयी चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह॥

मेरी वर्तमान वृत्ति "रपट पड़े तो हरगंगा" अथवा "अंगूर खट्टे हैं" के कारण तो नहीं हुई? हो सकता है ये भी इसका कारण हों, पर कारण जो भी हो कार्य तो ठीक हो गया, और फिर एक बात तो मैं अवश्य कह सकता हूँ मेरी वर्तमान वृत्ति अंग्रेजी में जिसे "फ्रस्ट्रेशन" कहते हैं, अर्थात् भग्न मनोरथों से

उत्पन्न नैराश्य, उसके कारण कदापि नहीं है। दुनिया में ऐसे कितने लोग हैं जिनके सारे मनोरथ पूर्ण हो पाते हैं ? मैं तो उन सौभाग्यशालियों में हूँ जिनके अधिकांश मनोरथ पूर्ण हुए हैं। मैं अपने को बहुत दूर तक अंग्रेजी के शब्दों में "कण्टेण्टेड" व्यक्ति मानता हूँ, "डिस्कण्टेण्टेड" नहीं अर्थात् सन्तुष्ट, असन्तुष्ट नहीं। फिर एक बात और है, कुछ स्थान जहाँ मुझे पहुँचना चाहिए था यदि मैं न पहुँचा तो इसी कारण कि या तो मैं आपस का संघर्ष न चाहता था या वे स्थान किसी के द्वारा नामजदगी के स्थान थे, चुनाव के नहीं। वुडरो विल्सन ने एक जगह लिखा है—"कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जिन्हें आत्म-सम्मान का गर्व आपसी झगड़े-झंझट नहीं करने देता।" नामजदगी के लिए अपने मतों में परिवर्त्तन कर अनेक बार अन्यों की हाँ में हाँ मिलाना पड़ता है। कुछ बातों में, जिनमें हिन्दी और गौरक्षा प्रधान है, देश के बड़े-बड़े नेताओं से मेरा मतभेद रहा और मेरे स्वभाव के अनुसार मेरे लिए यह कठिन ही नहीं असम्भव था कि किसी विशिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए मैं अपने मतों की अवहेलना कर किसी की भी हाँ में हाँ मिलाता। वर्त्तमान में दो बातों से मुझे और सन्तोष होता है। पहली यह कि जीवन में मेरे हाथ से अब तक ऐसा कोई कार्य नहीं हुआ जिससे मुझे किसी के सामने सिर झुकाना पड़े अथवा मेरा इहलोक या परलोक बिगड़े। मेरा बड़े से बड़ा विरोधी भी यह सिद्ध नहीं कर सकता कि मैंने जीवन में कोई अनैतिक कार्य किया है। चैस्टर फील्ड ने एक जगह लिखा है—"उन लोगों को जिन्हें चरित्रवान कहा जाता है केवल इसी बात पर जीवन में सन्तोष हो जाना चाहिए।" और दूसरी यह कि किसी के सामने मैंने किसी भी व्यक्तिगत या सार्वजनिक कार्य के लिए कभी हाथ नहीं पसारा। किसी ने कभी मुझे कुछ नहीं दिया और मैं किसी का भी ऋणी या उपकृत नहीं हूँ। इस सम्बन्ध में स्वामी रामतीर्थ ने जो कुछ कहा है मुझे कई बार याद आ जाता है और मुझे वह और सन्तोष देता है—"तुम कहीं भी दाता की स्थिति में रहो, याचक की नहीं, ताकि तुम्हारा काम सार्वभौम होवे, व्यक्तिगत नहीं।" इस दृष्टि से मेरी स्थिति जर्मनी की दो कहावतों के अनुसार है—"जिसने किसी से कुछ पाया नहीं उसे किसी को कुछ चुकाना भी नहीं है। और जो किसी से कुछ प्राप्त करता है वह अपनी स्वतन्त्रता बेच देता है।" न मैंने किसी से कुछ

पाया कि उसके बदले में कुछ देने की चिन्ता हो और इसलिए मैंने अपनी स्वाधीनता किसी के हाथ बेची नहीं है।

मेरे वर्त्तमान सन्तुष्ट जीवन में कुछ और कारण भी हैं—जो मेरा घर आर्थिक दृष्टि से नष्ट-भ्रष्ट हो गया था, वह बिना कोई अनैतिक कार्य किये फिर से ऐसी अवस्था में आ गया कि अब अर्थ का कम से कम कोई संकट नहीं है। मेरे सब बच्चे योग्य और निष्कलंक हैं। अच्छी सन्तान शायद इस संसार में सबसे बड़ा वरदान है। घर पौत्र-पौत्रियों के बाल-रव से सदा ही गूँजता रहता है और माता-पिता के प्रति अपने अन्तिम कर्त्तव्यों को भी मैं पूर्ण कर चुका। एक बात जब याद आ जाती है तब मेरा यह सन्तोष न जाने कितना गुना बढ़ जाता है। मैं जीवन भर घर में और बाहर सर्वत्र ही अत्यधिक स्नेह का पात्र रहा। जवाहरलालजी ने कभी कहा था कि उन्होंने दुनिया में कई अजीब चीजें देखीं, पर सबसे अजीब हिन्दुस्तान के लोगों की मुहब्बत है। मैं भी संसार में बहुत घूमा, पर भारत का सा स्नेह मैंने भी कहीं नहीं देखा। स्वीडन के महान् नाटककार स्ट्रिण्ड वर्ग ने एक जगह लिखा है—"इस ससार की कुछ महान् दैन है, इनमें मुख्य हैं—निर्दोष बच्चों का हर्ष, सुखी गृह-जीवन, साथियों की सराहना और कर्तव्यपालन का सन्तोष।" मुझे जीवन में ये सभी प्राप्त हो गये।

इस प्रकार भूत तथा वर्त्तमान जीवन का सिंहावलोकन करते हुए अपने भावी जीवन के सम्बन्ध में भी मैं सोचने लगता हूँ। यों तो भविष्य किसने देखा है? मैं न फलित ज्योतिष की और न सामुद्रिक की भविष्यवाणी पर विश्वास करता हूँ। हर व्यक्ति का भविष्य भी अनेक बार संसार, अपने देश और अपने आस-पास की चीजों पर निर्भर रहता है; जिनमें दैवी और मानवी दोनों प्रकार के कृत्य व्यक्ति के जीवन को भी उलट-पुलट सकते हैं। बिहार के भूकम्प के पहले क्या वहाँ के निवासियों के मन में यह विचार भी आया था कि पल भर के बाद क्या होने वाला है? दुनिया कितनी छोटी हो गयी है और कहाँ क्या हो रहा है इसे मैं हाल ही में देख आया हूँ। जापान के हिरोशिमा में जब परमाणु बम गिरा उस समय वहाँ के लोगों की जो दशा हुई उस बम गिरने के एक क्षण पहले तक क्या किसी ने सोची थी? तो जो बातें व्यक्ति के हाथ में नहीं वे भी उसके सारे जीवन को उथल-पुथल कर सकती

हैं। अनेक ऐसी बातें भी हैं जो व्यक्ति से ही सम्बन्ध रखती हैं, और वे भी उसके भूत और वर्त्तमान जीवन से उसका भावी जीवन सर्वथा बदल सकती हैं; जैसे भूत और वर्त्तमान का हृष्ट-पुष्ट निरोगी शरीर भविष्य में किसी व्याधि के कारण बेकाम हो सकता है। अचानक कोई काम ऐसा बन पड़ सकता है जो जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर दे। इसीलिए कहा जाता है कि मृत्यु होने तक कोई किसी के लिए यह नहीं कह सकता कि किसका जीवन कैसा बीता ? पर इन सब बातों के बावजूद भी मानव अपने जीवन के सम्बन्ध में कुछ उद्देश्य स्थिर करता ही है, उन उद्देश्यों के प्राप्त करने के लिए कुछ योजनाएँ भी बनाता ही है। फिर मैंने तो जीवन में अधिकांश काम योजना बनाकर ही किये हैं। योजना बनाकर काम करना मेरा एक प्रकार से स्वभाव ही हो गया है।

जैसा पहले भी कहा गया है जिस मानव के जीवन का उद्देश्य खाना-पीना और मौज करना इस निम्न कोटि का न हो उसका उद्देश्य तो आत्म-सम्मान और आत्म-कल्याण ही हो सकता है। मेरे जीवन-रथ के ये दोनों चक्र अब तक ठीक ढंग से घूमते रहे हैं। हर व्यक्ति अपना जीवन अपनी रुचि के अनुसार चलाने का यत्न करता है और इस सम्बन्ध में हरेक अपनी रुचि को ही ठीक समझता है, चाहे अन्य उसे कैसा ही क्यों न समझें। जब कोई व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार अपना जीवन चला पाता है तब उसे सन्तोष होता है और यदि किसी की रुचि ऐसी हो जिसकी जन समाज भी सराहना करे तब तो सन्तोष और बढ़ जाता है। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि जीवन रुचि के अनुसार नहीं चल पाता और कई बार तो रुचि में ही परिवर्त्तन हो जाता है। एक तो असन्तोष तब होता है जब जीवन रुचि के अनुसार चलने में बाधाएँ आती हैं और दूसरा असन्तोष तब होता है जब रुचि ही बदल जाती है। पहली स्थिति में संघर्ष होता है और इस संघर्ष में यदि सफलता मिल जाय तो फिर सन्तोष हो जाता है, पर दूसरी स्थिति का असन्तोष भयानक मानसिक अवस्था उत्पन्न कर देता है और यदि दूसरी स्थिति ढलती हुई उम्र में हो तब तो सारा जीवन खण्डहरवत् दिखायी पड़ता है, क्योंकि उस समय किसी नयी दिशा में चलने का न साहस होता है और न धैर्य। मेरा जीवन उन जीवनों में

रहा है जो सदा अपनी रुचि के अनुसार चला है, वह रुचि भी बहु जन-समाज की सराहना प्राप्त करती रही है और चाहे क्षणिक बाधाएँ आयी हों, पर उन बाधाओं को कुचल कर मैं जीवन-पथ में आगे बढ़ा हूँ। फिर रुचि परिवर्त्तन तो मुझमें कभी हुआ ही नहीं। भावी जीवन में इसमें व्यतिक्रम न होने देकर मृत्यु का साहसपूर्वक सामना करना है। यों तो मृत्यु से जीवन में मैं कभी भी भयभीत नहीं हुआ, अनेक बार उसके लिए साहसपूर्वक तैयार भी हुआ। शेक्सपीयर का कथन है कि "क़ायर मृत्यु के पहले ही कई बार मर चुकते हैं।" और फ्रांसीसी एक कहावत कि "मृत्यु के डर की अपेक्षा मृत्यु कहीं अच्छी।" दोनों को ही मैं सत्य मानता रहा हूँ। और जीवन में मुझे अनुभव भी हुआ है कि स्वामी रामतीर्थ का यह कथन सत्य है कि "जीवित वही है जो सत्य के लिए हर वक्त मरने को तैयार रहे।" अभय की यह मानसिक अवस्था भी धीरे-धीरे ही आती है। सन् १९१६ में पिताजी के भय ने मुझसे साहित्य-सम्मेलन की स्वागत-समिति का मन्त्रित्व तक छुड़वा दिया था; वहीं मैं मृत्यु से भी भयभीत नहीं रहा। रूसो ने एक जगह सर्वथा ठीक कहा है—"शनैः शनैः सावधानी से पग बढ़ाते हुए वयस्क और बच्चा किसी भी चीज से भयभीत न होना सीख जाते हैं।"

लोकेषणा से निवृत्त होने पर भी कोई आत्म-सम्मान में तो बट्टा न लगाना चाहेगा। संसार के अनासक्ति योग के सबसे महान् ग्रन्थ भगवद्गीता तक में कहा है—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥

इस देश का आज राजनैतिक क्षेत्र सम्मान की अपेक्षा पग-पग पर असम्मानित होने का ही क्षेत्र हो गया है। सर्वत्र पद-लोलुपता, और ये पद नाना प्रकार के स्वार्थों के साधन दिखायी पड़ते हैं। व्यक्तिगत दलगत कलह-संघर्ष, राग-द्वेष, पराकाष्ठा को पहुँच गया है। इसके कारण जो तू-तू, मैं-मैं, गाली-गलौज हो रही है उसकी सीमा नहीं रह गयी है। इसका अवलम्ब असत्य और कुत्सित से कुत्सित साधन है। न साध्य सही है और न साधन। इस परिस्थिति के कई कारण हैं। देश शताब्दियों से पराधीन था। वह पराधीनता

गरीबी लायी और "बुभुक्षितः किं न करोति पापं" की उक्ति के अनुसार हमारी नैतिकता और चरित्र दोनों समाप्त हो गये। एकाएक एक महापुरुष के कारण हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हुई जिसके लिए यथार्थ में हम योग्य नहीं थे। जिस प्रकार नींद से जगाया हुआ व्यक्ति गाली-गलौज पर उतारू हो जाता है और हाथ-पैर पछाड़ने लगता है वही हमारी दशा हुई है। इसके सिवा ये राजनैतिक पद, अर्थ और सम्मान दोनों के साधन सिद्ध हुए। जिन्होंने भी स्वतन्त्रता के संग्राम में थोड़ा सा भी भाग लिया था वे अपने को बड़े से बड़े पद के योग्य समझते हैं और चूंकि वे पद सबको नहीं मिल पाते इसलिए आपसी कलह तथा संघर्ष की उत्पत्ति होती है। जब अर्थ प्राप्त के अन्य मार्ग निकल आयेंगे और इसके लिए राजनीति तथा नौकरी ही सर्वोच्च साधन नहीं माने जायँगे, जब सम्मान के लिए भी एकमात्र राजनीति ही सब कुछ नहीं समझी जायगी, जब स्वतन्त्रता के युद्ध में भाग लेने वाली पीढ़ी न रह जायगी और जब देश के नैतिक चरित्र का निर्माण हो जायगा, तब यह परिस्थिति बदलेगी, परन्तु इसे अभी बहुत समय चाहिए और जब तक इस स्थिति में परिवर्तन नहीं होता तब तक जिनकी रोजी ही राजनीति से चलती हो, अथवा बिना अधिकार के जिन्हें क्षणमात्र को भी चैन न पड़ता हो, उनकी बात तो दूसरी है अन्य कोई भला आदमी क्यों इस पंक में फँसा रहे जिसमें इस समय तो कम से कम मुझे कहीं पंकज दृष्टिगोचर ही नहीं होता और जिसमें फँसे रहने से दिन पर दिन फँसाव बढ़ता ही जाता है। हमारे यहाँ चौथेपन में राजा भी राज-पाट पुत्र को सौंप तपस्या के लिए वन में चले जाते थे। पर अब तो राजनैतिक राजनीति में ऐसे चिपके रहना चाहते हैं जैसे चींटे गुड़ की डली पर; चाहे कमर टूट जाय पर जैसे चींटे से गुड़ की डली नहीं छूटती वैसे ही वर्त्तमान राजनीतिज्ञों से राजनीति। बल्कि अनेक की तो शायद यह अभिलाषा है कि पद पर रहते हुए ही किसी तरह उनकी मृत्यु हो जाती तो सरकारी ढंग के समारोह के साथ वे जला या गाड़ तो दिये जाते! कहाँ हमारे यहाँ की मृत्यु के आदर्श—या तो योग की समाधि में, या युद्ध क्षेत्र में—और कहाँ यह आसक्तिमय मृत्यु की अभिलाषा! मैं कम से कम जिसे अंग्रेजी में "सैडिल्ड" कहते हैं अर्थात् खोगीर कसी हुई मृत्यु का अभिलाषी नहीं हूँ। और ऐसे

राजनीतिज्ञों में जो सफल माने जाते हैं उनकी भी यथार्थ में क्या दशा है ? नार्वे के एक प्रसिद्ध साहित्यज्ञ जानसन ने अपने एक नाटक एडीटर में ऐसे राजनीतिज्ञों के विषय में लिखा है—"अधिकांश सफल माने जाने वाले राजनीतिज्ञों ने जो स्थान प्राप्त किये हैं, वे अपनी किसी महानता के कारण नहीं, पर अन्यों की दयनीय कमजोरियों के कारण। भावी समय ऐसे लोगों का एक भिन्न प्रकार का तखमीना करेगा। उस समय ये ठीक मापदण्ड से जाँचे जा सकेंगे और जितने बड़े ये आज दिखायी देते हैं उससे कहीं छोटे दिख पड़ेंगे।" फिर जैसा पहले कहा गया है कि कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इससे बेहतर कोई अन्य काम कर नहीं सकते, पर मेरा तो साहित्य मौजूद है। जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हुआ था तब तक राजनैतिक क्षेत्र से हटना कायरता थी। एक बार कुछ समय के लिए मैं हटा भी, पर सत्याग्रह आरम्भ होते ही में फिर आ गया। परन्तु अब हर क्षण मैं इस पचड़े से ऊबता हूँ और इससे हटने की इच्छा दिनोंदिन बढ़ती जाती है। हाँ, जीवन भर जिस क्षेत्र में काम किया हो उससे जल्दी हट सकना कठिन अवश्य होता है।

फिरी मेरी जो एक वृत्ति है और जिसका उल्लेख पिछले अध्यायों में हो चुका है कि हाथ में लिये हुए काम को मैं बड़ी कठिनाई से छोड़ पाता हूँ। यह वृत्ति भी मेरे राजनैतिक क्षेत्र से हटने में कठिनाई उत्पन्न कर रही है। एक बात और। मनुष्य ने जिस क्षेत्र में भी जीवन भर काम किया हो उस क्षेत्र को छोड़ने में वह अत्यधिक पशोपेश करता ही है। कुछ दिन पूर्व पं० जवाहरलालजी ने कहा था कि जिन्दगी भर जो काम आदमी करता आया है उसे बदलना आसान नहीं; बढ़ई अपना काम बदलकर लुहार नहीं बन सकता और लुहार बढ़ई नहीं। फिर जब मानव के मन में यह शंका उत्पन्न हो जाती है कि उसके अपने क्षेत्र से हटने का परिणाम जीवन भर में बनाये हुए काम का बिगड़ जाना हो सकता है तब तो उससे हटना और कठिन हो जाता है। पर एक दिन मृत्यु तो इन सब बातों की ओर दृष्टि विक्षेप तक किये बिना उससे सब कुछ छीन ही लेती है अतः ये सभी बाधाएँ यथार्थ में आसक्ति से ही उत्पन्न होती हैं और लोकेषणा से अपना पिण्ड छुड़ा लेने पर भी सब प्रकार की आसक्तियों से मैं अपना पिण्ड थोड़े ही छुड़ा सका हूँ। देखना है आत्म-सम्मान की रक्षा करते हुए

राजनीति से मेरा पिण्ड छूट पाता है या नहीं। भावी जीवन में राजनीति से विलग हो श्रीकृष्ण धाम की योजना को कार्यान्वित कर सकूँ तो उसे कार्यान्वित कर क्षुधित, दलित, रुग्णों की सेवा और साहित्य-सृजन करते हुए मैं वैसी ही मृत्यु का अभिलाषी हूँ जिसे पाकर पिताजी के सदृश मैं अपना आत्म-कल्याण कर सकूँ। क्षुधित, दलित, रुग्णों की सेवा और साहित्य-सृजन भी मैं इसलिए चलाना चाहता हूँ कि भगवान् ने जैसा गीता में कहा है कि जब तक प्राणी जीवित है तब तक बिना कर्म के तो वह क्षणमात्र भी नहीं रह सकता, साँस लेना भी जब एक प्रकार का कर्म ही है तब सद्कर्म क्यों छोड़े जायँ। और जहाँ तक सद्कर्मों का प्रश्न है, इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने पथ चुनने पड़ते हैं। हाँ, इस सम्बन्ध में पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक डब्ल्यू जे० लॉक के इस कथन को मैं सत्य मानता हूँ—"हर व्यक्ति को मुख्य आधार पकड़ना चाहिए और यह है प्रेम तथा कर्म।" मैं अपने लिए क्षुधित, दलित, रुग्णों की सेवा और साहित्य-सृजन से अच्छे कर्म नहीं देख पाता। एक बात और। इस प्रकार के कर्म करते हुए आत्म-कल्याण का यह मार्ग जो मैं अब ग्रहण करना चाहता हूँ इसमें भी मेरा वर्तमान सुखी और सन्तुष्ट जीवन एक बहुत बड़ा कारण है। पर इस प्रकार का सुख प्राप्त रहने पर यदि आत्म-कल्याण का ध्येय अवलम्बित हो जाय तब तो यदि यह अवलम्ब किसी भी कारण से खिसक जाय तो आत्म-कल्याण का ध्येय भी नष्ट हो सकता है। इस सृष्टि की रचना ही कुछ ऐसी है कि सदा सुखी रहने की अभिलाषा भी मृग-मरीचिका है। अपने "इन्दुमती" उपन्यास में मैंने इस विषय में कुछ विचार व्यक्त किये हैं, उनसे बेहतर तरीके से उन विचारों को व्यक्त करना शायद मेरे लिए सम्भव नहीं है। अतः इस सम्बन्ध में "इन्दुमती" में मैंने जो कुछ लिखा है उसी को यहाँ उद्धृत करता हूँ। इस उपन्यास की एक पात्री सुलक्षणा एक स्थान पर कहती है—"इस संसार में निरन्तर सुख पाने की अभिलाषा ही भूल है। कुछ लोगों का यह मत ही गलत है कि दुख सुख को तीव्र करने के लिए है, क्योंकि फिर तो यह भी कहा जा सकता है कि सुख दुख को तीव्र करने के लिए है। पहले मनुष्य संसार-सागर को तरने की बात सोचते थे और अब सोचते हैं संसार में आनन्द पाने की। दुनिया में सुख तथा दुख दोनों ही

हैं। संसार-सागर को तरने वाले भी दोनों पाते थे, पर वहाँ उद्देश्य रहता था त्राण पाने का। इसलिए दुख उन्हें इतना क्लेश न पहुँचाते थे। सुख पाने का उद्देश्य होते ही दुखों का अधिक दुखदायी होना स्वाभाविक है और सुख पाना जीवन का उद्देश्य होते ही इन सुखों के काल्पनिक रूप विशालकाय हो जाते हैं। सुख मिलने पर भी इन सुखों का प्रत्यक्ष रूप काल्पनिक रूपों से कहीं छोटा हो जाता है। कल्पना और यथार्थता का यह अन्तर अवश्यंभावी है, इसलिए सुखों की प्राप्ति भी निराशा की उत्पत्ति करती है।"

संसार-सागर को तर कर आत्म-कल्याण के लिए हमारे यहाँ अनेक मार्ग हैं। मैं हूँ भक्ति मार्ग का अनुगामी। ईश्वर में विश्वास भक्ति मार्ग का प्रथम सोपान है। ईश्वर के अस्तित्व में मेरी शंकाओं का समाधान भी पिताजी की मृत्यु के समय के दृश्यों से हुआ। फिर इस सम्बन्ध की शंकाएँ अकल्याण मेरा करेंगी, किसी अन्य का नहीं। इस विषय में भी अपने "इन्दुमती" उपन्यास में जो कुछ मैंने उस उपन्यास के एक पात्र ललितमोहन के मुख से कहलाया है उससे अच्छा विवेचन शायद मैं नहीं कर सकता अतः उसे भी यहाँ उद्धृत करता हूँ—"मुझे तो ईश्वर पर भी विश्वास है, और धर्म पर भी, बल्कि मैं यह कहूँ तो और ठीक होगा कि ईश्वर के विश्वास के अन्तर्गत धर्म का विश्वास आ जाता है। धर्म की विशाल फैली हुई हदबन्दियाँ चाहे घट गयी हों, पर जिन हृदयों में विश्वास का निवास है, वहाँ सच्चे धर्म का आधिपत्य न तो कम हुआ है और न कभी होगा। ईश्वर के विश्वास के बिना मृत्यु का सामना कितना कठिन होता होगा, यह मृत्यु शैया पर ही मालूम हो सकता है। यह विश्वास या तो जिस वायुमण्डल में बच्चे का लालन-पालन होता है, उसके संस्कारों से उत्पन्न होता है, या फिर बड़े होने पर अध्ययन आदि द्वारा सतत् प्रयत्न करने पर, किन्तु संस्कारों के कारण जिस विश्वास की उत्पत्ति होती है, उसका विनाश न कर, यदि उसका पोषण किया जाय तो वह अध्ययन आदि द्वारा उत्पन्न हुए विश्वास से कहीं अधिक श्रेयस्कर होता है। जो ईश्वर पर विश्वास करते रहे हैं, या करते हैं, उनमें से किसको उसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ है, यह मैं नहीं जानता। जब से मुझे होश है, तभी से मुझे ईश्वर में अखण्ड विश्वास है, किन्तु मुझे उसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण आज

तक नहीं मिला। यदि प्रत्यक्ष प्रमाण हा उसके अस्तित्व का सबूत है तो मैं कहूँगा कि वह नहीं है। इसी तरह जब हम दुनिया के कष्टों को देखते हैं, संसार के मत्स्य न्याय और मारकाट पर ध्यान देते हैं, तब भी हमें भासता है कि ईश्वर नहीं है, क्योंकि ईश्वर के रहते ईश्वर द्वारा निर्मित इस जगत् में भयानक और अन्यायपूर्ण बातें क्यों ? तर्कों से भी उसका अस्तित्व सिद्ध होना कठिन है, परन्तु इस प्रकार यदि मैं निरीश्वरवादी हो जाऊँ तो मैं समझता हूँ कि हानि मेरी ही होगी। ईश्वर के भय के कारण मैं कोई बुरा काम न करूँ, इसलिए मुझे ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, न अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही मैं उससे कभी कोई वर माँगता। अपने बल और अपनी शान्ति के लिए मैं कोई न कोई अवलम्ब चाहता हूँ, जो मुझे ईश्वर का विश्वास देता है। यदि मैं निरीश्वरवादी हो जाऊँ तो जीवितावस्था में मेरे पास कोई अवलम्ब न रह जायगा। विश्वास-लंगर के भग्न होने पर जीवन-जहाज डगमगाने लगेगा। मैं जीवित रहते हुए सच्चे धर्म का पालन न कर सकूँगा और मृत्यु का सामना करना तो अत्यधिक कठिन हो जायगा। मरना हरेक को पड़ता ही है, पर सवाल है, मरते समय शान्ति का। ईश्वर के भरोसे बिना शान्ति से मर सकना, यदि मैं असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य मानता हूँ।"

जब इस सृष्टि की ओर आप ध्यान दें तो यह मानव कैसा तुच्छातितुच्छ दिखायी पड़ता है। कितने सूर्य, कितने चन्द्र, कितने ग्रह, कितने नक्षत्र किस गति से घूम रहे हैं ! हमारा सूर्य अन्य सूर्यों से कितना छोटा है और हमारी पृथ्वी हमारे सूर्य के सामने क्या है ? इस प्रकार की बारह लाख, साठ हजार पृथ्वियों का एक सूर्य होता है। और फिर वह हमारी पृथ्वी तथा अनेक ग्रहों तथा उपग्रहों के साथ अनन्तकाल से चक्कर लगाता दौड़ा हुआ न जाने कहाँ चला जा रहा है। उसके प्रकाश की ही गति एक सैकिण्ड में एक लाख छियासी हजार मील है। इस सृष्टि का यह अबाधित काल, यह अबाधित क्षेत्र, यह अबाधित गति ! और फिर हमारी इस पृथ्वी पर यह महासागर, यह हिमालय, ये भारी-भारी पर्वत और सरिताएँ, ये बन, ह्वेल मछली सदृश जलचर और हाथियों के सदृश थलचर। ऐसी इस पृथ्वी पर मनुष्य क्या है ? वृक्ष की एक सूखी पत्ती, घास का एक छोटा तृण, पानी का एक बुदबुदा, अरे धूल के एक

नन्हें से कण के बराबर भी नहीं। और फिर नित्य कितने मानव आते और कितने जाते हैं। कितना अनित्य है यह सारा जीवन। कैसा क्षणभंगुर है यह शरीर। यदि पुनर्जन्म होता है तो भी और यदि इसी जन्म से सब कुछ समाप्त हो जाता है तो भी दोनों ही अवस्थाओं में वर्त्तमान नाम और रूप का तो अन्त हो ही जाता है। अरे, मनुष्य क्या सृष्टि में न जाने कितने सूर्य भी जल-जल कर खाक हो चुके हैं। आज जो गोविन्ददास नामक रूप है, वह वृक्ष की सूखी पत्ती, घास के तृण, पानी के बुदबुदे और धूल के कण के तुल्य भी नहीं। फिर सर्वथा अनित्य, क्षण-भंगुर। क्या महत्त्व है किसी को भी और क्या महत्त्व है मुझे? हाँ, जीवन को अवश्य महत्त्व है, जीवन में जो कुछ किया जाता है, उसे अवश्य महत्त्व है, क्योंकि इस सृष्टि की अनादि काल से चलती हुई और अनन्तकाल तक चलने वाली इस रचना में अनेक व्यक्तियों के जीवन प्रेरणात्मक रहे हैं। हर मानव का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन को इस प्रकार का बनावे जिससे वह स्वयं तो इस संसार-सागर को तर सके ही, परन्तु इसी के साथ अन्यों को भी उससे छोटी-मोटी प्रेरणा तो मिले।

इस प्रकार का जीवन चलाने के लिए हमारे देश के तत्त्ववेत्ताओं, दार्शनिकों, ऋषि-मुनियों, सन्तों और भक्तों ने जो मार्ग दिखाये हैं वे ही ठीक मार्ग हैं। भगवान् में भक्ति रख, स्वार्थों को वश में कर, अपने को और समस्त सृष्टि को भगवत् रूप मान, सबकी सेवा। अरे! हमारे यहाँ तो इस प्रकार जीवन-यापन कर अन्यों को इस प्रकार के जीवन-यापन की प्रेरणा देने भगवान् स्वयं अवतार ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार के जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में हमारे यहाँ के तत्त्ववेत्ताओं दार्शनिकों, ऋषि-मुनियों, सन्तों और भक्तों में कुछ ने कहा है परिमित स्वार्थ, क्योंकि बिना इसके जीवन-यापन ही सम्भव नहीं; अपरिमित परार्थ, इसके लिए तो जीवन उत्सर्ग भी कर देना पड़े तो तत्परता; और अन्त में बिना किसी विशेषण के परमार्थ, अर्थात् भगवत् प्राप्ति। कुछ ने कहा है धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। जीवन का अन्तिम लक्ष्य हमारे यहाँ तक तो मोक्ष ही माना गया है; और यह मृत्यु के पश्चात् ही नहीं जीवन रहते भी प्राप्त होता है। जीविता-वस्था में जो इसे प्राप्त कर सकते हैं उन्हें जीवन मुक्त की संज्ञा दी जाती है।

में अपने को कोई जीवन-मुक्त नहीं मानता ; जीवन-मुक्त तो दूर की बात है मोक्ष प्राप्त करने के पथ का पथिक मुमुक्षु भी नहीं । हाँ, इस पथ पर चलने की इच्छा अब अवश्य होती है । और इस पथ पर चलने वालों को इस बादलों के सदृश बदलते हुए स्वरूपों वाली सृष्टि की विभिन्नता में एकता के दर्शन का सतत प्रयत्न करते रहना ही एकमात्र पथ है । इस एकता के दर्शन के लिए कुछ प्रसिद्ध वाक्य हैं—'अहं ब्रह्मोस्मि,' 'तत्त्वमसि' "वसुधैव कुटुम्बकम् ।" मोक्ष का सुख जीवन-मुक्त को तब मिलता है जब वह सृष्टि से अपने एकत्व का अनुभव करने लगे । बच्चे को इस एकता का तो अनुभव होता है, परन्तु उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता । जीवन-मुक्त को अपने स्वरूप के ज्ञान के साथ ही अपनी और सृष्टि की एकता का अनुभव होता है । ऐसा जीवन मुक्त अपनी और सृष्टि की एकरूपता देखता है आत्मा में । अपने शरीर को तो वह बाह्य पदार्थों के समान एक पदार्थ मान, अपने शरीर तक से पृथक् अपने अस्तित्व का अनुभव कर, करने योग्य कर्म को शरीर द्वारा करते हुए, अन्य पदार्थों के सदृश अपने शरीर और उपर्युक्त प्रकार के कार्य का भी निरीक्षण किया करता है । यही है सच्चा आत्म-निरीक्षण और यही यथार्थ में हो सकता है जीवन का सच्चा ध्येय । जनक इसी अवस्था को प्राप्त कर देह रहते हुए भी विदेह कहलाये और वे विदेह कहा करते थे कि उनकी एक भुजा में यदि कोई चन्दन लगाये और दूसरी में अंगारे तो उन्हें किसी अन्तर का अनुभव न होगा ।

ऐसे जीवन-मुक्त के लक्षण न जाने कितने दार्शनिक ग्रन्थों में मिलते हैं, पर इनका सबसे सुन्दर वर्णन भगवद्गीता के स्थितिप्रज्ञ और गुणातीत के लक्षणों में हुआ है । नागार्जुन ने भी ऐसे तथागत का एक सुन्दर वर्णन किया है—"न उत्पाद है न उच्छेद, न निरोध है न सास्वत, न एकार्थ है न नानार्थ, न आगम है न निगम ।"

मेरी इस आत्म-निरीक्षण पुस्तक में अपने भूत और वर्तमान जीवन का यह सिंहावलोकन समाप्त करते हुए मैं भगवान् से प्राथना करता हूँ कि मेरा भावी जीवन भी पथभ्रष्ट न हो और जिस सेवा-पथ का मैंने अब तक चाहे किसी भी वृत्ति के कारण अवलम्बन किया हो, भविष्य में भी मैं उसी पथ

पर सर्वथा शुद्ध वृत्ति से डटा रहूँ तथा अपना सच्चा आत्म-निरीक्षण और आत्म-कल्याण कर सकूँ, भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करने के लिए जो प्रतिज्ञा की थी वह प्रतिज्ञा मेरे जीवन-यापन में मुझे सदा बल देती रहे—

इहासने शुष्यतु मेशरीरम्,
त्वगस्थिमांसं विलयं च यातु,
अप्राप्य प्रज्ञां बहुजन्मदुर्लभाम्
नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति ।

क्योंकि—

सुवर्ण पुष्पितां पृथिवीं
चिन्वन्ति ये त्रयोजनाः ।
शूरश्च कृतप्रतिज्ञश्च
यश्च जानाति सेवितुम् ।।

समाप्त

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

कुछ आये और दिये गये पत्र

विधवाओं की सहायता के सम्बन्ध में

ता० ११-११-१६

मान्यवर बाबू सा०,

आपकी सेवा में उन विधवाओं की नामावली भेजता हूँ जिन्हें सहायता देना मुझे उचित जान पड़ता है। आशा है आप जयपुर को प्रस्थान करने के पूर्व ऐसा कुछ प्रबन्ध कर जावेंगे जिससे उक्त दीनाओं को प्रतिमास समय पर सहायता मिल जाया करे। इस महीने में जिन जिनको वस्त्र देना वांछनीय है—उनके नाम के सामने विशेष वार्ता नामक विभाग में लिखा है।

भवदीय

दुर्गा प्रसाद पाठक

जबलपुर

माघ कृ० ५ सं० ७६

मान्यवर एवं प्रियवर बाबू सा०,

आपकी दी हुई सहायता से दो विधवाएँ अपना निर्वाह सुविधापूर्वक करने लगीं। शेष दो विधवाएँ प्लेग के कारण जबलपुर छोड़कर अन्यत्र चली गई हैं इसलिए उन्हें सहायता न दी जा सकी। उनका रुपया मेरे पास जमा है सो या तो अन्य उपयुक्त पात्र मिलने पर उन्हें दिया जायगा, अन्यथा दूकान में लौटाया जायगा। जो स्त्रियाँ यहाँ हैं वे समय पर सहायता पाती हैं। इस महीने में भी उचित समय पर मुनीमजी ने मेरे पास रुपये भेज दिये थे।

मेरा विचार है कि जो द्रव्य मेरे पास शेष बचा है उसी में से खर्च करूं और तब तक दूकान से कुछ न मँगवाऊँ जब तक कि यह खर्च न हो जावे।

आपका कृपापात्र
दुर्गाप्रसाद पाठक
नार्मल स्कूल,
जबलपुर

पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी को दिये गये तथा उनके आये हुए भेटों सम्बन्धी पत्र

श्रीमान् द्विवेदीजी, प्रणाम।

आपका १२ जुलाई का कृपापत्र प्राप्त हुआ। आपने मुझे जो बड़ाई दी है उसे मैं आपका आशीर्वाद मानकर ग्रहण कर लेता हूँ, यद्यपि मैं किसी प्रकार उसके योग्य नहीं हूँ। आपके दूसरे उत्तर से मुझे बड़ी निराशा हुई है। जो आप यह कहते हैं कि सेवा तो बड़ों और पूजनीयों की की जाती है सो मैं आपको सब प्रकार से बड़ा और पूजनीय मानता हूँ। मैं ही क्या, सभी हिन्दी प्रेमी और विद्वान् आपको इसी आदर की दृष्टि से देखते हैं। मैंने आपकी सेवा करने के लिए जो आज्ञा माँगी वह सचमुच मेरी धृष्टता थी, परन्तु बिना आपकी आज्ञा माँगे मेरा यह साहस न हुआ कि मैं आपकी सेवा करूँ। मैं सदैव आपके स्मरण रखने में अपना गौरव समझूँगा और समय-समय पर साहित्य कार्य में आपसे सहायता की याचना करूँगा जिसके लिए मुझे आपसे पूर्ण आशा है।

मैं समझता हूँ कि इस बार आपके उत्तर से मेरी सेवा सम्बन्धिनी निराशा अवश्य दूर हो जायगी।

विनम्र
गोविन्ददास

डाकखाना, दौलतपुर, रायबरेली

२२ जुलाई, १९२०

श्रीमान्यवर,

१८ जुलाई का कृपापत्र मिला। क्या आप स्वर्गवासी राजा गोकुलदास के वंशज हैं ? कोई ३५ वर्ष हुए, मैं भोपाल में स्टेशन मास्टर था। उनकी शायद वहाँ कोई कोठी थी। वे कभी-कभी वहाँ जाते थे। याद तो यही कहती है कि उनका नाम राजा गोकुलदास ही था। पर शायद वे और ही कोई हों। स्टेशन मास्टर की हैसियत से मुझे उनसे काम पड़ता था। वे मुझसे प्रसन्न रहते थे और मैं उनसे। उस समय रेल इटारसी से भोपाल तक ही थी। अगर आप यह हृदय से समझते हैं कि मैंने अपनी भाषा का या किसी जनसमुदाय का कुछ उपकार किया है अतएव मैं सेवा या सहायता का यथार्थ पात्र हूँ तो आप अपनी सन्तुष्टि के लिए अपनी इच्छा-पूर्ति कर सकते हैं। पर यह सेवा या सहायता निष्काम होनी चाहिए उसमें दान की बू न होनी चाहिए मुझसे उसके बदले में कुछ काम लेने की प्रवृत्ति भी मन में न होनी चाहिए। मैंने १७५ रु० महावार की मुलाजमत छोड़कर २१ रु० पर सरस्वती की सम्पादकता आरम्भ की थी इस बात को १७ वर्ष हो चुके हैं। मैंने और भी कुछ आत्म-त्याग किया है। इस दशा में मैं आपकी सेवा को अपनी कद्रदानी मात्र समझूँगा।

देवता के मन्दिर में जाकर उससे पूछा नहीं जाता कि सेवा करूँ या नहीं और करूँ तो कितनी और कैसी। देवता तो भक्ति देखता ही है। वह एक फूल और चार अक्षतों से भी प्रसन्न हो सकता है। इस प्रलाप को आप क्षमा करें।

शुभानुध्यायी
महावीरप्रसाद द्विवेदी

पुनश्च—

आप मुझे बड़ा समझते हैं यह आपके हृदय की महत्ता है। बड़ों के सम्यक् से ही छोटे बड़े हो जाते हैं। ना मैं विद्वान्, ना मैं कोई बड़ा लेखक, और ना और ही कुछ। किसी भाँति पेट की रोटी कमा खाता हूँ।

मेहनत करके मजदूरी लेना ही मुझे पसन्द है। निष्काम कर्म और निष्काम सेवा संसार में दुर्लभ है। जिसे आप सेवा करना कहते हैं उसके भीतर दान का भाव छिपा रहता है और दान लेना मैं निषिद्ध समझता हूँ। दान देने वाले की दृष्टि में लेनेवाला तुच्छ ज्ञात होता है। यह मुझे असह्य है। अब यह बताइये कि मेरा खयाल सच है या नहीं।

इलाहाबाद, १९-१०-२०

श्रीमन्,

आपका ९ अक्टूबर का कृपापत्र मुझे बनारस में कल मिला। १२ से १८ तारीख तक बनारस रहा। आज यहाँ हूँ। कल बहुत करके कानपुर चला जाऊँगा।

खेद है, मेरे पत्र आपको नहीं मिले। आपके मनीआर्डर की पहुँच मैंने तुरन्त ही लिख भेजी थी। आपको धन्यवाद दिया था। अपनी कृतज्ञता प्रकट की थी। अब मैं फिर आपको बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ।

आपने मुझे लिखा था कि आप बम्बई से मेरे लिए कुछ कपड़ा भेजेंगे। उस पत्र का भी उत्तर मैंने दिया था। उत्तर लिखकर लिफाफे में बन्द किया था। पीछे ३ आने के टिकट लगाये थे। फिर एक बड़े लिफाफे के भीतर रख कर पं० कामताप्रसाद को भेज दिया था कि इसे वे आपके पास बम्बई भेज दें वहाँ का पता लिखकर। पर वह पत्र उन्हें नहीं मिला। आपको कैसे मिलता। खेद है मेरे दोनों पत्र आप तक न पहुँचे।

मैंने पिछले पत्र में आपको लिखा था कि यदि आप कपड़ा भेजना ही चाहते हैं तो मुझे पूछकर भेजिएगा। क्योंकि मुझे क्या दरकार है यह मैं ही जानता हूँ। सरकार, मैं अधिकतर गाढ़ा और दुसूती से ही अपना काम चलाता हूँ। आपकी कृपा और उदारता से अब रेशमी वस्तु व्यवहार करने का सौभाग्य प्राप्त हो जायगा। अनेकानेक धन्यवाद। पारसल अभी मिला नहीं घूम-फिर कर मिल ही जायगा।

बनारस में पं० कामताप्रसाद से आपके विषय में बातचीत हुई थी।

शारदा पुस्तक माला के विषय में भी वे सब बातें आपसे कहेंगे।

तन्दुरुस्ती ठीक होने पर गरमियों में ही एक दिन के लिए सिर्फ आपके दर्शन करने मैं जबलपुर आ सकूँगा। और काम करने का सामर्थ्य मुझ में नहीं।

आपके महाकाव्य का एक सर्ग भी देखूँगा। जरा सरस्वती से मुझे अवकाश भर मिले। कृपा रखियेगा।

मंगलकांक्षी
महावीरप्रसाद द्विवेदी

जुही कानपुर
२-११-२०

श्रीमतांवर,

आश्विन शुक्ल १४ का पत्र दौलतपुर से घूमकर आज मुझे प्राप्त हुआ।

जी हाँ, पारसल मिल गया। आपने प्रेम पुरस्कारों की भरमार करके मुझे ऋय कर लिया। मैं आपको हृदय से शुभाशीर्वाद देता हूँ। आपने बहुत कीमती कपड़े भेजे। इतने खर्च से तो मेरे घर के सभी कुटुम्बियों के कपड़े बन जाते।

निवेदक
महावीरप्रसाद द्विवेदी

पं० मोतीलालजी नेहरू के भेंट सम्बन्धी पत्र

Anand Bhawan.
Allahabad
3rd April, 1925.

Dear Govind Das,

Thanks for the arrangements you have made for sending me the logs of wood. You need not take the trouble to send for more logs from villages for the present. I shall let you know if any more is wanted and if so how much.

Yours sincerely.

Anand Bhawan
Allahabad.
28th April, 1925.

Dear Govind Das,

Many thanks for the logs of Teak wood duly received. I will not trouble you to send any more as those you have sent will be quite enough for the purpose for which they can be used. Kindly instruct your men to send me an invoice giving the total cost including carriage etc.

Yours sincerely,
Motilal Nehru.

लेखक के हिन्दी प्रेम और साहित्य के सम्बन्ध में कुछ साहित्यिकों के पत्र

आजमगढ़
२७-१-१६

सहृदय शिरोभूषणेषु !

आप वैश्य वंशावतंस हैं, हिन्दी प्रेमी हैं, मातृभाषा सेवक हैं, भाषा साहित्यकार हैं, ये सम्बन्ध पर्याप्त हैं, जो मुझको आपकी ओर आकर्षित करते हैं आप जैसे धनकुबेर से मेरी आजीवन आराध्या श्रीमती नागरी देवि की बहुत कुछ समुचित उन्नति होने की आशा है और मुझको यह आशा ही आपके प्रेम-पाश में बद्ध करती है। मैंने आज तक पूजनीया हिन्दी भाषा की सेवा निस्वार्थ भाव से की है, वही निस्वार्थता आज भी मेरा सम्बल है। आप जैसे उदार भावुक हृदय सज्जन द्वारा जो मातृभाषा की समुन्नति होगी—वही मेरी तुष्टि का परम साधन है।

भवदीय
अयोध्यासिंह उपाध्याय

महल्ला सदावर्ती
आजमगढ़
८-४-१९

सज्जन शिरोभूषरोषु ।

आप जैसे लक्ष्मी के लाल भी मातृभाषा की सेवा में निरत हैं, और उसके उद्यान में अभिनव मनोरम प्रसून सुविकसित करने की ओर दत्तचित्त हैं, यह आत्म-गौरव की बात नहीं। मैं यह जानकर अत्यन्त आनन्दित हूँ—और मातृभाषा के भविष्य को बहुत ही समुज्ज्वल अवलोकन कर रहा हूँ। परमात्मा आपका उत्साह सदा ऐसा ही बनाये रहे, और आपका हिन्दी भाषानुराग प्रतिदिन अधिकाधिक होता रहे, यही वांछनीय है।

भवदीय
अयोध्यासिंह उपाध्याय

चिरगाँव
२१-४-१९

प्रिय सेठजी,

आपके उत्साह की प्रशंसा करता हूँ। कहीं-कहीं आपकी उपमा-उत्प्रेक्षाएँ मुझे बहुत पसंद आयीं।

आपका
मैथिलीशरण

डाकखाना दौलतपुर, रायबरेली
१२ जुलाई, २०

श्रीमतांवर,

९ जुलाई का कृपापत्र मिला। आपके औदार्यदर्शक शब्दों के लिए अनेक धन्यवाद। उन्होंने मेरे हृदय पर बड़ा असर किया। आपके कभी दर्शन होने का भी सौभाग्य मुझे नहीं हुआ, फिर भी मुझ पर आपकी इतनी कृपा!

यह आपके सौजन्य की पराकाष्ठा है। किसी ने सच कहा है—

जान्यैव पेशलधियः सदया भवन्ति

बड़े आदमी हृदय के कोमल पुरुष स्वभाव से सदय होते हैं।

शुभानुध्यायी

महावीरप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी मन्दिर के सम्बन्ध में कुछ साहित्यिकों के पत्र

प्रयाग, फा० शु० ६, १९७६

प्रे० पण्डित श्रीधर पाठक।

प्रा० श्रीमान् बाबू गोविन्ददासजी,

राजा गोकुलदासजी की कुंज,

मथुरा—

प्रियवर बाबू गोविन्ददासजी,

आपका हिन्दी मन्दिर की स्थापना द्वारा हिन्दी भाषा के साहित्य को पूर्ण करने का प्रस्ताव सचमुच परम श्लाघ्य है। हिन्दी का भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा होना तो स्वतः सिद्ध है, क्योंकि कई शताब्दियों से यह इस देश की सामान्य भाषा हो रही है अथच बंगाल, आसाम, उड़ीसा, मद्रास, बम्बई और (शायद) काश्मीर खण्डों को छोड़ शेष देश का उच्च साहित्य हिन्दी ही में है। अतः यदि उसे राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्ध में भारत भर की राष्ट्र-भाषा बनाने का विशेष प्रयत्न न भी किया जाता तो भी 'हिन्दी मन्दिर' सरीखी संस्था का स्थापन उचित और सामयिक होता।

शुभैषी—

श्रीधर पाठक

जयपुर भवन,
मेयो कालेज,
मिति भा० शु० ११, १९७७

प्रिय बाबू गोविन्ददास साहब, आशीर्वाद

कृपापत्र आपका भा० शु० ६ का मिला, यह जान कर हर्ष हुआ कि हिन्दी मन्दिर स्कीम चल निकला है। आशा है जैसे ट्रस्ट डीड की रजिस्टरी हो गई है वैसे सोसाइटी की भी शीघ्र हो जायगी। यह आपने बहुत अच्छा किया कि अधिक धन के संग्रह की प्रतीक्षा न करके जो मिला उसी से कार्य आरम्भ कर दिया। अब धन संग्रह आपको शीघ्र करना चाहिए। चलते काम पर धन संग्रह करना कठिन नहीं है।

फर्गुसन कालेज की तरह आवश्यकतानुसार वेतन लेकर हिन्दी सेवा करने वालों की खोज करूँगा। मिला तो आपको लिखूँगा। इन प्रान्तों में ऐसे मनुष्यों का मिलना अभी कठिन है। काशी आदि में मिल सकेंगे जहाँ कुछ प्रचार है। जयपुर में मित्र कार्यालय तथा यहाँ पर 'माथुर ट्रेडिंग कम्पनी' शारदा तथा पुस्तकमाला की एजेन्सी ग्रहण कर सकते हैं। इनसे पत्र-व्यवहार मैनेजर से करवाइयेगा।

मेरे योग्य जो काम हो वह करूँगा। आपकी 'सभा' यदि मेरी छुट्टियों में हुई तो सहर्ष आ जाऊँगा, नहीं तो सम्मति अवश्य भेज दूँगा। भाई सोमदेव तो आपके सुपुर्द ही हैं। वह यथासाध्य काम करने तथा आने-जाने के लिए स्वतन्त्र ही हैं। उससे आप काम लीजिये।

यहाँ सकुशल हैं, आपका कुशल चाहिए।

आपका
चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

कुछ राजनैतिक पत्र जिनमें गये और आये हुए पत्र तथा गश्ती पत्र भी सम्मिलित हैं

लेखक का पहला राजनैतिक गश्ती पत्र

महोदय,

यह प्रान्त आरम्भ से ही पिछड़ा हुआ है और जब कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य इस समय हम लोगों के सामने आया तब हमारे पूज्यपाद शुक्लजी (विष्णुदत्तजी) का स्वर्गवास हो गया।............शुक्लजी की सदैव इच्छा थी कि यह प्रान्त अन्य प्रान्तों से कभी पीछे न रहे।......इस समय देश की अवस्था को देखते हुए और पूज्य शुक्लजी की परम पवित्र अभिलाषा पर ध्यान देते हुए हम लोगों का यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि हम लोग अपने प्रान्त को किसी प्रकार पिछड़ा हुआ न रहने दें। इस काम के लिए प्रान्तीय संगठन की आवश्यकता है। और किसी को दो कदम आगे बढ़कर सारे प्रान्त में प्रेम सहित परस्पर सहकारिता की शक्ति को उपयोग में लाना होगा ताकि इस प्रान्त के बिखरे हुए स्वदेश-प्रेमी हृदय देश-सेवा के और प्रान्तीय संगठन के एक सूत्र में गुँथ जायँ।

हमारे प्रान्त में ऐसे अनेक कार्य हैं जिनका संगठन बहुत शीघ्र हो जाना चाहिए जैसे राष्ट्रीय शिक्षण, पंचायती अदालत, हाथ से सूत कातने और बुनने का काम, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार, विदेशी माल का बहिष्कार, मादक पदार्थों का त्याग इत्यादि। इन सब कार्यों की सफलता के लिए सबसे पहले ग्राम संगठन की आवश्यकता है।...............

कांग्रेस के नये संगठन के अनुसार मध्य प्रदेश के हिन्दी जिलों का एक नया प्रान्त बन गया है। इस प्रान्त के लिए प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का संगठन शीघ्र होना चाहिए।.........................जबलपुर में इस कार्य के लिए १२ फरवरी को बैठक होगी। आशा है आप अपने मित्रों सहित उस समय यहाँ अवश्य पधारेंगे।

अन्त में यही प्रार्थना है कि उक्त सब सार्वजनिक विषयों पर सम्मति देने की शीघ्र ही कृपा कीजिए और यह भी लिखिये कि आगे कैसे कार्य

करना उचित होगा । आप विद्वान् हैं, अनुभवी हैं और बड़े हैं । इसलिए मैं यह अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि आगे कार्य के लिए आपसे सम्मति लूँ ।

भवदीय

गोविन्ददास

उपर्युक्त गश्ती पत्र के उत्तर में लेखक को मिले हुए कुछ प्रधान राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के पत्र

बिलासपुर,

५-२-१९२१

श्रीमान् महोदय,

आपका कृपापत्र हस्तगत हुआ । शुक्लजी के स्वर्गवास से इस प्रान्त के हर एक क्षेत्र के सार्वजनिक कार्य को जो धक्का लगा है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । आपका कथन शब्दस: ठीक है । मेरा विश्वास है कि आप सरीखे देशोत्साही महानुभावों के द्वारा देश की नौका का पार अवश्य लग जायगा । प्रान्तीय संगठन की परम आवश्यकता निस्सन्देह है । मैं अपने मित्रों सहित ता० ११ को आऊँगा । उस समय मित्रों की अनुमति के अनुसार कार्य करने को तत्पर रहूँगा ।

आपके पत्र में किये हुए प्रश्नों का उत्तर स्वत: तारीख ११ को जबलपुर में ही देऊँगा ।

आपका विनीत

राघवन्द्रराव

रायपुर,

५-२-१९२१

प्रिय बाबू गोविन्ददासजी,

आपका कृपापत्र मिला ।·········सत्य है जो हानि हमारे प्रान्त को शुक्लजी की असामयिक मृत्यु से हुई वह शब्दों में नहीं लिखी जा सकती ।

प्रान्तीय संगठन की योजना जो हम लोगों ने तैयार की है उसकी एक प्रति शायद श्री राव बैरिस्टर ने आपकी सेवा में भेजी होगी ।.........हम लोग छत्तीसगढ़ से ता० १२ को जबलपुर पहुँचेंगे ।

आपका स्नेही,
रविशंकर शुक्ल

दुर्ग

श्रीमान् बाबू गोविन्ददासजी,

आपका ता० २ फरवरी सन् १९२१ का पत्र पाकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ ।.........हमारे प्रान्त के आप अगुआ हैं । पण्डित शुक्ल के वियोग में हमारे आधार आप ही सरीखे हो सकते हैं । आप कार्यक्षेत्र में जबलपुर को आदर्श बना दीजिए ताकि हम छत्तीसगढ़ के पिछड़े हुए लोगों को अनुकरण करने में सुभीता हो ।

भवदीय,
द्वारकानाथ

राजिम
फाल्गुन सुदी २, १९७६

प्रियवर,

आपका कृपापत्र पहुँचा । पलटे में इसके लिए अनेक धन्यवाद । हमारे स्वर्गीय शुक्लजी के वियोग ने वास्तव में हमें मर्माहत कर छोड़ा है ।......मैं यह देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हो रहा हूँ कि आप इस कर्त्तव्य में अग्रसर हो रहे हैं । ईश्वर आपको बल दे । प्रान्तीय संगठन और ग्रामीण संगठन बहुत ही आवश्यक विषय है । इनके बिना कोई भी कार्य व्यवहार रूप में नहीं लाये जा सकते ।

आपका विनीत सेवक,
सुन्दरलाल शर्मा

खण्डवा
७-२-१९२१

महोदय,

आपके लिखने के माफिक यह बहुत आवश्यक है कि यहाँ संगठन बन कर प्रान्त के आगे बढ़ाने के काम में तन मन धन से कार्य करने को मैदान में आ जावें। जिससे इस प्रान्त के देश-भक्त और नवयुवक एकत्र होकर भारत माता की आवाज को इस प्रान्त के एक-एक गाँव और कोने में फैला कर गुँजा दें। आपका लिखना बहुत ठीक है। हमारे प्रान्त को अभी अनेक कार्य करना है। इसलिए संगठन बहुत शीघ्र बन कर कार्य में परिणत हो जाय और नीचे लिखे कार्यों का अच्छी तरह से प्रचार किया जाय जैसे राष्ट्रीय स्कूल खोलना, पंचायती अदालतें खोलना, हाथ से सूत कातने का प्रचार करना, विदेशी मालों का बहिष्कार और मादक चीजों का त्याग इत्यादि। इन सब कार्यों के लिए ग्राम संगठन की बहुत आवश्यकता है। मुझे अच्छी तरह विश्वास है कि आप जो कुछ करेंगे वह बड़े विचार के साथ और ठीक ही करेंगे। आपके कार्यों में मुझे पूरी तरह से सहानुभूति है और जो कोई काम मेरे योग्य हो सो लिखें।

आपका सेवक,
कालूराम अमरचन्द गंगराड़े
वकील

बिलासपुर,
१०-२-१९२१

मान्यवर,

आपका कृपापत्र मिला। इसमें सन्देह किंचित् नहीं कि शुक्लजी के स्वर्ग-वास से इस प्रान्त के राष्ट्रीय जीवन को बहुत हानि हुई है।

'कर्मवीर' में प्रकाशित स्कीम को मैंने देखा है उस विषय में व आपके पत्र में के और विषयों पर सम्मति देने के लिए मेरे मित्र मिस्टर ई० राघवेन्द्रराव

बैरिस्टर जबलपुर आ रहे हैं। मैं उनसे हर विषय में सहमत हूँ।

मेरी स्वत: इच्छा थी कि ता० १२ को मैं सम्मिलित होता परन्तु कुछ कार्य विशेष के कारण मेरा आना न हो सकेगा। कृपया क्षमा करेंगे।

आपकी कृपा से यहाँ सब कुशल है। आपकी कुशलता सदैव चाहिए।

आपका कृपाकांक्षी,
कुंजबिहारीलाल अग्निहोत्री

धमतरी,
१-२-१९२१

श्रीमान् महानुभाव बाबू गोविन्ददासजी,

शुभस्थान जबलपुर सादर यथायोग्य के पश्चात् विदित हो कि आपका कृपापत्र मिला। डि० कां० कमेटी, जबलपुर तथा मध्य प्रान्तीय हिन्दी कांग्रेस कमेटी के संगठन के विषय का समाचार विदित हुआ।

परलोक पूज्यनीय देश-भक्त पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल के बिना हम हिन्दी जिले वाले कितने असहाय हो गये हैं यह बतलाने की जरूरत नहीं। अभी नागपुर कांग्रेस के समय बैरिस्टर दीक्षित महाशय के बंगले पर हम सब एकत्र होकर उनके अनुरोध से मध्य प्रान्तीय किसान सभा का संगठन किया गया था और उसका अधिवेशन कटनी या सिहोरा में स्वर्गस्थ शुक्लजी ने स्वयं निश्चित किया था। परन्तु हाय, बीच ही में वे हमें छोड़ गये।

तथापि उनके कार्य को उसी उत्साह से आपने जारी रखा है इसके लिए आप अनेक धन्यवाद के पात्र हैं। इसमें लेश मात्र भी शंका नहीं। मध्य प्रान्तीय हिन्दी जिले बिलकुल ही अनाथ नहीं बन गये हैं यह आपकी कृति से प्रत्यक्ष हो रहा है।

आशा है प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की कार्रवाइयों से आप हमें सूचित करते रहेंगे।

मालगुजार मेघा,
पो० धमतरी, जि० रायपुर

भवदीय,
नारायण विट्ठल फडनवीस

दमोह,
२८-२-१९२१

श्रीमान् बाबू साहब,

बन्देमातरम् ।

आपका कृपापत्र मिला। जिला संगठन का विवरण जो आपने अपने पत्र में देने का कष्ट किया उसके लिए अनेक धन्यवाद। प्रायः उसी रीति से यहाँ भी कार्य जारी किया जाने वाला है। कार्यकर्त्ताओं का अभाव सब जगह खटकता है। परन्तु आशा है कि इसी सप्ताह में देहात की व्यवस्था प्रारम्भ हो जावेगी। कार्य की शैली जो आपने प्रारम्भ की है सचमुच अच्छी है और हर जगह मान्य होनी चाहिए।

शेष शुभ,

भवदीय,
झुन्नीलाल वर्मा

क्वार्टर १०, होस्टल प्वाइंट
जी ३, रायसीना, देहली
२३-२-१९२१

श्रीमान् बाबू साहब,

ता० ३-२-२१ का कृपापत्र मिला। आज छिन्दवाड़े से आदमी आया। कई दिन की डाक पड़ी थी। मेरे मुंशी ने सब डाक वहीं रख छोड़ी। मैं ता० १-२-२१ को यहाँ पहुँच गया था। अतएव विलम्ब के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। कौंसिल ता० २९ को खतम होगी। ता० १०-११ अप्रैल तक मैं छिन्दवाड़ा पहुँचूँगा। तभी आपके कृपापत्र का विस्तृत उत्तर दूँगा। मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ हूँ जो मुझे स्मरण करते रहते हैं। यह केवल आपकी उदारता और दया है, मैं किसी योग्य नहीं।

कृपापात्र,
प्यारेलाल मिश्र

Raipur,
25.2.1921.

My dear brother Govind Dasji,

I thank you for your last letter.......We have opened National School. We are printing leaflets on various subjects in Hindi. Two pleaders have suspended practice. We have employed them as Headmaster...We had excise sales today. The contractors went to the Town Hall and simply dispersed shouting Mahatma Ji Ki Jai...I shall at all times be glad to co-operate with you and help you to the best of my ability and power. The curse of the public life in India is that the sons of our rich men do not go in the politics, as the sons of the rich men in Western countries do it. Looked from this point you are setting an excellent example to others and if you go in the way you are going on I have no doubt that you will be able to satisfy your desire of serving country men to the fullest extent.

Yours very sincerely,
A.M. Theker.

मध्य प्रदेश के भूतपूर्व मंत्री श्री दुर्गाशंकर मेहता का लेखक से जो पत्र-व्यवहार हुआ और जिसके फलस्वरूप मेहताजी असहयोग में सम्मिलित हुए उस पत्र-व्यवहार के दो पत्र

सिवनी,
८-२-१९२१

श्रीमन्,

आपका कृपापत्र आया।

आपने मुझे जिन शब्दों में स्मरण किया है, अर्थात् आप लिखते हैं कि आप विद्वान् हैं, अनुभवी हैं और बड़े हैं। मुझे अत्यन्त शंका है कि मैं इन सराहनाओं के योग्य हूँ। मुझे तो यह भासता है कि आगे मेरे विचारों को पढ़कर कहीं आप ऐसा न धारें कि आपने बिना विचारे ही इन अपूर्व शब्दों का

प्रयोग एक क्षुद्र व्यक्ति के लिए किया। यदि आपको हताश होना पड़े तो मैं आप से बार-बार क्षमा की प्रार्थना करता हूँ। यदि मैं आपके मन के समान न उतरा तो आपको अवश्य खेद होगा परन्तु मैं आप से विनय करूँगा कि आप मेरे लघु विचारों को उदारता से जाँचिये।······

मैं असहकार की पूरी स्कीम का कायल नहीं हूँ। (१) मैं खिताबों और अवैतनिक सम्मानों के छोड़ने का पक्षपाती हूँ। परन्तु यह भी मानता हूँ कि मनुष्य इन सम्मानों को धारण करते हुए भी देश की पूरी-पूरी सेवा कर सकता है और केवल इसलिए कि वह इन्हें नहीं त्यागता कुत्सित नहीं कहा जा सकता। मैं बायकाट की जो प्रथा निकल गई है उसके बिलकुल विरुद्ध हूँ। (२) प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने वाले स्कूलों से विद्यार्थियों के निकालने का विरोधी हूँ। मैं जानता हूँ कि सरकारी या सरकारी पूँजी से मदद लेने वाले स्कूलों के बैठ जाने से ब्रिटिश राज्य की इज्जत पर बड़ा भारी धक्का लगेगा परन्तु फल के विचार से कार्य कहीं ज्यादा हानिकारक है। छोटे-छोटे लड़के किसी आन्दोलन के काम के भी नहीं हैं। यदि अक्षर पढ़ लेवेगें तो आगे काम देवेंगे। कालेजों के विषय में कुछ हिस्से में सहमत हूँ कि यदि लड़के इन्हें छोड़ कर आन्दोलन करें तो अवश्य लाभदायक है। मैं राष्ट्रीय मदरसों के, जिनकी प्रणाली वैसी ही है जैसी सरकारी स्कूलों की, नितान्त विरुद्ध हूँ। ऐसे स्कूल खोलकर धन और शक्ति खर्च करना नष्ट करना है। यह कहकर विद्यार्थियों को स्कूल से निकालना कि हम तुम्हें राष्ट्रीय मदरसे में भरती करेंगे तब तक धोखा देना है जब तक आपको विश्वास न हो जावे कि मदरसों में सचमुच ऐसी शिक्षा दी जाती है जिससे राष्ट्रीयता उत्पन्न न हो और जीवन सुधरे।······ (३) मैं समझता हूँ कि जब तक वकील अदालत न छोड़ेंगे तब तक राष्ट्र कार्य ईमानदारी से नहीं कर सकते। परन्तु यह विचार छोटी अदालतों के वकीलों पर मैं खास कर लागू समझता हूँ। यदि अपील की अदालतों के वकील वकालत करते हुए भी काम करना चाहें तो कर सकते हैं और बहिष्कार के योग्य नहीं हैं। मैं पंचायती अदालतों का पक्षपाती हूँ। रहा मेरा प्रश्न पेट की पूजा और डिस्ट्रिक्ट कौंसिल की चेयरमैनी से लाचार हूँ। दोनों बातों से हारा हूँ। इस कहत के समय डिस्ट्रिक्ट कौंसिल में रह कर बहुत कुछ काम कर

सकता हूँ। इससे नोमिनेटेड रह कर भी त्यागने की बुद्धि नहीं होती। (४) स्वदेशी का कट्टर पक्षपाती हूँ।

मैं इतना और कहना चाहता हूँ कि यह असम्भव है कि सब एक मत हो जायँ।········दूसरे मैं उनको घृणित समझता हूँ कि जो कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। यदि विचारों को प्रयोग में लाने की हिम्मत नहीं है तो केवल लोगों की वाह-वाह लूटने के लिए बड़े-बड़े विचारों की डींग मारना कुत्सित है। इन सब कारणों से असहकारी की पवित्र पदवी धारण करने के योग्य नहीं हूँ। मैं सच्चे असहकारी का पूजा करता हूँ उसके स्वार्थ-त्याग की प्रशंसा करता हूँ। मगर इससे यह न जानिये कि मैं सहकारी हूँ। मेरी दशा त्रिशंकु के समान है। आत्म-बुद्धि एक कहती है और (expediency) कार्य चातुर्या दूसरी। क्या मालूम यह असामंजस्य कब तक रहेगा। सारांश कि अभी मैं अपने को कांग्रेस का अनुयायी नहीं कह सकता और कमेटी में पद नहीं ग्रहण कर सकता।

आपका कृपाभिलाषी
दुर्गाशंकर मेहता

जबलपुर
५-३-२१

श्रीयुत मेहताजी,

आपका कृपापत्र यथासमय मिला था। किन्तु मैं ग्राम संगठन के कार्य में इतना व्यग्र था कि आपको पत्र का उत्तर इतने दिनों तक नहीं दे सका, जिसके लिए आशा है आप कृपा कर क्षमा करेंगे। जिन शब्दों में मैंने आपको स्मरण किया है मुझे आशा है, नहीं नहीं विश्वास है कि आप उन्हीं शब्दों को सार्थक कर रहे हैं और करेंगे भी। ··············

क्षमा कीजिए जो आपने अपने विषय में लिखा है उससे मैं सहमत नहीं हूँ। आपके समान बुद्धिमान और उत्साही पुरुष त्रिशंकु के समान नहीं रह सकते। हमें तो आपसे यह आशा है कि सिवनी के कार्य करने आप ही सबके

आगे आवेंगे और सिवनी का संगठन आदर्श होगा। बाधाएँ मनुष्य के मार्ग में तभी तक आ सकती हैं जब तक वह अपना दृढ़ निश्चय न कर ले। यदि मनुष्य अपना दृढ़ निश्चय कर ले तो संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो उसे बाधा पहुँचा सके। यदि आप पूरा समय नहीं दे सकते तो कुछ समय ही दीजिए।······गाँवों का संगठन सबसे प्रधान है। आपका असहकारिता के प्रस्ताव से चाहे मतभेद हो परन्तु ग्राम संगठन करने के सम्बन्ध में कदाचित् आपका कोई मतभेद न होगा। यदि आप यही कार्य हाथ में ले लें तो न जाने देश का कितना हित कर सकते हैं।

भवदीय
गोविन्ददास

लेखक का दूसरा राजनैतिक गश्ती पत्र

जबलपुर
१२-६-२१

महोदय,

अस्थायी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का संगठन तो हो गया। कार्यकारिणी समिति भी नियुक्त हो गई, डेपुटेशन भी प्रत्येक जिले को जायगा, परन्तु मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार कार्य तभी होगा, जब प्रत्येक जिले की कांग्रेस कमेटी कटिबद्ध होकर कार्य आरम्भ करे, और यह कार्य आरम्भ हो गाँवों के संगठन से; क्योंकि हम लोगों ने गत २ सप्ताह में जो कार्य जबलपुर में किया है, उससे मालूम होता है कि शहर की अपेक्षा गाँवों में अधिक सफलता प्राप्त होती है। जनसंख्या के लिहाज से भी गाँवों का संगठन करना अधिक आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि अपने देश में शहरों की अपेक्षा गांव में रहने वालों की संख्या बहुत अधिक है।

हम लोगों ने जिस प्रकार जबलपुर जिले का संगठन आरम्भ किया है उसका कुछ विवरण मैं नीचे देता हूँ।

यह तो आपको 'कर्मवीर' से विदित हुआ ही होगा कि हम लोगों ने जिला

५ विभागों में बाँटा है और हर एक विभाग के लिए दो कार्यकर्त्ता नियुक्त किये हैं। इन विभागों में से पाटन परगना मुझे और बाबू कन्छेदीलालजी वकील को दिया गया है। हम लोग जिस प्रकार कार्य करते हैं वही मैं संक्षेप में आपको सूचित करना चाहता हूँ कि जिससे यदि इसका कुछ उपयोग आपके जिले में भी आप लोग कर सकें तो अति उत्तम हो और इसमें यदि कुछ सुधार की आवश्यकता हो तो आप अपनी बहुमूल्य सम्मति हम लोगों को भेजें ताकि हम लोग उसका लाभ उठा सकें।

हम लोगों ने अपने परगने को १४ सर्किलों में बाँटा है। प्रत्येक सर्किल में २० से लेकर ३५ गाँव तक रखे गये हैं। और इसका ध्यान रखा जाता है कि प्रत्येक सर्किल की आबादी ६,००० से कम न हो और १० हजार से ज्यादा न हो।

पहले हम लोग प्रत्येक सर्किल को ८, १० कार्यकर्त्ता भेजते हैं जिनको कि २०) माहवार तनख्वाह दी जाती है। ये कार्यकर्त्ता बहुधा १६ वर्ष की अवस्था के ऊपर के कालेज और नार्मल स्कूल में से निकले हुए विद्यार्थी हैं। ये लोग २ दिन में प्रत्येक सर्किल के प्रत्येक गाँव के लोगों को सूचना देते हैं कि अमुक ता० को अमुक गाँव में इकट्ठे हो वहाँ कांग्रेस के संगठन सम्बन्धी सभा होगी। इस प्रकार २ दिन में वे लोग जिस सर्किल में जाते हैं उसके प्रत्येक गाँव में सूचना भेज चुकते हैं। सूचित की हुई तारीख को हम लोग सर्किल के उस मुख्य गाँव में पहुँचते हैं, जहाँ पर सभा होने की सूचना हमारे पूर्व गये हुए कार्यकर्त्ता लोग दे देते हैं। वहाँ पर किसान लोग जमा रहते हैं। उनको कांग्रेस का उद्देश्य समझाया जाता है और जितने मेम्बर वहाँ बनते हैं उतने बनाये जाते हैं। हर एक गाँव में पंचायत, सेवा समाज की स्थापना के लिए चरखों के प्रचार के लिए और नशा छोड़ने तथा गऊ बेचना बन्द करने के लिए उपदेश आदि भी दिये जाते हैं। इसके पश्चात् एक आदमी उन सब गाँवों में मेम्बरों की संख्या बढ़ाने, पंचायत, सेवा समाज आदि के संगठन करने जो औरतें चरखा चलाने को तैयार हैं उनकी नामवार लिस्ट बनाने को मुकर्रर किया

जाता है। फिर आगे बढ़ जाने वाले कार्यकर्त्ता आगे के सर्किल को बढ़ते हैं। और २ दिन के पश्चात् हम लोग दूसरे सर्किल को पहुँचते हैं।

विनीत

गोविन्ददास

लेखक का तीसरा राजनैतिक गश्ती पत्र

जबलपुर

ता० १५-६-२१

महोदय,

आपकी सेवा में एक पत्र मैं अभी २-३ दिन ही हुए भेज चुका हूँ। आशा है, वह पत्र यथासमय आपको मिला होगा।

यंग इण्डिया का ता० ८ जून का अंक आपने देखा होगा जिसमें 'The need of the hour' शीर्षक नोट में महात्माजी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ३० जून तक जिस तरह भी हो बेजवाड़ा कांग्रेस कमेटी की आज्ञाओं का पालन होना चाहिए। महात्माजी इन आज्ञाओं के पालन की पूरी सम्भावना भी बतलाते हैं और मैं भी ऐसा समझता हूँ कि जिस प्रकार कार्य करने के लिए महात्माजी ने लिखा है उस प्रकार कार्य करने से अपन लोग अवश्य सफल हो सकते हैं। महात्माजी कहते हैं— "I suggest to all congress and Khilafat workers that they should set apart the last ten days as special congress days to be solely devoted by them to finishing Bazwada programme. No speeches are required, no meetings are necessary. Quit hour to hour visits and personal conversing are more effective than meetings for the class of work before us."

यह सब आप लोगों ने पढ़ा ही होगा। अभी हिन्दी मध्य प्रान्त में बहुत कम कार्य हुआ है विशेषतः स्वराज्य फंड में बहुत कमी है। गुजरात और पंजाब में जो कार्य हुआ है वह भी महात्माजी ने यंग इण्डिया के इस अंक में लिखा है।

गुजरात ने तो अपने हिस्से से दूने और तिगुने काम करने का विचार किया है। तब यदि मध्य प्रान्त अपने हिस्से का ही कार्य पूरा न करेगा तो इससे अधिक लज्जा और खेद की दूसरी बात न होगी।......

आप लोग स्वयं ही कार्य करने में कमी नहीं कर रहे हैं और मुझे विश्वास है कि महात्माजी के दिखाये हुए मार्ग से कार्य किया जायगा तो हिन्दी मध्य प्रान्त कदापि पीछे न रहेगा।

भवदीय
गोविन्ददास

लेखक का चौथा राजनैतिक गश्ती पत्र

जबलपुर
पौष शुक्ल १२ सं० ७८

महोदय,

बन्दे। आपको मध्यप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मन्त्री के पत्र द्वारा मालूम हुआ होगा कि ता० १६ को होशंगाबाद में मध्यप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की मीटिंग है। उसी पत्र से आपको यह मालूम हुआ होगा कि इस मीटिंग में कितने महत्त्व के और कितने आवश्यक विषय निश्चित होना है। इस मीटिंग में जो बातें निश्चित करने को रखी गई हैं उनमें मेरी अल्प-बुद्धि के अनुसार नीचे लिखी ३ बातें बहुत ही आवश्यक हैं—

(१) अहमदाबाद कांग्रेस के प्रस्तावों पर विचार कर मध्य प्रान्त में नये साल के लिए कांग्रेस-कार्य की दिशा निश्चित करना।

(२) इण्डियन नेशनल सर्विस को आगे कायम रखने पर विचार।

(३) नये साल के लिए बजट तैयार करना।

पहली बात के सम्बन्ध में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के प्रस्तावानुसार सिविल डिसोबिडियन्स ही इस समय का मुख्य कार्यक्रम है। अतः इस सम्बन्ध में आपके यहाँ की परिस्थिति का पूरा विचार कर आप पधारेंगे, ऐसी मुझे आशा

है। इसके लिए नीचे लिखी बातों पर विचार करना मेरी अल्प-बुद्धि के अनुसार आवश्यक है—

(१) आपके यहाँ कौनसा स्थान ऐसा है जहाँ बहुत जल्दी मास सिविल डिसोबिडियन्स की तैयारी हो सकती है।

(२) इनडिवीज्युअल और कलैक्टिव सिविल डिसोबिडियन्स के लिए आपके यहाँ १५ दिन के भीतर कितने स्वयंसेवक मिल सकते हैं ?

(३) यदि सरकार ने डिफेन्सिव सिविल डिसोबिडियन्स का अवसर नहीं दिया तो आफेन्सिव सिविल डिसोबिडियन्स आपके यहाँ किस प्रकार हो सकेगा ?

दूसरे विषय के सम्बन्ध में मेरी अल्प-बुद्धि के अनुसार इण्डियन नेशनल सर्विस अभी तोड़ना बड़ी गलती का काम होगा, क्योंकि इस विभाग में अधिकांश वकील लोग हैं और इसे तोड़ते ही वे फिर से वकालत आरम्भ करेंगे, जिससे कि जनता और सरकार दोनों के हृदय पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा। सम्भव है कि नेशनल सर्विस कायम रखने पर भी कुछ वकील लोग वकालत आरम्भ करें, ऐसी दशा में उन्हें समझाने का प्रयत्न करना होगा। नेशनल सर्विस कायम रखने में सबसे बड़ा आर्थिक प्रश्न उपस्थित होगा। इसके लिए इस पत्र में आगे विचार किया है।

तीसरे बजट के सम्बन्ध में भी पूरे विचार करने की आवश्यकता है। एक तो अपने प्रान्त में अब तक स्वदेशी का काम सन्तोषजनक नहीं हुआ जिसका कि सिविल डिसोबिडियन्स के कार्यक्रम से भी घनिष्ट सम्बन्ध है क्योंकि बिना इसके मास सिविल डिसोबिडियन्स नहीं हो सकता। दूसरे अब स्वयंसेवक दल की तैयारी का काम सामने है। नेशनल सर्विस के सम्बन्ध में ऊपर लिखा ही जा चुका है। ये सब प्रश्न आर्थिक प्रश्न हैं और बजट के ही मुख्य विभाग भी हैं। मेरे मतानुसार तो इन तीन बातों के लिए तथा अन्य फुटकर खर्च के लिए प्रान्तीय और जिला कांग्रेस कमेटियों को कम से कम नीचे लिखे अनुसार रुपये की आवश्यकता होगी।

१४०००) स्वयंसेवक दल के संगठन के लिए औसत से कम से कम
१०००) हर जिले के लिए।

५००००) स्वदेशी के काम के लिए। यदि व्यवस्थित ढंग से स्वदेशी का काम प्रान्त में करना है तो कम से कम इतना रुपया चाहिए मेरे अनुमान से तो यह भी शायद कम होगा।

१४४००) नेशनल सर्विस में यदि १२ वकील भी रहे तो एक वर्ष का उनका इतना व्यय होगा।

२२०००) फुटकर संगठन, यात्रा, डिस्ट्रिक्ट, तहसील तालुका कांग्रेस आदि का।

इस प्रकार लगभग एक लाख का खर्च है। इसके लिए क्या उपाय किया जाय इसका विचार कीजिए।······

हिन्दी मध्य प्रान्त का भावी कार्य इसी प्रां० कां० क० की मीटिंग पर निर्भर है। हम लोगों को इस मीटिंग में अपने-अपने स्थानों की पूरी-पूरी परिस्थित देख कर आना चाहिए और सब बातों पर विचार कर इस प्रकार का कार्यक्रम निश्चित करना चाहिए जिसमें हिन्दी मध्य प्रान्त की प्रतिष्ठा और गौरव रहे।

आशा है इस लम्बे पत्र के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे और जो बातें मैंने आपके सामने उपस्थित की हैं उन पर विचार भी करेंगे।

ता० १६ को होशंगाबाद में आपके दर्शन की आशा है। कृपा रखिए।

योग्य सेवा लिखते रहिए।

विनीत,

गोविन्ददास

लेखक के उपर्युक्त गश्ती पत्रों के उत्तर में आये हुए कुछ पत्र

मण्डला

२६-६-१९२१

मान्यवर महोदय,

आज हमें शोक के साथ लिखना पड़ता है कि मण्डला के कार्य से आपको पूर्ण सन्तोष नहीं हो सकता। उसका प्रधान कारण यह है कि इस जिले में

पक्की सड़कें सिवाय एक सड़क के और नहीं हैं। गाँव बहुत छोटे-छोटे तथा एक दूसरे से बहुत दूर-दूर हैं। इनमें पहुँचने के लिए सवारी का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं हो सका। कार्य करने वालों का जैसा अभाव यहाँ है उसका बहुत सा पता तो आपको पहले से ही है। इतना सब होते हुए भी कार्य करने का यथा शक्ति उद्योग हो ही रहा था कि एकाएक महामारी का भीषण प्रकोप प्रारम्भ हो गया।

इतिशम्

भवदीय
हरवल्लभ अग्निहोत्री

रायपुर,
१६-६-१९२१

श्रीमान् महोदय,

······मैंने सब काम बन्द कर दिया है। दुःख मालूम होता है परन्तु यदि देश की यह इच्छा है तो मुझे मान्यवर चुप रहना चाहिए क्योंकि मैं अभी प्रेक्टिस छोड़ने को समर्थ नहीं हूँ। श्री शुक्लजी (पं० रविशंकरजी शुक्ल) ने भी मन्त्री पद का स्तीफा दे दिया है। अब हम लोग कुछ काम करने के लायक नहीं हैं। यहाँ की डिस्ट्रिक्ट कांग्रेस कमेटी जो करेगी या उसने जो काम किया है उसकी रिपोर्ट भेजी जावेगी ही। ३० जून तक सब कार्य होना असम्भव है।

भवदीय
वामन बलीराम लाखे

धुरई
७-७-२१

बन्देमातरम्,

आपके यहाँ के दो पत्र मिले लेकिन बेजवाडा प्रोग्राम के प्रचार में लगने के सबब मैं कोई जवाब नहीं दे सका।

मेरे को बड़ी खुशी है कि इस खुरई तहसील ने अपनी पूरी जिम्मेदारी ३० तारीख के अन्दर कर दी। उसके जिम्मे में ३०००) और ४००० सभासद बनाना आये थे और ये दोनों काम उसने पूरे कर दिये। चरखों का प्रचार भी धीरे-धीरे बढ़ रहा है।............

कृपा करके राष्ट्रीय स्कूलों में आज-कल किस ढंग की शिक्षा देना चाहिए इसके बाबत विस्तार से आप लिखिये। हमारे यहाँ पहली अंग्रेजी तक क्लासें हैं और करीब-करीब १०० लड़के हैं। विशेष करके मैं यह बात जानना चाहता हूँ कि कौनसे विषय और पुस्तकें पहली हिन्दी से लगा कर पहली अंग्रेजी तक सिखाना चाहिए।

आपका

गोविन्दराव लोकरस

सागर

१३-७-२१

मान्यवर महाशय,

आपके दो-तीन कृपापत्र मिले परन्तु खेद है कि मैं उनका समय पर उत्तर न दे सका परन्तु आपके आदेशानुसार काम अवश्य करता रहा हूँ।

आपका

केदारनाथ रोहण

नरसिंहपुर

२०-७-२१

श्रीयुत बाबू साहिब,

......कार्य यहाँ चल रहा है। देहात में चर्खे अच्छी तादाद में चलने लगे हैं कपड़ा भी बुना जाता है, पर गाँव व आस-पास के गाँवों में ही खर्च हो

जाता है। स्थानिक बजाजों ने भी विलायती कपड़ा न मँगाने का निश्चय कर लिया है।......................

आपका सदैव
मानिकलाल कोचर

चौरई
अषाढ़ बदी तीज १९७८

श्रीमान्,

..... बैजवाड़ा कांग्रेस कमेटी के आदेशानुसार इस ओर भी चरखे बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है तथा चौरई में भी चर्खा कमेटी खोलने का प्रयत्न हो रहा है। कांग्रेस के सदस्य बनाये जा रहे हैं तथा श्रीमान् घाटे व मांजरेकर साहिब अपनी अपूर्व कृपा से गृह-गृह भ्रमण कर तिलक स्मारक फण्ड के लिए धन एकत्र कर रहे हैं। ग्रामवासियों की सहायता से चौरई तथा अन्य ग्रामों में भी कांग्रेस मेम्बर बनाने का कार्य व तिलक स्मारक फण्ड का कार्य शक्ति अनुसार चल रहा है। आशा है कि हमारा प्रान्त निश्चित समय के अन्दर ही अपने विभाग के कार्यों को पूर्ण कर स्वराज्य प्राप्ति के पथ में उचित सहायता पहुँचावेगा।

जिला का कार्य विवरण आपकी सेवा में सेक्रेटरी द्वारा पहुँचा ही होगा जो त्रुटियाँ हों सूचित करेंगे। मैं अन्तिम दस दिवस महात्माजी के आदेशानुसार ही बिताने का प्रयत्न करूँगा।

आपके पत्रों से वही स्फूर्ति तथा उत्साह पैदा होता है जो कि आपके आगमन से होता। यद्यपि मुझे वृद्धावस्था के साथ ही साथ खाँसी की बीमारी अधिकता से दुख देकर इस कार्य में बाधा पहुँचाती है तो भी मैं ईश्वर की विशेष अनुकम्पा से शक्ति अनुसार पूर्ण प्रयत्न करता ही जाता हूँ।.........

आपका नम्र
आपाजी त्र्यंबक

पथरिया
२१-६-२१

श्रीमान् बाबू गोविन्ददासजी साहिब,
जबलपुर

............आपका कृपा पत्र ता० १५-६-२१ का पहुँचा। आपने जो महात्मा गान्धीजी का सन्देश भेजा वह मैंने पहले ही पढ़ा था। दूसरे आपके तरफ से सूचना मिली। महात्माजी की आज्ञा प्रत्येक को शिरसाबंध है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि उनकी आज्ञानुसार अनुकरण करें।

मैंने आपके पूर्व पत्र का उत्तर इसके पहले दिया ही था।

इस पत्र के अनुसार जो कुछ लोक-सेवा मेरे शक्तानुसार बनती है कर रहा हूँ। व आगे भी करता रहूँगा।.............

आपका
पं० विश्वनाथ राव आप्टे

लेखक का पाचवाँ राजनैतिक गश्ती पत्र

जबलपुर
ज्येष्ठ शु० ५, ७८

महोदय,

इन दिनों में आपका कृपापत्र नहीं मिला। मैं भी अस्वस्थता के कारण आपकी सेवा में कोई पत्र नहीं भेज सका। दो महीने से मैं बराबर अस्वस्थ हूँ। बुखार जा-जा कर फिर आ जाता है। अब तक बुखार है इसी कारण कमजोरी भी अधिक हो गयी है।

कुछ दिन हुए आपको राष्ट्रीय विद्यालयों के पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी के सम्बन्ध में पत्र दिया गया था। प्रान्त के अन्य सज्जनों को भी इस प्रकार के पत्र दिये गये थे। इन पत्रों में कुछ प्रश्न भी पूछे गये थे, और इन विषयों में भी लिखा गया था।......इस समय मुख्य कार्य बेजवाडा की कांग्रेस कमेटी की आज्ञा का पालन है। आशा है आपके यहाँ इस कार्य की पूर्ति के लिए खूब

प्रयत्न हो रहा होगा।····· इस समय अपन, हिन्दी मध्य प्रान्त वालों पर बड़ी भारी जिम्मेदारी है। ३० जून तक अपने प्रान्त में तीन लाख कांग्रेस के सदस्य, स्वराज्य फण्ड के लिए तीन लाख रुपया और ७५ हजार चरखों का प्रचार होना चाहिए। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की रिपोर्ट से आपने देखा ही होगा कि इसमें से अब तक बहुत कम कार्य हुआ है। ३० जून को बहुत थोड़ा समय बाकी है। मुझे आशा है कि आप लोगों के उत्साह और प्रयत्न से हिन्दी मध्य प्रान्त अन्य प्रान्तों से पीछे न रहेगा।

भवदीय

गोविन्ददास

लेखक का छठवाँ राजनैतिक गश्ती पत्र

देवलाली

सं ७८ मि० आ० कृ० १२

महोदय,

आपको कदाचित् मालूम ही होगा कि मैं गत एक मास से यहाँ वायु परिवर्तनार्थ आया हूँ।

ईश्वर की कृपा से अब मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। बम्बई की आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी ने विदेशी कपड़े के बहिष्कार और स्वदेशी के प्रचार का जो भारी उत्तरदायित्व देश पर रखा है, वह आपने समाचारपत्रों में देखा ही होगा। अपने प्रान्त पर भी बड़ी भारी जिम्मेदारी है। इसके अतिरिक्त अभी आपने बैजवाडा की कांग्रेस कमेटी का कार्यक्रम भी पूरा करने को बाकी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप महानुभावों के उद्योग से अपना प्रान्त कदापि पीछे न रहेगा।··········

भवदीय

गोविन्ददास

लेखक के उपर्युक्त गश्ती पत्रों के उत्तर में आये हुए कुछ पत्र

दमोह
१६-६-१९२१

श्रीमान् सेठ गोविन्ददासजी,

आपके प्रकृति का हाल कर्मवीर में पढ़ा। आज आपका कृपापत्र पहुँचा। आपकी प्रकृति जबलपुर में अच्छी नहीं होती तो मेरी राय में आप हवा तबदील करें या तो छिंदवाड़ा या सागर या सिवनी क्षेत्र अच्छी जगह हैं। नहीं तो मसूरी पहाड़ को जाइये। इसमें आलस न करें।

इस जिले में मैं घूमने को हूँ व दूसरे घूमते हैं पर उनका वजन कम है। अभी तक सिर्फ २०० गाँव घूम सके तिसमें ५,७०० मेम्बर हुए। चरखे करीब १,००० के चलते होंगे। सूत व कपड़ा निकलने लगा इसमें सूची तैयार कर दी है। रसद वगैरह में बहुत कामयाबी है। मगर कहत के वजह से टि० स्व० फण्ड की बना नहीं निकाल सकते। शराबखोरी पिछले साल से कम समझिये।········कृपापूर्वक उत्तर लिखिये राष्ट्रीय शाला में कपड़ा बुनना व बढ़ई-गिरी व लोहारगिरी अवश्य सिखाई जावे।

आपका
दामोदरराव श्रीखंडे

बुरहानपुर
ता० १९ जून १९२१

करम फरमाये बंदा जनाब गोविन्ददासजी को तसलीम। आपके दो इनायतनामे मिले। मैं नहीं जान सकता कि आपको डाक्टरों ने इतना काम करने की इजाजत दी है या नहीं। मगर न दी हो तो आपको आराम करना चाहिये। इसमें कोई शक नहीं के आप अपनी तबीयत का खियाल न करके देस की सेवा कर रहे हैं। इसके लिये लफज शुकरिया काफी नहीं है लेकिन हमको आपकी सेहत का ज्यादा खियाल है क्योंकि हमें आपसे बड़े-बड़े काम लेने हैं।

महात्मा गान्धी ने जो फरमाया है उस पर खिलाफत के काम करने वालों

ने अमल करना शुरू कर दिया है। मैंने जो दो खिलाफत के काम करने वाले बैतूल भेजे हैं, उनको मैंने हिदायत कर दी है के वो कांग्रेस का काम करें। यहाँ भी कोशिश जारी है। टीलक स्वराज्य फण्ड का चन्दा जमा हो रहा है। और दूसरे काम भी हो रहे हैं। ये साल बहोत सखत गुजरा। इसी वजह से यहाँ लोग बहोत तंग हैं वरना जितना चन्दा सी० पी० के हिस्से में आया है कब से पूरा हो जाता। लेकिन ये बाकी के दिनों में पूरी कोशिश से काम हो रहा है और खुदा चाहे तो पूरा हो जावेगा।

आपका और देश का खादिम
अब्दुल कादिर सिद्दीकी

जबलपुर
१८ जुलाई १९२१

श्रीयुत बाबू गोविन्ददासजी, देवलाली।

आपके पत्र आये, खेद है कि उत्तर पहले न दे सका। कुछ काम की अधिकता थी कुछ मेरा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहा।

कांग्रेस का कार्य साधारण चल रहा है कोई खास बात नहीं हुई। हितकारिणी के मुकदमे में रिसीवर हुआ हूँ और तारीख ७ जुलाई से राष्ट्रीय ढंग पर स्कूल चलाया जा रहा है। अभी योग्य हैडमास्टर तथा सायंस टीचर नहीं मिला है।

शेष कुशल है।

आपका
श्यामसुन्दर भार्गव

लेखक के भाषणों के सम्बन्ध में आये हुए कुछ पत्र

दौलतपुर
६-८-२०

श्रीमतांवर,

सागर के सम्मेलन में किये गये आपके अभिभाषण की एक कापी मुझे प्राप्त हुई है। उस पर लिखा है वक्ता का प्रेमोपहार। इस उपहार को मैंने

सादर ग्रहण किया। इसके आरम्भ का श्लोक मुझे बहुत पसन्द आया। उस पर और उसके आगे भी जो दो श्लोक भागवत में इसी तरह के हैं उन पर भी मेरी बड़ी भक्ति है। श्री मद्‌भागवत मेरा सबसे प्यारा ग्रन्थ है।

आपकी वक्तृता बड़ी अच्छी है। सभी दृष्टियों से आपने हिन्दी पर विचार किये हैं। मैंने साद्यन्त उसे पढ़कर आनन्द प्राप्त किया।

मंगलाभिलाषी
महावीरप्रसाद द्विवेदी

बलदेव बाग
जबलपुर
२८-६-१६२०

प्रिय बाबू साहेब,

आपका कल का व्याख्यान सुनकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। इस व्याख्यान के पहले आपने हितकारिणी में जो व्याख्यान दिया था, उससे आपका कल का व्याख्यान कहीं बढ़िया था।

कल के व्याख्यान के विषय में आपने जो विषय विभाग किया था, उसका प्रतिपादन आपने क्रमबद्ध किया। जिस प्रकार विषय विभाग की ओर आपका ध्यान बना रहा उसी प्रकार शब्दों के शुद्धोचारण समयोचित ध्वनि के चढ़ाव-उतार। उचित शब्दों के प्रयोग तथा वाक्यों की शुद्ध एवं विषय को पुष्ट करने वाली वाक्य-रचना हिन्दी की ओर भी आपका ध्यान एकसा बना रहा। साथ ही भाव-भंगी भी यथेष्ट रही। उक्त प्रकार की आपकी वक्तृता सुन कर मुझे बहुत सन्तोष हुआ। आपकी इस सफलता के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ।

मेरी यह सम्मति है कि अब आपको भाषण के स्वाभाविक कारण बहुत कुछ अनुकूल हो चले हैं। इन साधनों को ज्यों-ज्यों ग्रन्थावलोकन से तथा निज के अनुभवजन्य ज्ञान से सहायता मिलती जायगी त्यों-त्यों आपके व्याख्यान अधिकाधिक जनता चित्ताकर्षक तथा प्रभावोत्पादक होते जायेंगे।

भवदीय
गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

खण्डवा
२-११-१६२१

मान्यवर,

माहेश्वरी सभा मऊ में आपने सभापति के नाते से जो भाषण किया उसकी छपी हुई प्रति कल अचानक मेरे देखने में आई। रात को आपका भाषण सम्पूर्ण पढ़ा। चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। इस प्रभावशाली भाषण के लिए मैं आपको हार्दिक बधाई देता हूँ।

भाषा सरल, सरस तथा हृदयस्पर्शी है। विचार गहन, गम्भीर व प्रतिभाशाली है। स्थान-स्थान पर शुद्ध भाव शुभेच्छा व पवित्र अंतःकरण का परिचय मिलता है। इस भाषण को गद्य काव्य कहना ही ठीक होगा।

मेरे मन पर इस भाषण का बड़ा परिणाम हुआ। और इसीलिए मैं कहता हूँ कि जिन लोगों के लिए यह भाषण लिखा गया है वे यदि उसे एक मास पर्यंत प्रतिदिन एक बार पढ़ें तो मुझे विश्वास है कि उनके विचार व आचार में बड़ी भारी क्रान्ति हो जावेगी।

आपका शुभेच्छु,
सदाशिव कृष्ण वैशम्पायन

श्रीमन्,

मैंने भाषण को आद्योपान्त पढ़ डाला। भाषण उच्चकोटि का है। वह ऊँचा विचार, विशुद्ध भाषा, अनुभव और स्वतन्त्रता से भरा है। बधाई देता हूँ। शिक्षा, गौरक्षा, कृषि, चरखे और कर्घे पर आपने खूब कहा है। जाति कुरीतियों पर भी अच्छी फटकार है। यदि आपकी बिरादरी इन बातों पर ध्यान दे तो निसन्देह बड़ा भारी काम हो जायगा। चरखे और कर्घे पर मुँह-तोड़ जवाब है। बालक भी उसे समझ सकता है। मेरी राय में यदि इस विषय पर एक पुस्तकाकार छोटा सा परचा लोगों में बँटवा दें तो बहुत ही लाभदायक होगा। इसी विषय को उसमें घटा-बढ़ा दिया जाय। अभी तक इस विषय पर

लोगों के बहुत संकीर्ण और अन्धकारमय ख्याल हैं। वे दूर हो जायेंग। भाषण के लिए मैं एक बार और धन्यवाद देता हूँ।

भवदीय
प्यारेलाल मिश्र

छिन्दवाड़ा

महाशय,

आपका कृपापत्र तथा आपका माहेश्वरी सभा, मऊ के सभापति के हैसियत का भाषण मिला। आपका भाषण पढ़ने से बहोत आनन्द हुआ। आपका भाषण बहोत प्रभावशाली विद्वत्तापूर्ण बोध पर हुआ वो उससे जनता पढ़कर बहोत लाभ उठा सकती है। आपको मैं बहोत धन्यवाद देता हूँ के आपने मेरे तरफ आपका भाषण भेज कर मेरे को उपकृत किया।

भवदीय
विश्वनाथ दामोदर सालपेकर

तिलक स्वराज्य फंड के सम्बन्ध में सेठ जमनालालजी बजाज और लेखक का पत्र-व्यवहार

श्री बाबू गोविन्ददासजी,

आज कांग्रेस की वर्किंग कमेटी का कार्य आरम्भ हुआ है। तिलक स्वराज्य फण्ड में अभी तक लगभग ४० लाख रुपये वसूल हुए होंगे। पू० महात्माजी की इच्छा है कि ता० ३० जून को कम से कम एक करोड़ रुपया तो वसूल हो गया है यह जाहिर हो जाना अत्यन्त आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में तीन सूचनाएँ समिति के सामने रखी गयी हैं।

(१) भिन्न-भिन्न प्रान्त के जिम्मेदार सज्जन अपनी जिम्मेदारी पर अपने निज के प्रान्त का चन्दा वसूल करने का भार उठावें।

(२) भिन्न समाज के जिम्मेदार सज्जन निज की जिम्मदारी पर

अखिल भारतवर्ष में से अपने समाज में से नियत किया हुआ चन्दा वसूल कर देने का भार उठाव।

(३) अखिल भारतवर्ष में से कम से कम १५ ऐसे सज्जन इस कार्य का भार उठावें कि वे अपनी जिम्मदारी पर चन्दा वसूल करके एक करोड़ की पूर्ति करा दें।

उपरोक्त तीनों हालतों में यदि कम रकम वसूल हुई तो जो जितने रुपयों की जिम्मेदारी लेंगे उनको उतनी रकम निज की ओर से पूरी कर देनी होगी।

तीसरी सूचना कमेटी में पास होने का विशेष सम्भव मालूम होता है। एक करोड़ में से रहे हुए ६० लाख के ६० शेअर करके जो जितनी जिम्मेदारी ले सके उनको उतना भार सौंपना ऐसा विचार हो रहा है।

आपका नाम चन्दा वसूल करने की जिम्मेदारी लेने वाली कमेटी में रहना चाहिए ऐसा मेरा मत है। आपकी राय कृपया शीघ्र लिखें। जहाँ तक बन सके स्वयं पधारने की कृपा करें।

भवदीय

जमनालाल बजाज

बम्बई ज्येष्ठ शुक्ला १४, १९७८

श्री बाबू गोविन्ददासजी,

स्वराज्य फण्ड के विषय में इस समय ऐसा निश्चित हुआ है कि आगामी ता० ३० जून तक एक करोड़ चन्दे की पूर्त्ति के लिये खूब उत्साह के साथ भरसक प्रयत्न किया जाय। अभी तक प्राय: ४० चालीस लाख का चन्दा हुआ ऐसा अनुमान है। इसके सिवा बम्बई में चन्दा बढ़ाने का कार्य जोर से प्रारम्भ हो गया है।···ता० ३० जून को एक करोड़ का चन्दा वसूल हुआ जाहिर करना तो नितान्त आवश्यक है। इसलिए बाकी रहे हुए चन्दे के शेअर देशानुरागी दस-पन्द्रह सज्जनों में विभक्त कर दिये जायँगे और जिन-जिन प्रान्तों से अपेक्षित चन्दे से कम चन्दा वसूल हुआ होगा उन प्रान्तों में घूम कर चन्दा बढ़ाने की कोशिश की जायगी।

हमको हमारी निजी जिम्मेदारी समझ कर ही काम करना है। यदि ऐसा

नहीं किया गया तो एक करोड़ चन्दे की घोषणा ३० जून को कैसे की जा सकेगी और यदि उक्त घोषणा न दी गयी तो देश की अपकीर्ति होगी। इन सब बातों को विचार करके आप कितनी जिम्मेदारी लेने को तैयार हैं सो कृपया सूचित कीजियेगा।

भवदीय

जमनालाल बजाज

श्रीमान् सेठ जमनालालजी,

आपने आपकी व मेरी जिम्मेदारी ७।। लाख तक की लेने का विचार किया है उससे मैं पूर्ण सहमत हूँ। यह रकम देश भर में से ३० सितम्बर तक पूरा करना हम लोगों का कर्त्तव्य होगा। जितना कम पड़े वह अपने पास से देना यह भी मुझे स्वीकार है। मेरा यह मैं सौभाग्य मानता हूँ कि इस राष्ट्रीय जिम्मेदारी के कार्य में आपने मुझे स्मरण किया जिसके लिए मैं आपको अन्तः-करण से धन्यवाद देता हूँ।

भवदीय

गोविन्ददास

बारडोली का सत्याग्रह स्थगित करने पर लेखक का गान्धीजी को पत्र

Venerable Mahatmaji,

Like most of my countrymen, I too have great respect and reverence for you and like them I too wish that we gain "Swaraj" under your guidance. Yet I think it highly improper to follow you blindfolded, as this is sure to create the very slavish mentality, you claim to have rescued us from. It is the birthright of every individual to think for himself regarding the welfare of his country. So I beg to ask you the following questions about the Bardoli decisions.

1. About Mass Civil Disobedience—
   (*a*) Do you believe that such a time can come when the masses will be able to maintain non-violence under all circumstances even when deliberately provoked by the Government ?
   (*b*) If so can you state any definite period for this also as you have been doing hitherto about so many things, when it will be possible to start mass civil disobedience ?
   (*c*) The brutal massacres at Chauri Chaura, the serious riots at Bombay and the scuffles at Madras—all the three have been characterised as violence by you. If a few hooligans throw stones and the police opens fire with the result of a few casualties, will this also be considered violence enough to justify postponement of mass civil disobedience ? Will you please define the violence which necessitates postponement ?
2. About the preparation of Offencive Civil Disobedience.
   (*a*) Can there be any connection between Chauri Chaura murders and preparation for offencive civil disobedience when there was no preparatory activity in progress in places of disturbances ?
   (*b*) The Delhi sittings of the All-India Congress Committee held on the 4th of November 1921 conferred the rights and responsibilities to prepare for offencive civil disobedience upon all provinces on their own merits. Why then the rights of all the provinces are being taken away when only one province stands charged with violence and that also not on account of the preparatory activities of an offencive nature ?
3. About defencive civil disobedience—
   (*a*) Is it proper to have decided to suspend defencive civil disobedience that was being offered to

vindicate the elementary rights of free speech and free association for which you went even to the length of appealing to the co-operators to join forces with us and for which thousands of our countrymen have entered jails and undergone untold sufferings without a single untoward event having taken place ?

(*b*) Have the disturbances at Chauri Chaura and other places taken place owing to defencive civil disobedience ? If not why should it have been suspended ?

Yours
Govind Das
Jubbulpore
C. P. Hindustani.

साइमन कमीशन के बहिष्कार के सम्बन्ध में लेखक का देश के जमींदार वर्ग तथा अन्य विशिष्ट व्यक्तियों से पत्र-व्यवहार

६ जनवरी, १९२८

प्रियवर सेठ साहिब,

आपका ३ जनवरी स० २८ का कृपापत्र मुझे प्राप्त हुआ। इसके लिए धन्यवाद देता हूँ। आप भूम्याधिकारियों की सभा करना चाहते हैं। उनका सभाओं में सम्मिलित होना बहुत कठिन होता है। उनमें पुराणप्रियता (Conservation) की मात्रा बहुत अधिक है इसलिए मुझे यह आशा नहीं है कि इस तरफ के लोग वहाँ सम्मिलित हों। दो चार साहिब सम्भव है कि सम्मिलित हो जायें। महाराजा साहिब महमूदाबाद ने आपको क्या उत्तर दिया, मेरा विचार है कि जल्दी में सभा करने से कोई विशेष लाभ न होगा और सभा अच्छे समारोह के साथ न हो सकेगी। यह पूरी तौर से प्रगट हो चुका है कि कुछ जमींदार कमीशन के साथ सहयोग करेंगे और कुछ असहयोग। इस अवस्था में विचार करने की आवश्यकता है कि क्या करना चाहिये। मैं अपने

वचार पब्लिक (Public) मीटिंग में प्रगट कर चुका हूँ और इस बारे में जो कुछ आप करेंगे उसमें मैं आपके साथ हूँगा। इसकी आवश्यकता है कि महाराजा साहिब को आप जरूर तैयार करें और जो कुछ हो उससे पहले ही से मुझे सूचना दें। और सब कुशल है। शुभ

भवदीय
(राजा) रामपाल (सिंह)

Hasan Manzil,
Patna,
30th December, 1927.

My dear Seth Saheb,

......the Zamindars, if they go to the Commission, will themselves find out that the Commission came to give them nothing. But by not boycotting the Commission they may endear themselves to the officials whose patronage usually is regarded as profitable to the recipient. The Zamindars under the circumstances may have a tendency to oppose boycott but there are a good few thinking men amongst them who do not hesitate to express their estimate of the Commission and I quite agree with you that if a conference of such thinking Zamindars is held the expression of their views may be of service to the country. I have not heard from the Maharaja of Darbhanga about the conference that he proposes to hold nor have I been invited to it the reason of which is obvious viz., because I am opposed to the Commission....... A corresponding question of principle should arise amongst us also in the form of our refusal to appear before the Commission but whether the Zamindars take that view or not depends on how far they are, in their self-interest dependent on official favour. The big landed magnates of the province of Behar and Orissa are in the hands of the Local Government but Zamindars with moderate estates hold very strongly against the commission. My province will not be able to produce a Maharaja or a Raja or Nawab, with the solitary exception of my father, who will uphold the popular opposition to the Commission. But we may be able to induce an appreciable number of smaller Zamindars to attend the

conference you have proposed.... As regards the Presidentship I am in agreement with you that it should be offered to the Maharaja of Mahmoodabad and as for the venue of the conference Jubbalpore is as central a place as we can find for a gathering. I have little to choose between Lucknow and your city. Lucknow has its claims to history. Jubbalpore can claim a centrality of situation. Your generous hospitality will be appreciated by the gathering.

With my kind regards,

Yours sincerely,
Md. Hasan Imam

Qaiserbagh,
Lucknow,
31.12.1927.

My dear Seth Saheb,

Many thanks for your kind letter. Yes I had a talk with Mr Chintamani, Raja Sir Rampal Singh, Raja Suraj Bakhsh Singh and others. They agree with the proposed conference. But I am personally reluctant with regard the place. The rival conference is to be held at Patna which is nearer to Lucknow. I am thankful to you for your kind offer to preside over the conference, but as I have already written to you, you might get hold of the Maharaja of Burduwan whose views on the Commission are well known. His presidentship will be a check against the probable efforts to divide all of us. I shall whole heartedly work as a member. As regards the place I think Nagpur will be the best place than Lucknow because we can secure the co-operation of Gujrat and Zamindars of other provinces. But if you however prefer Lucknow I would suggest that you might come to Lucknow to see Sir Rampal Singh and others for the formation of the reception Committee to begin the work at once.

With kind regards,

Yours sincerely,
Mohamed Ali Mohamed.

6.1.1928

TO C Y CHINTAMANI ESQR ALLAHABAD
SHALL BE DELIGHTED TO ATTEND CONFERENCE AT JUBBULPORE I PROPOSE EITHER BARDWAN OR RAJAH PANAGAL AS PRESIDENT LETTER FOLLOWS.

MAHMUDABAD LUCKNOW

8.1.1928

TO HONOURABLE SETH GOVINDDAS RAJA GOKULDAS PALACE JUBBULPORE
LETTER THANKS EXTREMELY REGRET UNABLE TO PRESIDE BUT WILL ATTEND CONFERENCE IF HELD IN FEBRUARY SUGGEST HASAN IMAM FOR PRESIDENTSHIP.

MAHMUDABAD LUCKNOW

19, George Town,
Allahabad.
January 29, 1928.

Dear Seth Govind Das,

Thanks for your letter. I regret to say that the Maharaja of Mahmudabad is not at all willing to preside over your proposed zamindars' conference at Jubbulpore. He is not in the least hostile, he is quite favourable, to the conference. But he says that there are reasons of public expediency which suggest that he should not be the president. He strongly advises that you should elect as president either Raja Suraj Baksh Singh of Kasmanda, Sitapur district, who is the president of the British Indian Association of Oudh, or Mr. Syed Hasan Imam of Patna. If I may give advice it is that you may give up the Maharaja, who however promises to attend the conference, and try to get as president the Raja named above or the Hon. Raja Sir Rampal Singh, K.C.I.E., of Kurri Sudhauli, Rai Bareli district, ex-president of the British

Indian Association of Oudh. I think any of these names will do very well for the presidentship.

I apologise for the delay in writing, and earnestly wish every success to your laudable patriotic efforts.

I am,
Yours sincerely,
C.Y. Chintamani.

Marriam Manzil
P.O. Aneesabad
(Patna)
1.2.28.

My dear Raja Saheb,

During the days I have been able to spend at Patna and some other places in Behar since the Simon Commission was heralded I have had opportunities of feeling the pulse of the landlords of Behar in the political sense. Well, I regret to say that this class is—with the exception of a few—generally too timid to come forward. I do not, therefore, think we can do much with them. Perhaps the position in other provinces is better. It will be waste of energy to approach them. They realize no doubt the political importance of the present situation but are nervous. As regards others, there is a large volume of opinion sharing the views we hold—Perhaps in the circumstances it will be best to leave each province to itself to make out its own problems. There is now a unity conference sitting here and it is hoped some desirable solution will be reached.

Yours sincerely,
S. Ali Imam.

Hasan Manzil,
Patna,
4th Feb., 1928.

My dear Seth Sahib,

I am much obliged to you for your letter and the proposed honour. I regret I cannot accept the honour of being the

President for several reasons which I need not go into here. I would further suggest waiting for a while to know what declaration Sir John Simon is going to make. I see in todays paper that he will soon make a declaration that will remove suspicion regarding the Commission. It would be just as well to wait and then act in the light of circumstances.

With kind regards,

Yours sincerely,
Syed Hasan Imam.

Marriam Manzil
P.O. Aneesabad
(Patna)
10.2.28.

My dear Raja Saheb,

Many thanks for your letter of the 4th Feb.

I will do all I can. Please let me know the exact date of the meeting at the earliest as my brother Hasan and I are busy men with a heavy list of engagements.

Yours sincerely,
S. Ali Imam.

कर्नल हैरिस का लेखक और गाड़ीवान से माफी का पत्र

Jubbulpore,
28th January, 1928

Dear Sir,

Since our recent meeting under most regrettable circumstances I have been desirous of setting right the unpleasant position which has arisen. While not admitting all the alleged facts of the case as published in the press, I regret that I offended you by striking and now tender you my sincere and unqualified apology, in the hope what it may do something to wipe out the offence. While however I offer you this apology in the hope that it may be accepted as from one gentleman to another, such an expression will hardly be appreciated if I

were to offer it as I should otherwise desire to the unfortunate cartman. I hope you will believe me when I say that in cooler moments I should not have offered violence to a defenceless man in this way. I sincerely regret this portion of the affair also. I regret to say that being tired after a strenuous march and long drive I lost my temper with the cartman. At the same I imagine that the cartman would prefer something in the way of monetary compensation. This of course I am ready to pay him and should in the circumstances be guided in the matter by any suggestion you may perhaps desire to make and should be very grateful if you could at the same time convey my apologies to him.

Yours truly,
(Sd) J.N.A. Harris.

To

Hon'ble
Seth Govinddass
Member of the Council of State.

लेखक की पत्नी की बीमारी के अवसर पर लेखक का जेल से अपनें नातेदारों से पत्र-व्यवहार

(लेखक की पुत्री रत्नकुमारी का पत्र)

जबलपुर ६-५-३२

पूज्य कक्का साहिब

सादर प्रणाम ।

(लेखक के बच्चे माँ को भौजाई कहते हैं ।)

भौजाई की तबीयत उसी माफिक है । दौरा बराबर होता है । दिन में एक बार दो बार कोई ठिकाना नहीं है । तबीयत के विस्तृत समाचार जो आपको दिये थे वे सब अब भी उसी तरह हैं । हाथ और पैर दौरा होते ही ठंडे हो जाते हैं पसीना आता है । दौरा बन्द हो जाने पर भी पसीना और ठंडापन बड़ी देर तक नहीं जाता । घबड़ाहट भी बनी रहती है । कभी-कभी दिन-दिन भर तक पसीना, ठंडापन, घबड़ाहट, बनी रहती है ।

जो उनके पास चौबीसों घण्टे रहते हैं वे ही तबीयत का पूरा हाल बता सकते हैं।

पूज्य भौजाई ने लिखवाया है कि जब दौरा होता है तो मुझे मालूम होता है कि बिना मिले ही प्राण जाते हैं। पहले भी आप ११ महीने जेल में रह चुके हैं परन्तु कभी भी आपको कष्ट देने का विचार तक नहीं हुआ। अबकी बार इस बीमारी के कारण इतना सब करना पड़ रहा है। कई पत्र भी भेजे जा चुके हैं। तार भी बराबर दे रहे हैं। दौरे के बक्त वैद्य डाक्टरों की अक्ल ठिकाने नहीं रहती। वह तो मात्रा के कारण दब जाता है वरना क्या कसर रहती है। पूज्य कक्का सा० और बऊ सा० के परिश्रम का ठिकाना नहीं है। हम लोगों को मालूम होता है कि शायद आपको तबीयत के समाचारों पर सन्देह है परन्तु ऐसा ध्यान न कीजियेगा। नहीं तो व्यर्थ में आपको चिन्तित करने की क्या आवश्यकता थी। १५ दिन तक इसी कारण बीमारी की खबर नहीं दी। द्वारकाप्रसादजी वैद्य रात-रात भर नब्ज पर हाथ रखे बैठे रहते हैं। इसी तरह चौबीसों घण्टे गुजरते हैं।

मान्यवर शुक्लजी ने लिखा था कि नागपुर आकर वे मुलाकात करेंगी सो यह कौन जान सकता है। यदि ईश्वर की दया हुई और वे अच्छी हो गई तो ६ महीने भी मोटर से सफर करने लायक हालत न होगी। ऐसी दशा हो गई है। आप स्वयं विचार करेंगे कि इस समय क्या उचित है। समय व्यतीत करना ठीक है क्या ? बाद में पश्चात्ताप ही न करना पड़ेगा। शेष सब ठीक है।

आज्ञाकारिणी—
रत्नकुमारी

(रत्नकुमारी को लेखक का पत्र)

चि० रत्नकुमारी,

आशिस,

मेरे हृदय की, उस हृदय की जिसे मैं बड़ा दृढ़ समझता था, आजकल जो

दशा हुई है वह लिखने से परे है। जिस बात की मैं स्वप्न में भी सम्भावना नहीं समझता था वह हुई। तुम्हारी भौजाई को यह पत्र बता देना।

उनका मेरा सम्बन्ध साधारण पति-पत्नी के सदृश कभी नहीं रहा; जिस प्रकार उन्होंने मुझे सदा देखा है उसी प्रकार मैंने भी उन्हें। पत्नी का स्थान पति से नीचा है इसे मैं कभी नहीं मानता रहा हूँ और इसीलिए मैंने उन्हें सदा बराबरी का समझा है। पर तीन-चार वर्ष पूर्व जब वे दो वर्षों तक बीमार रहीं तब भी मुझे उन्होंने अपनी सेवा करने का अवसर नहीं दिया, यद्यपि यदि मेरे शिर में भी पीड़ा होती थी तो वे मेरी जिस प्रकार सेवा करती थीं वह मुझे स्मरण आरहा है। जैसी बीमारी उन्हें इस बार हुई है वैसी पहले कभी नहीं हुई और इस बार मुझे उनकी सेवा करने का अवश्य अवसर मिलता, पर यह सम्भव नहीं दिखता। मैं जानता हूँ कि यदि इस समय मैं उनके निकट होता तो उन्हें अवश्य ही शान्ति मिलती, मुझे भी अत्यधिक शान्ति मिलती। मैं यह भी जानता हूँ कि यद्यपि पूज्य कक्का सा० और बऊ सा० उनके लिए माता-पिता से अधिक हैं, तुम सब बच्चे उनके निकट हो, पर मेरे से उन्हें जितनी शान्ति मिल सकती है उतनी शान्ति उन्हें किसी से मिलना सम्भव नहीं है और इसका कारण हम लोगों के आपस का सम्बन्ध है। परन्तु यह कहाँ सम्भव दिखता है। मुझे मालूम है कि सिद्धान्तों के अनुसार जिस प्रकार गत वर्ष पं० मोतीलालजी नेहरू की बीमारी में उनके दामाद पण्डित पैरोल पर छूटे थे उसी के अनुसार मैं भी आ सकता हूँ पर न मालूम क्यों मेरे हृदय में यह उठता है कि यह श्रेष्ठ बात न होगी। मेरे सब साथी यही कहते हैं कि तुम्हारे इस प्रकार जाने में, यदि सरकार इजाजत देती है, तो जरा भी हानि नहीं है पर मेरा मन नहीं मानता। मेरा सार्वजनिक और व्यक्तिगत दोनों जीवन अब तक इतने शुद्ध रहे हैं, और यह भगवान की ही कृपा है, कि मैं यथाशक्ति इस प्रकार से आना पसन्द नहीं करता। क्यों वे ऐसा सोचती हैं कि ये अच्छी नहीं होंगी? क्या वे मुझे छोड़ कर चली जायँगी? मैं तो ऐसा नहीं समझता क्योंकि मैंने कोई ऐसा पाप तो नहीं किया है कि मेरा सारा जीवन ही दुःखमय हो जाय। जैसा पत्नी का सौभाग्य पति से है वैसा ही पति का सौभाग्य भी तो पत्नी से ही है। मेरा तो एक पत्नीव्रत है। तुम्हारे

भौजाई का स्थान रिक्त होने पर तो उसकी पूर्ति इस जन्म में सम्भव नहीं है। उनके बिना फिर यह जीवन रूखा-सूखा और नीरस ही है।

तुम उन्हें कह देना कि मेरे न आने की इच्छा का कारण उनके प्रेम की कमी है, वह यह सोचें भी नहीं। वे यह सोच भी नहीं सकतीं इसका मुझे विश्वास है। वे जानती हैं कि वे मेरे हृदय पर किस स्थान पर अधिष्ठित हैं, पर मैं क्या कहूँ। मैं यह नहीं चाहता कि इतना भी कहने को रह जाय कि मैं भी पैरोल पर छूटा था।

वे मन में दृढ़ता रखें। यह सोचें कि मैं अवश्य अच्छी हो जाऊँगी और मुझे विश्वास है कि भगवान मुझ से मेरा सर्वस्व हरण कर मेरी इतनी बड़ी परीक्षा न लेगा। आगे भगवत् इच्छा। मैं क्या कहूँ।

तुम्हारी भौजाई के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में मुझे तार रोज मिलना चाहिए। इस समय मेरा एक-एक क्षण जिस प्रकार बीत रहा है वह मैं ही जानता हूँ, क्या कहूँ पर विवेक और धैर्य की परीक्षा का यही काल है।

मैं जानता हूँ कि भावों के आवेग में आकर मैंने इस पत्र में कई ऐसी बातें लिख दी हैं जो तुम्हें लिखना कदापि उचित न था, परन्तु यह अवसर ऐसा है कि इस अवसर पर लज्जा को एक स्थान पर रखना ही उचित है।

गोविन्ददास

(लेखक के पत्र का रत्नकुमारी द्वारा उत्तर)

जबलपुर
५-६-३२.

पूज्य कक्का साहिब,

सादर प्रणाम !

कृपापत्र आपका प्राप्त हुआ। पूज्य भौजाई का स्वास्थ्य पूर्ववत् ही है। धड़कन के दौरे बराबर होते हैं। किसी वक्त देर में और कभी जल्दी। दौरे के बाद बहुत ही कमजोरी आजाती है।

आपके पत्र के समाचार कुछ-कुछ उनसे कह दिये हैं। अक्षरशः पत्र नहीं

सुनाया है क्योंकि दिल कमजोर होने के कारण वे उसका असर बरदाश्त नहीं कर सकेंगी। हम सब उनको बराबर यही विश्वास दिलाते जारहे हैं कि आप एक बार आकर उन्हें अवश्य देखेंगे। परन्तु यदि किसी कारण-वश ऐसा न हो सका तो उन्हें धक्का पहुँचेगा। अबकी बार जब से वे बीमार हुई हैं बराबर नागपुर की रट लगाए हुए हैं। साथ ही यह विश्वास-सा उन्हें होगया है कि बीमारी खतरनाक है। यद्यपि हम सब तरह से उन्हें समझाते हैं परन्तु फिर भी यह बात उनके दिल से दूर नहीं होती।

सीकर से नानीजी, खंडुवा से नानीजी, मासीजी, बीला बाई, सहारनपुर से चाचीजी वगैरः सब आगये हैं।

आज्ञाकारिणी
रत्नकुमारी

(लेखक के पिताजी का लेखक को पत्र)

जबलपुर
२०-६-३२

चिरंजीव बाबू गोविन्ददास,

आशीस,

तुम्हारा पत्र ता० १८-६-३२ का लिखा मिला। वास्तव में चिरंजीव बहू ही नहीं यह तो हम लोगों की बेटी से भी अधिक हैं। अब तो बहू कहो तो यह हैं और बेटी कहो तो यही हैं। इनकी सपूती के बाबत हम तुम्हें क्या लिखें। इनकी तो जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।

तुम्हारा एक वक्त अवश्य बहुत जरूरी यहाँ आना आवश्यक है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि तुम्हें आना ही होगा। यही हुक्म तुम्हारे लिये तुम्हारे सब पूज्यों का है।

लेखक की पत्नी की बीमारी के सम्बन्ध में लेखक के पिताजी को देश के कुछ गण्यमान्य व्यक्तियों के तार

2.7.32

TO

DEWAN BAHADUR SETH JIWANDAS JUBBULPORE NAMASKAR RELEASED YESTERDAY VERY ANXIOUS READ MRS GOVINDDASS ILL HEALTH WIRE DETAILS OBLIGE.

SHIVPRASAD GUPTA
APRICOT MUSSOORIE

4.7.32

TO

SETH JIWANDAS BANKER JUBBULPORE ANXIOUS TO READ ABOUT SERIOUS ILLNESS OF BROTHER GOVINDDASS WIFE WOULD STRONGLY ADVISE CONSULTING FAMOUS DOCTOR OHDEDAR OF LUCKNOW WIRE HIM DIRECT.

RAJA KALAKANKAR

कामनवेल्थ पार्लियामेंटरी परिषद् में न्यूजीलैंड जाते समय लेखक की माताजी का लेखक को पत्र

राजा गोकुलदास महल
जबलपुर
८-११-५०

चिरंजीव भैया,

तुम बहुत दूर जा रहे हो। एक बार और भी दूर गये थे अफ्रिका। उसके पहले तुम कभी इतनी दूर न गये थे। जब अफ्रिका गये थे तब जहाज से गये थे उस वक्त भी मेरा मन बहुत उथल-पुथल हुआ था। इस बार हवाई जहाज

से जा रहे हो, मेरा मन और भी उथल-पुथल हो रहा है। कितने लोग जहाज से समुद्र की मुसाफिरी करते हैं, कितने लोग हवाई जहाज से आया-जाया करते हैं। मैं नहीं जानती कि इन यात्राओं में जब पुत्रों के संग माँ नहीं रहतीं तब माँ के मन कैसे होते होंगे। पर मेरा मन जैसा हो रहा है उसका भान माँ ही कर सकती है, और कोई नहीं। तुम्हारी इस मुसाफिरी में तुम्हारे साथ कोई नहीं रहेगा, तुम बिलकुल अकेले जाओगे, इससे मेरी चिन्ता और बढ़ गयी है। मुझे वह जमाना याद आता है जब बिना बीस-पच्चीस संगी-साथियों, नौकर-चाकरों के तुम्हें कहीं बाहर नहीं जाने दिया जाता था।

तुम जब से जन्मे थे तब से लेकर अब तक तुम ही मेरा सहारा रहे हो। तुमने जब कांग्रेस का काम शुरू किया था तब चाहे तुम्हारे कक्का साहिब (पिताजी) उसके खिलाफ रहे हों, पर मैं नहीं। मैंने यह जरूर नहीं सोचा था कि उस काम का नतीजा जेल जाना और जेल के अनगिनती दुख उठाना हो सकता है। जब तुम पहले-पहल जेल गये तब मैं कितनी घबराई थी वह भी मैं नहीं भूली हूँ। जिस दिन तुम छूटे थे, घर के फाटक पर जसोदाजी के समान मैंने तुम्हारी आरती की थी। तुम्हें बिदा करते हुए मैं स्टेशन पर तुम्हारी आरती कर तुम्हें आशीर्वाद देना चाहती थी पर तुम्हारे कक्का साहिब के जाने के बाद मेरा शरीर इसके लायक नहीं रहा। आज चि० मनमोहन तुम्हें पहुँचाने कलकत्ता जा रहे हैं। उन्हीं के साथ तुम्हें यह असीस भेज रही हूँ।

भैया, तुम्हारा कुटुम्ब सदा भगवान का विश्वासी और भक्त रहा है। तुम्हें बड़े करते हुए मैं रामायण की यह चौपाई सदा रटती रहती थी—

"पुत्रवती युवती जग सोई, रघुवर भक्त जासु सुत होई।"

तुमने मुझे समझा दिया है कि भगवान की सेवा और जगत की सेवा एक ही चीज है यहाँ तक कि भगवान खुद जगत की सेवा के लिए अवतार लेते हैं। तुम्हारे कारण मैं अपनी कूख को सफल मानती हूँ। मेरा मन तुम्हारी इस लम्बी मुसाफिरी के कारण उथल-पुथल जरूर हो रहा है पर भगवान पर मेरा अटल विश्वास है। तुमने हमेशा ही जोखमें उठायी हैं। उन जोखमों में भगवान तुम्हारे सहाय रहे हैं। इस यात्रा में भी वे ही तुम्हारी रक्षा करेंगे।

माँ की आसीस है कि तुम्हारे कामों में कोई विघ्न न पड़े। तुम सफल

होकर राजी-खुशी लौटो। मैं तुम्हारे लौटने तक जीती रहूँ और जब तुम लौट कर आओ तब घर के दरवाजे पर फिर मैं तुम्हारी आरती उतार सकूँ यह भगवान से मेरी विनय है।

तुम्हारी
मॉं

कांग्रेस से पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र का त्याग-पत्र जो मिश्रजी ने लेखक को उनके प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति होने के नाते भेजा

कैम्प नयी दिल्ली
९-९-५१

श्रीमान् सेठ गोविन्ददासजी,
अध्यक्ष महाकोशल प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी,
कैम्प, नयी दिल्ली

श्रीमन्,

इस पत्र के द्वारा मैं राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस से त्याग-पत्र दे रहा हूँ। यह त्याग-पत्र कांग्रेस में मैं जितने पदों पर हूँ उनसे तथा साधारण सदस्यता से भी दे रहा हूँ। साथ ही मैं अपने दो वक्तव्य भेज रहा हूँ जो मेरे त्याग-पत्र के कारणों पर प्रकाश डालेंगे। हमारे प्रधान मन्त्री का श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डन को निकलवा कर तथा स्वयं कांग्रेस का अध्यक्ष होकर पूर्ण रूप से डिक्टेटर बन जाना यह अन्तिम कारण है। इस अन्तिम कारण के घट चुकने के पश्चात् मेरा कांग्रेस में बने रहना मैं देश के साथ विश्वासघात करना समझता हूँ। आज भले ही लोग मेरी बात न मानें, परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि भविष्य मेरे इस कथन को सिद्ध करेगा। राजर्षि टण्डनजी की जिस प्रकार कल राजनैतिक हत्या की गयी है वह कांग्रेस के अन्दर लोकतन्त्र की हत्या है। यह भारत में लोकतन्त्र की हत्या का सूत्रपात है। यह पाप नेहरूजी की सहायता से चुनाव जीतने के लोभ से किया गया है। यह कांग्रेस के पतन की पराकाष्ठा है। ८ सितम्बर १९५१ भारत के इतिहास में अशुभ दिन माना जावेगा। मुझे इस अशुभ दिन का पहले से ही आभास मिल चुका था। इसीलिए मैंने कुछ

दिन पहले ही मध्य प्रदेश सरकार के गृहमन्त्री पद से त्याग-पत्र दे दिया था। मैं पण्डित नेहरू की राजनीति तथा उनके प्रभाव को भारत के लिए अभिशाप समझता हूँ। कांग्रेस संस्था से मेरा तीस वर्ष का सम्बन्ध टूट रहा है इसका मुझे शोक है। साथियों से भी बिछुड़ने का मुझे विषाद है, परन्तु मैं कांग्रेस में जनता की सेवा करने आया था, एक व्यक्ति की गुलामी करने नहीं। मुझे विश्वास हो गया है कि कांग्रेस में रहकर अब मैं जनता की सेवा नहीं कर सकता। यदि आज मैं अपना कर्त्तव्य करने के लिए कांग्रेस को न छोड़ूँ तो मेरा शेष जीवन विडम्बना-मात्र रह जावेगा।

भवदीय
द्वारकाप्रसाद मिश्र

लेखक का मिश्रजी को उत्तर

३, केनिंग लेन, नयी दिल्ली,
तारीख ११ सितम्बर, १९५१

प्रियवर मिश्रजी,

कांग्रेस के समस्त पदों और सदस्यता तक से आपका त्याग-पत्र प्राप्त हुआ। पहले मैंने सोचा कि इस त्याग-पत्र को मैं प्रान्तीय कांग्रेस की कार्यकारिणी के समक्ष उपस्थित कर दूँ, क्योंकि मेरी नीति सदा यह रही है कि मैं कांग्रेस में अधिक से अधिक लोगों का संग्रह करने का प्रयत्न करूँ न कि उन्हें निकालने अथवा निकल देने जाने का। इसी रीति के कारण जब-जब मैं प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का सभापति रहा और जब से इस बार सभापति हूँ मैंने शिस्त की कार्रवाई बहुत कम लोगों पर की, इस प्रकार की कार्रवाई के जो मामले चल रहे थे उन्हें भी सन् १९४७ में स्वतन्त्रता की खुशी में खतम कर दिये। इन महीनों में जिन्होंने कांग्रेस से स्तीफे दिये उन्हें भी मैंने अब तक स्वीकार नहीं किया। परन्तु आपने जो मार्ग पकड़ा है और जिन कारणों से आपने कांग्रेस से त्याग-पत्र दिया है वह मार्ग ऐसा है तथा वे कारण ऐसे हैं जिनसे मुझे बिना और देरी के आपका स्तीफा स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ रहा है, क्योंकि मुझे जान पड़ता है कि यदि आपके त्याग-पत्र स्वीकार करने में देरी हुई तो उस

संस्था को हानि पहुँचेगी जिसकी सेवा में मैंने अपना सारा जीवन लगाया है। अतः मैं आपके इस त्याग-पत्र को स्वीकार करता हूँ।

आपने जिस मार्ग को अपनाने का निश्चय किया है उसका अवलम्बन करने के पूर्व उस सम्बन्ध में मेरी कोई राय नहीं ली। आपने जब अपने प्रान्तीय गृह मन्त्रित्व से स्तीफा दिया और एक वक्तव्य के पश्चात् दूसरा देना आरम्भ किया तब भी आपने मेरी कोई सम्मति नहीं ली। आपने जो मार्ग लिया है उससे और आपने कांग्रेस तथा पण्डित नेहरू के सम्बन्ध में जो मत दिये हैं उनसे मैं सहमत नहीं हूँ। आप अपने स्तीफे में लिखते हैं कि आप "पण्डित नेहरू की राजनाति तथा उनके प्रभाव को भारत के लिये अभिशाप मानते हैं" इस सम्बन्ध में मेरा मत आपसे सर्वथा भिन्न है। मेरी स्पष्ट राय है कि नेहरूजी का नेतृत्व देश के लिये 'अभिशाप' न होकर 'वरदान' है। वे हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के सबसे बड़े सेनानियों में एक थे और आजादी के बाद उन्होंने हमारे देश के मस्तक को केवल इस देश में ही नहीं किन्तु समस्त संसार में ऊँचा किया है। आप उन्हें तानाशाह होने की इच्छा का दोष लगाते हैं। मैं उन्हें सच्चा प्रजातन्त्र का पोषक मानता हूँ और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने प्रचण्ड बहुमत से उन्हें तानाशाह नहीं बनाया है पर अपना प्रजातान्त्रिक सभापति। हर बात में मैं नेहरूजी से सहमत नहीं रहा हूँ। दृष्टान्त के लिए जब विधान परिषद् में हिन्दी के प्रश्न पर चर्चा हो रही थी उस समय उनकी और मेरी राय एक दूसरे से भिन्न थी। गोवध के विषय में भी मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। हिन्दू कोड के भी मैं पक्ष में नहीं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं उनके नेतृत्व को ही देश के लिये अभिशाप मानूँ।

जहाँ तक उनकी वैदेशिक नीति का सम्बन्ध है वह नीति उनकी नहीं रही है वह होगयी है कांग्रेस की नीति। आप यदि उनकी वैदेशिक नीति से सहमत नहीं थे तो आपको उस नीति का विरोध बेंगलोर के अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में करना था जब उस नीति का समर्थन कांग्रेस के चुनाव के घोषणा-पत्र में किया गया। मैं उनकी वैदेशिक नीति का सदा समर्थक रहा हूँ। भारतीय संसद्, उसके बाहर, और हाल ही में जब मैं न्यूजीलेंड, आस्ट्रेलिया आदि विदेशों को गया मैंने सदा उनकी वैदेशिक

नीति का समर्थन किया। मेरी राय है कि उनकी वैदेशिक नीति ठीक नीति है और उस नीति के कारण सारे संसार में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ी है।

आपने अपने स्तीफे और वक्तव्यों में श्री टण्डनजी के लिए भी कुछ कहा है। आप जानते हैं कि मैं टण्डनजी का कट्टर समर्थक रहा हूँ और अन्य अवसरवादियों के सदृश मैंने समय पर उनका साथ नहीं छोड़ा। जब श्री टण्डनजी और पण्डित नेहरू में मतभेद उत्पन्न हुआ तब मैं समझौते के पक्ष में था। मैंने अपने ढंग से इस समझौते का प्रयत्न किया और इस विषय में मैं श्री नेहरूजी, मौलाना साहिब, राजाजी आदि से मिला। लेकिन मैं जिससे भी मिला उससे मैंने स्पष्ट कह दिया कि यदि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में श्री टण्डनजी के त्याग-पत्र को स्वीकार करने की बात आयी तो मैं अपना मत उसके विपक्ष में दूँगा। मैंने अपना मत अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में टण्डनजी के स्तीफे को स्वीकार न करने के पक्ष में ही दिया लेकिन जब वह स्तीफा स्वीकार होगया और पण्डित नेहरू को सभापति बनाने का प्रस्ताव आया तब मैं उस प्रस्ताव के विपक्ष में अपना मत न दे सका। मेरी राय है कि टण्डनजी को ही कांग्रेस का सभापति रहना चाहिए था और टण्डनजी और नेहरूजी में किसी भी प्रकार कोई न कोई समझौता होना चाहिए था, परन्तु जब यह न हो सका और टण्डनजी का त्याग-पत्र स्वीकृत होगया तब नेहरूजी से अधिक अच्छा कौन व्यक्ति कांग्रेस का सभापति हो सकता था? आप अपने त्याग-पत्र में लिखते हैं कि आप कांग्रेस में जनता की सेवा करने आये थे, एक व्यक्ति की गुलामी करने नहीं। नेह जी के नेतृत्व का समर्थन किसी व्यक्ति की गुलामी नहीं है। जहाँ तक हमारे महाकोशल प्रान्त का सम्बन्ध है वह प्रान्त सदा कांग्रेस का बड़ा भारी समर्थक रहा है। उस प्रान्त में आज भी यही स्थिति है और मेरा निश्चित मत है कि अगले चुनाव में भी वह प्रान्त कांग्रेस का ही कट्टर समर्थक रहने वाला है। कांग्रेस आज देश की सबसे बड़ी संस्था है और मेरी निश्चित राय है कि हमारे देशवासियों को इस नाजुक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में कांग्रेस के चारों ओर ही एकत्रित होना चाहिए। आप जानते हैं कि मैं जब ३१ वर्ष पूर्व सन् १९२० में कांग्रेस में सम्मिलित हुआ उस समय न कहीं

स्वराज्य दिखायी देता था और न कहीं मन्त्री पद आदि। वह पृष्ठभूमि थी पंजाब के फौजी कानून की और ऐसी जिसमें स्वर्गीय लाला हरकिशनलाल आदि के सदृश व्यक्तियों की जायदादें जप्त हुई थीं और उनको फाँसी की सजायें दी गयी थीं। उन ऐतिहासिक दिनों में राजा गोकुलदास के कुटुम्ब के किसी व्यक्ति का कांग्रेस में सम्मिलित होना एक आश्चर्यजनक बात मानी गयी थी। तबसे आज तक कभी भी मैंने कांग्रेस को नहीं छोड़ा और न मैं आज यह करने जा रहा हूँ। आप हमारे प्रान्त के अग्रगण्य नेताओं में रहे हैं; आपका ठोसपन, ईमानदारी, योग्यता और शासन चलाने के गुणों पर सदा प्रान्त को गर्व रहा है। आपने गत २५ वर्षों में प्रान्त की महान् सेवायें की हैं आज कांग्रेस अपने अग्रगण्य नेताओं में से एक को खो रही है।

जहाँ तक हमारे व्यक्तिगत सम्बन्धों का ताल्लुक है मैं समझता हूँ कि इस प्रकार के सम्बन्ध क्वचित ही देखने में आते हैं। आपके कांग्रेस से बाहर जाने के कारण हमारे आपसी सम्बन्ध में फर्क नहीं पड़ेगा। परन्तु हम लोगों के रास्ते एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न होगये हैं।

भवदीय,
गोविन्ददास
सभापति,
महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी

श्री पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र,
मारफत, माननीय पण्डित
रविशंकरजी शुक्ल,
मुख्य मन्त्री, मध्य प्रदेश, नागपुर।

पुनश्च :
चूँकि आपका त्याग-पत्र पत्रों में प्रकाशित होगया है इसलिए मैं इस पत्र को भी पत्रों में प्रकाशनार्थ दे रहा हूँ।

परिशिष्ट २

हिन्दी मन्दिर के सम्बन्ध में सन् १६१६ में कुछ हिन्दी प्रेमियों का निवेदन

जब तक देश की मातृभाषा का साहित्य पूरे तौर से भरा हुआ न हो तब तक वह देश कभी उन्नति के ऊँचे शिखर पर नहीं पहुँच सकता। देश की उन्नति और मातृभाषा में परस्पर एक ऐसा सम्बन्ध है जिससे बिना साहित्य के पूरे हुए देश उन्नत नहीं हो सकता। क्या व्यापार, क्या खेती, क्या विज्ञान, क्या नीति सभी की उन्नति साहित्य की उन्नति पर निर्भर है। संसार के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ कि बिना साहित्य के पूरे हुए देश ने उन्नति की हो। साहित्य देश की उन्नति और अवनति को साफ दिखा देता है। जिस देश में ऊँचा तथा सब विषयों से भरा साहित्य हो वह कभी दरिद्री नहीं रह सकता। उस देश में रहने वाले सदा धन-धान्य से भरे रहते हैं। साहित्य पारस का वह टुकड़ा है जो किसी दिन उस भूमि को सोने की भूमि बना देता है। ऐसी दशा में और सब बातों की उन्नति के साथ साहित्य की उन्नति के लिए भी हम लोगों का पूरा ध्यान होना चाहिए।

कुछ समय पहले यह निश्चित नहीं था कि हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा होने के योग्य कौनसी भाषा है। यही कारण था कि अभी तक इस देश की भाषा का साहित्य अधूरा ही रहा है। किन्तु यह बात अब पूरी तरह निश्चित हो चुकी है कि यदि कोई भाषा हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा होने योग्य है तो वह हिन्दी भाषा ही है। हमारे देश के मुख्य नेतागण लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, माननीय पं० मदनमोहन मालवीय आदि सबों ने इस बात को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार कर लिया है।

अब हिन्दी साहित्य क्षेत्र में यह प्रश्न उठा हुआ है कि हिन्दी को हम पूरी उन्नत दशा में कब देखेंगे? हमारी शिक्षा-दायक हमारी प्यारी हिन्दी कब होगी? जिसके द्वारा सब तरह की शिक्षा हिन्दी में ही हम पा सकें। इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि जब हम तन-मन-धन से हमारी भाषा की उन्नति

के यत्न में कमर कस कर खड़े होंगे उसी समय हमारी यह सब इच्छाएँ पूरी हो जायँगी। उसी समय हम भा दूसरे उन्नत देशों की तरह धन-धान्य से पूर्ण होकर इस देश के रहने के सुख का अनुभव कर सकेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि यत्न हो रहे हैं। यदि हम बीते हुए २५-३० वर्ष पहले हिन्दी भाषा की दशा पर ध्यान देते हैं तो यह साफ मालूम होता है कि उस समय की दशा और आजकल की दशा में बहुत अन्तर है।

उस समय न तो ऊँचे दर्जे के हिन्दी में समाचारपत्र निकलते थे और न अच्छी-अच्छी पुस्तकें ही हिन्दी साहित्य में मौजूद थीं। किन्तु यह सब होते हुए भी अभी तक हमारी हिन्दी बचपन में ही है। मन बहलाव और अनुवाद की हुई पुस्तकें ही ज्यादातर लिखी गई हैं। साहित्य को पूरा करने के लिए जिन आवश्यक पुस्तकों के लिखे जाने की आवश्यकता है वह अभी बनी हुई ही है। यदि कुछ गिनती के दो-चार विषयों पर कुछ पुस्तकें लिखी भी गई हों तो क्या उनसे साहित्य पूरा हो गया।

यद्यपि हिन्दी भाषा की पुस्तकों को प्रकाशित करने के लिए बहुत सी संस्थायें नियत हो गई हैं तो भी हमारा विचार पूरे तौर पर सिद्ध नहीं हुआ है, क्योंकि हिन्दी भाषा की उन्नति के लिए सबसे पहले हिन्दी लिखनेवाले लेखकों की आवश्यकता है जो केवल हिन्दी भाषा में पुस्तकें तैयार करें। वर्तमान समय में जो लेखक हैं उन्हें अपने निर्वाह के लिए और काम करने पड़ते हैं, जब अपने निर्वाह के लिए ही उनका पूरा समय खर्च हो जाता है तो हिन्दी लिखने के लिए वह समय कहाँ से निकाल सकते हैं। उपयोगी और गम्भीर विषयों के लिखने तथा सोचने के लिए समय की आवश्यकता है और मन की स्थिरता की भी पूरी आवश्यकता है। क्योंकि जब वे निर्वाह के लिए अन्य कार्यों में लगे रहते हैं वे फिर हिन्दी सेवा के लिए समय किस प्रकार निकाल सकते हैं। आराम के समय यदि वे पुस्तकें लिखने बैठें तो गम्भीर विषयों पर लिखने के काम को पूरा नहीं कर सकते, क्योंकि जीवमात्र को परिश्रम करने के बाद आराम करना बहुत ही आवश्यक है। पुस्तक लिखने के काम में उपज (प्रतिभा) की बहुत आवश्यकता है। वह उपज बिना शान्ति आर स्वतन्त्रता के नहीं हो सकती। इसलिए हमें हिन्दी साहित्य की उन्नति

के लिए एक 'हिन्दी मन्दिर' स्थापित करना चाहिए जहाँ हिन्दी लिखने वाले प्रेमीगण स्वतन्त्रता से रह कर हिन्दी में ऊँचे उपयोगी विषयों पर पुस्तकों को लिखें और आगे के लिए हिन्दी भाषा के योग्य लेखकों को तैयार करें।

इस 'हिन्दी मन्दिर' के नीचे लिखे नियम होने चाहिएँ।

१. इस 'हिन्दी मन्दिर, में हिन्दी भाषा के अलग-अलग विषयों पर पुस्तकें लिखने के लिये अलग-अलग विषयों के जानने वाले योग्य विद्वान लेखक रखे जायँ, एक-एक लेखक अपने पूरे तौर से जाने हुए एक ही विषय पर पुस्तकें लिखें। जैसे—वैज्ञानिक लेखक विज्ञान की पुस्तकें, ऐतिहासिक लेखक इतिहास की पुस्तकें, व्यापारिक लेखक व्यापार तथा शिल्प सम्बन्धी पुस्तकें इत्यादि। योग्यता के अनुसार लेखक को १०० रु० मासिक वेतन से ५०० रु० या इससे भी अधिक वेतन दिया जाय।

२. यदि कोई लेखक वेतन लेकर 'हिन्दी मन्दिर' में रहना न चाहें और स्वतन्त्र ही किसी विषय पर पुस्तकें लिख कर पुरस्कार चाहें तो ऐसी पुस्तकें भी हिन्दी मन्दिर में ली जायँ और उन पुस्तकों का उचित पुरस्कार लेखकों को दिया जाय।

३. 'हिन्दी मन्दिर' के लेखकों द्वारा लिखी हुई पुस्तकों और बाहर से लिखाई गई पुस्तकों के सम्पादन के लिये एक सम्पादक समिति रखी जाय। जो हिन्दी मन्दिर से लिखाई गई पुस्तकों का तथा पुरस्कार से लिखाई गई पुस्तकों का प्रकाशन अलग-अलग विषयों की 'माला' रूप से या स्वतन्त्र पुस्तक रूप से करें। इस समिति को ही बाहर से योग्य सब विषयों के विद्वानों से आग्रह तथा निवेदन से उपयोगी विषयों पर नोट तथा ग्रन्थ लिखवाने का अधिकार रहे।

४. 'हिन्दी मन्दिर' में एक विद्यार्थियों के रहने का स्थान रहे, जहाँ हिन्दी में पुस्तक लिखना सीखने वाले विद्यार्थी रखे जायँ। ऐसे विद्यार्थी कम से कम एफ० ए० तक किसी यूनिवर्सिटी से पास किये हुए हों या इतनी ही योग्यता रखने वाले हों। इसी तरह और भाषाओं में योग्यता रखने वाले भी हिन्दी भाषा में लिलना सीखने वाले विद्यार्थी रखे जायँ। जिस विद्यार्थी ने पढ़ने के समय जिस-जिस मुख्य विषय को पढ़ा हो उस विद्यार्थी का

उसी विषय पर पुस्तक लिखने का अभ्यास कराया जाय। इन विद्यार्थियों को हिन्दी में पुस्तकें लिखने की शिक्षा देने का काम हिन्दी मन्दिर में रहने वाले लेखकों के ऊपर ही रहे। एक-एक लेखक अपने जाने हुए विषय पर विद्यार्थी को शिक्षा दे। जैसे वैज्ञानिक लेखक विज्ञान सीखने वाले विद्यार्थी को, ऐतिहासिक लेखक इतिहास सीखने वाले विद्यार्थी को, व्यापारिक लेखक व्यापार विषय पर सीखने वाले विद्यार्थी को, इत्यादि।

प्रत्येक लेखक अपने ग्रन्थ-लेखन के सिवाय प्रतिदिन २ घण्टे विद्यार्थियों को लिखाना सिखाने के काम में भी व्यय करें। विषय के अनुसार २ या ३ वर्ष या इससे कम या अधिक विद्यार्थियों के पढ़ने का समय रहे। हर वर्ष परीक्षाएँ हों, और विषय की नियत पुस्तकें पढ़ लेने तथा अन्तिम परीक्षा पास होने पर विद्यार्थियों को उपाधियाँ दी जायँ।

५. 'हिन्दी मन्दिर' में एक बड़ा पुस्तकालय रहे जिसमें सब भाषाओं की अच्छी-अच्छी पुस्तकों का और विद्यार्थियों का संग्रह रहे, और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पत्र भी आवें। ऐसे पुस्तकालय से लेखकों को तो बहुत लाभ पहुँचेगा ही पर सर्वसाधारण को भी बहुत लाभ होगा।

६. लेखकों और विद्यार्थियों के मन को आनन्द देने के लिए 'हिन्दी मन्दिर' में एक क्लब भी रखा जाय जिसमें गम्भीर मस्तिष्क के काम से थकने पर लेखक और विद्यार्थी वहाँ आकर आनन्द से कुछ समय बितावें।

७. 'हिन्दी मन्दिर' से एक मासिक-पत्र भी निकाला जाय जिसमें गम्भीर लेखों के सिवाय 'हिन्दी मन्दिर' से निकली हुई पुस्तकों की निष्पक्ष बड़ी समालोचनाएँ निकलें। और भी देश से छपी हुई पुस्तकों की समालोचनाएँ होती रहें। बिना समालोचना के साहित्य में ऊँचापन नहीं आता। प्रचार के लिए भी समालोचना की बहुत आवश्यकता है।

८. मासिक पत्र और पुस्तकों के छापने के लिये 'हिन्दी मन्दिर' का एक अपना बड़ा मशीन प्रेस भी हो, क्योंकि दूसरे प्रेसों से इतने बड़े काम अपनी इच्छानुसार अच्छे नहीं छप सकते।

ऐसे 'हिन्दी मन्दिर' की हिन्दी साहित्य को पूर्ण करने के लिये हिन्दुस्तान में कितनी आवश्यकता है इसका अनुमान सभी हिन्दी भाषा के प्रेमी अच्छी

तरह कर सकते हैं। इस भारी काम में अभी तक यह निश्चय कर देना कि इतने रुपयों में यह काम पूरा हो जायगा—बहुत कठिन है, क्योंकि इसका काम इतना बड़ा होना कि इसमें जितना भी रुपया हो वह सब व्यय हो सकता है, तथा जितना विस्तृत इसका क्षेत्र होगा वह अधिक रुपये से ही चल सकता है। किन्तु काम के प्रारम्भ करने में जो व्यय होगा उसका जो अन्दाज किया गया है उससे मालूम होता है कि अभी काम शुरू करने में ७ लाख रुपयों की आवश्यकता है। इसमें से लगभग २ लाख रुपयों के तो हिन्दी मन्दिर के भवन, प्रेस, पुस्तकालय आदि में खर्च होंगे और बाकी ५ लाख रुपये स्थायी रूप से जमा रहेंगे। इनके ब्याज से हिन्दी मन्दिर का वार्षिक तथा मासिक खर्च चलेगा। इस रकम में से १ लाख रुपया तो पहले ही चाहिए क्योंकि मकान आदि फिर बनते रहेंगे।

यह 'हिन्दी मन्दिर' कहाँ बनाया जायगा इसका निश्चय तथा इसके नाम आदि का निश्चय उस समय होगा जब एक लाख रुपया इकट्ठा हो जायगा। यह निश्चय उस समय हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध हिन्दी प्रेमियों से तथा रुपया देने वाले महाशयों की सम्मति लेकर किया जायगा। उसी समय हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध हिन्दी प्रेमियों की एक कमेटी नियत की जायगी, उसके नाम कानून के अनुसार इस रुपये का 'ट्रस्ट' होगा। और आगे बाकी का रुपया इकट्ठा करने का उपाय और इस काम को नियमित चलाने का अधिकार उसी कमेटी के हाथ रहेगा।

जब तक यह एक लाख रुपया इकट्ठा न होगा और हिन्दी मन्दिर के स्थापन करने का निश्चय तथा इसकी कमेटी का चुनाव न होगा तब तक इसका अस्थायी प्रधान कार्यालय 'शारदा भवन पुस्तकालय' गोपाल निवास, जबलपुर (मध्य प्रदेश) में रहेगा और जो रुपया इकट्ठा होगा वह इलाहाबाद बैंक की शाखा जबलपुर में जमा रहेगा।

यदि देखा जाय तो इस हिन्दुस्तान जैसे बड़े देश में इस आवश्यक कार्य के लिये ७ लाख रुपया इकट्ठा होना कुछ बड़ी बात नहीं है। रुपये की कमी तभी तक है जब तक उत्साह और प्रेम न हो। यदि इस काम में सबको उत्साह हो एवं प्रेम सहित सब जनता इस काम में योग दे तो रुपया बहुत जल्द इकट्ठा

हो सकता है। यदि हमारे हिन्दी प्रेमियों के हृदय में मातृभाषा का सच्चा प्रेम है, मातृभाषा की उन्नति के लिये सच्चा उत्साह है तो रुपया आवश्यकता से भी अधिक इकट्ठा हो सकता है।

संसार में तीन तरह की माताएँ होती हैं। एक वह जो जन्म देती हैं, दूसरी वह जिस पर हम रहते हैं, तीसरी वह जो हमारी बोली है—जिससे अपने मन के विचारों को प्रकट करते हैं। इन तीनों माताओं का हम पर ऋण है। सच्चा सुपूत वही कहलाता है जो अपने ऋण से उऋण हो इसलिये धर्म समझ कर अगुआ बनिये, अपनी जन्म देने वाली माता के बराबर अपनी जन्मभूमि तथा मातृभाषा की उन्नति के लिये प्रयत्न करिये। जब तक भाषा की उन्नति नहीं होगी तब तक मातृभूमि की उन्नति कभी नहीं होगी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के वचन को स्मरण कीजिये—

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल॥"

अब अपनी प्यारी मातृभाषा हिन्दी के उपकार के लिये कमर कस कर खड़े होइये और तन, मन, धन से इसकी सहायता करिये, जिससे यह 'हिन्दी मन्दिर' स्थापित होकर मातृभाषा के उद्धार के लिये खड़ा हो तथा उन्नति करने के कार्यों को पूर्ण करे।

(रायबहादुर) विष्णुदत्त शुक्ल
(बी० ए० ताल्लुकदार सिहोरा)

माधव सप्रे (बी० ए० जबलपुर)

(बाबू) गोविन्ददास
(पौत्र राजा गोकुलदास,
जबलपुर)

(विद्याभूषण पण्डित) पु०
हरिनारायण (बी० ए०
जयपुर

(राय बहादुर राय सेठ)
नौरंगराय (साहिब) खेतान
जयपुर।

(श्री) सोमदेव शर्मा गुलेरी
(जयपुर)

(स्वामी) लक्ष्मीराम (आयुर्वेद मार्तण्ड)
(जयपुर)

दुर्गाप्रसाद द्विवेदी
(जयपुर)

प्रान्तीय राजनैतिक परिषद् के सन् २१ के जबलपुर अधिवेशन की स्वागत-समिति के अध्यक्ष पद से दिये गये लेखक के भाषण के कुछ अंश

"यदि हम अपने पिछले चार महीनों की सफलता पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात हो जायगा कि देश के सभी प्रान्त सबसे अधिक कार्य कर दिखाने के लिए एक दूसरे से स्पर्द्धा करते रहे हैं। मुझे आज यह प्रकट करते हुए असीम हर्ष होता है कि हिन्दी मध्य प्रान्त ने किसी दूसरे प्रान्त से कम कार्य नहीं किया। इतना ही नहीं, कई बातों में तो वह दूसरे प्रान्तों से आगे बढ़ गया है। कौंसिलों के बायकाट में उसने सबसे अधिक तत्परता दिखलायी थी। वकीलों द्वारा अदालतों के बहिष्कार में उसका दूसरा नम्बर है। जहाँ तक मालूम हुआ है अब तक हमारे प्रान्त में ३५ वकीलों ने वकालत स्थगित की है। यद्यपि स्कूल यथा कालेजों के बहिष्कार में उसने अधिक कार्य नहीं किया तथापि यहाँ ११ राष्ट्रीय पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी हैं। देहाती पाठशालाओं की संख्या इनसे अलग है। इसके अतिरिक्त जिन विद्यार्थियों ने देश का साथ दिया है, वे प्रान्त में प्रचार का प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। मादक वस्तुओं के बहिष्कार का तो मध्यप्रान्त ही जन्म-दाता है। यह न तो कलकत्ता कांग्रेस के कार्यक्रम में था और न नागपुर कांग्रेस के कार्यक्रम में था, परन्तु आत्मशुद्धि में तत्पर भारतीय जनता को यह इतना प्यारा लगा कि अन्यान्य प्रान्तों ने भी इसे आलिंगन कर लिया है और शराब आदि के ठेके लेने के लिए लोग सामने नहीं आ रहे हैं।

"बैजवाड़े के प्रस्ताव को भी कार्य-रूप में परिणत करने के लिए हिन्दी मध्य प्रान्त ने परिश्रम किया है। परन्तु इस दिशा में कितना कार्य हुआ है, इसका पूरा विवरण अभी तक भिन्न-भिन्न जिलों की पूरी रिपोर्ट प्राप्त न होने के कारण ठीक-ठीक नहीं दिया जा सकता।

"हिन्दी मध्य प्रान्त का प्रमुख नगर होने के कारण जबलपुर ने स्वभावतः सबसे अधिक कार्य किया है। इस प्रान्त का सबसे पुराना और प्रसिद्ध शिक्षालय स्थानीय हितकारिणी हाई स्कूल भी राष्ट्रीय कर दिया गया है।

अभी मुकदमा चल रहा है, परन्तु राष्ट्रीय हो जाने की पूर्ण आशा है। एक दूसरा राष्ट्रीय स्कूल भी खोला गया है, जो कि राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ रहा है। स्थानीय कालेज में जिन विद्यार्थियों ने असहयोग को आलिंगन कर उक्त विद्यालय का त्याग किया था, वे असहयोग आश्रम में निवास कर सरल जीवन व्यतीत करते हुए जिले भर में प्रचार का प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। कुछ मास पूर्व केवल गान्धीजी की जय जयकार करने के लिए एक नृशंस अंग्रेज के हाथ इन लोगों ने महात्माजी के नाम पर जोरों के कोड़े भी खाए, परन्तु अपने अहिंसा-व्रत से न डिगे। इस घटना ने इन विद्यार्थियों का ही नहीं, परन्तु प्रान्त भर के मुख को उज्ज्वल कर दिया है और नेताओं को विश्वास दिला दिया है कि सरकारी कर्मचारियों द्वारा उकसाये जाने पर भी जबलपुर की जनता अपने अहिंसा व्रत के निबाहने का प्राण-प्रण से उद्योग करेगी।

"जबलपुर के युवक विद्यार्थियों के विषय में विशेष रूप से उल्लेख किये जाने योग्य एक दूसरी बात यह है कि वे ब्राह्म मुहूर्त में उठ अपना झुण्ड बना कर शहर की सड़कों और गलियों में देश-भक्ति पूरित गीत गाते हुए नगर-निवासियों के कानों में भारतीय राष्ट्रीयता का पवित्र संदेश सुनाते हैं। कभी-कभी संध्या समय भी इनकी मण्डली निकलती है। उनके इन गीतों ने अल्प-काल में जनता में जो स्फूर्ति पैदा करदी है, वह प्रभावशाली वक्ताओं के सहस्रों व्याख्यानों से नहीं उत्पन्न हो सकती थी। इन देश-भक्त युवकों की उमंगों का जितना ही स्वागत किया जाय उतना ही थोड़ा है।

"जिले के अनेक स्थानों में पंचायतें स्थापित हो चुकी हैं और नियम भी तैयार कर लिये गये हैं, परन्तु अभी तक अधिक कार्य नहीं हुआ है। भविष्य में इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता होने की पूर्ण आशा है।

"जबलपुर जिले की जनसंख्या लगभग आठ लाख की है। इसके अनुसार इस जिले को छब्बीस हजार कांग्रेस के सदस्य बनाना, तिलक स्वराज्य फण्ड के लिए छब्बीस हजार रुपये चन्दे के इकट्ठा करना तथा पाँच हजार चर्खों का प्रचार करना चाहिए। जबलपुर ने अपने कर्तव्य को निबाहने में कितनी सरगर्मी से काम किया है, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा

सकता है कि प्रान्त के जितने ज़िलों की रिपोर्ट प्राप्त हुई हैं, उसके अनुसार प्रान्त भर में बत्तीस हज़ार सदस्य बने हैं और छब्बीस हजार रुपए एकत्रित हुए हैं, जिनमें से केवल जबलपुर ने अकेले बीस हजार सदस्य बनाए हैं और बीस हजार रुपए एकत्रित किए हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ पर स्वराज्य फण्ड के लिए एक हज़ार रुपये मासिक चन्दे का वचन भी मिल गया है। चर्खों की संख्या अभी नहीं ज्ञात हुई है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि इस दिशा में काफ़ी काम हो चुका है।

"जिस समय महात्मा गान्धीजी का इस नगर में शुभागमन हुआ था, उस समय यहाँ कितने सदस्य हुए, इसका पूरा हिसाब नहीं आया था और जहाँ तक मुझे मालूम हुआ है उनके पूछने पर उनसे यह निवेदन कर दिया गया था कि जबलपुर में पचास हजार सदस्य हो चुके होंगे। जिस संख्या में फार्म बँटे थे, उस पर यह बात कह दी गयी मालूम होती है। महात्माजी ने इसी के आधार पर अपने पत्र में लिखा था कि जबलपुर में पचास हजार सदस्य हो गये। हम महात्माजी के इस लेख को जबलपुर के लिए उनका आशीर्वाद समझते हैं और हमें विश्वास है कि जहाँ इतने थोड़े समय में बीस हजार सदस्य हो गए हैं, वहाँ निश्चित समय तक पचास हज़ार सदस्य हो जाना कठिन नहीं है। जहाँ तक मुझे मालूम है, अब तक देश के किसी भी दूसरे जिले में इतना कार्य नहीं हुआ है। जबलपुर ने राष्ट्रीय संग्राम में अपना क्या कर्त्तव्य है यह समझ लिया है। वह मनसा वाचा कर्मणा से धन जन और सामान को माता के चरणों में अर्पण कर, आने वाली आपत्तियों का शान्ति तथा दृढ़ता के साथ सामना करने के लिए प्रस्तुत हैं। हम आशा करते हैं कि हमारा समस्त हिन्दी मध्य प्रान्त इसी प्रकार कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ेगा।"

लेखक का ईश्वर विषयक ध्यान

पर ब्रह्म

वह कैसा है ?

१. निराकार।

२. निरंजन—बिना किसी मैल के।
३. निरीह—बिना किसी इच्छा के।
४. निर्गुण।
५. तीनों गुण सत्य रज तम से परे।
६. पाँचों तत्त्व पृथ्वी, अप, तेज, वायु आकाश से परे।
७. गुण और तत्त्व मिल कर जो नाम रूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है उससे परे।
८. अथवा उन तत्त्वों से परे जिन्हें वैज्ञानिक इस नाम रूपात्मक जगत का आदि और मूल कारण मानते हैं और जिनका विभाजन नहीं।
९. सैल एटम और इलेक्ट्रान से भी परे।
१०. एक तत्त्व है।
११. निर्द्वन्द है।
१२. उसका न आदि है, न मध्य है, न अन्त है।
१३. उसकी न उत्पत्ति है, न विकास है, न नाश है।
१४. सत है, चित् है, आनन्द है।

ऐसा है वह।

मैं अपने को उसे सौंपता हूँ।

मैं क्या हूँ?

इस नाम रूपात्मक जगत् का एक क्षुद्र अंश।

नाम रूपात्मक जगत् कहाँ से आया?

उसी से।

कहाँ पर आया?

उसी में या उसी पर।

कारण?

उसकी इच्छा।

इच्छा का कारण?

१. जब मनुष्य की सारी इच्छाओं का कारण आज तक के बड़े से बड़े वैज्ञानिक न बता सके तो उसकी इच्छा का कारण बताना असम्भव है।

२. यहीं विज्ञान के स्थान पर धर्म की उत्पत्ति होती है अर्थात् तर्क के स्थान पर विश्वास की। और विश्व के समस्त धर्मों ने एक ही घोषणा की है कि उसकी इच्छा हुई और उसी से उसी में इस नाम रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति हो गयी।

उसी से उसी में उत्पत्ति कैसे हुई ?

१. जैसे पृथ्वी से उसी में बर्तन बन जाते हैं।
२. जैसे सुवर्ण रजत आदि धातुओं से उन्हीं में भूषण बन जाते हैं।
३. जैसे जल से उसी में लहरें, बुदबुदे और कण बन जाते हैं।

उत्पत्ति का क्रम—

१. आरम्भिक स्वरूप—'नेति-नेति'।
२. उससे प्रकृति।
३. प्रकृति से अहंकार।
४. अहंकार से बुद्धि।
५. बुद्धि से मन।
६. मन से तीन गुण—सत्य, रज, तम।
७. फिर पाँच तन्मात्राएँ अर्थात् तत्त्वों के सूक्ष्म रूप।
८. फिर पाँच तत्त्व—आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी।
९. अथवा नं० २ से नं० ८ तक कुछ न होकर नं० १ से ही वैज्ञानिकों के तत्त्व या इलैक्ट्रान, एटम और सैल।
१०. जो भी क्रम हो उसका मिश्रित 'गैस्टिक' पदार्थ।
११. उसका कल्पनातीत शक्ति से संचलन और ठोस होने की अवस्था आते-आते चटककर अनन्त ब्रह्माड—अगणित सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी।
१२. हमारा सूर्यमण्डल उसका एक अंश।
१३. हमारे सूर्यमण्डल में एक क्षुद्र प्लैनेट हमारी पृथ्वी।
१४. पृथ्वी का प्राथमिक 'गैस्टिक' ठोस होता हुआ रूप।
१५. फिर ठण्डा होता हुआ रूप।
१६. ठण्डे होते समय सिकुड़न के कारण पर्वत, समुद्र, समतल भूमि, नदी आदि।

१७. फिर ऋतुओं का आगमन और प्रस्थान ।
१८. फिर उद्भिज सृष्टि की उत्पत्ति ।
१९. फिर जीव सृष्टि की पानी से उत्पत्ति ।
२०. प्रथम-मत्स्य, फिर कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परुषराम, राम और अन्तिम विकसित रूप कृष्ण ।

अज्ञान के कारण जो 'नेति नेति' कहा जाने वाला निराकार ब्रह्म है उसका अनुभव सम्भव नहीं पर वह चैतन्य है और सारी साकार सृष्टि उसी की इच्छा से हुई है, उसी में है, इसलिए उसका जो पूर्णतम विकसित साकार कृष्ण रूप है उसका मैं ध्यान कर उसी को अपने को सौंपता हूँ ।

वह कैसा है ?

१. साकार सृष्टि में चार वस्तुएँ सबसे अधिक आकर्षित करने वाली हैं—
सौन्दर्य ।
तेज ।
बल ।
गुण ।

२. उसके साकार स्वरूप का सुन्दर वर्णन—
कन्दर्प कोटि लावण्य
चन्द्र कोटिश्च शीतल: ।
रवि कोटि प्रतिक्काश:
वायु कोटि महाबल: ।।

३. उसके गुणों का सुन्दर वर्णन
असित गिरि निभंस्यात्
कज्जलं सिन्धु पात्रे ।
सुर तरुवर शाखा
लेखनी पत्री मूर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा
शारदा सर्व कालं ।
तदपि तवगुणानां
ईश पारं न याति ।

परन्तु अज्ञान के कारण साकार स्वरूप का वर्णन भी यथेष्ट नहीं अतः प्रत्यक्ष प्रतीक चाहिए । प्रतीक अपने कुल के मन्दिर में प्रतिष्ठित श्री गोपाल मूर्ति ।

उसे अपने को सौंपता हूँ ।

और जब तक नाम रूपात्मक शरीर है तब तक क्षण भर भी कर्म के बिना कोई नहीं रह सकता, सांस लेना तक कर्म है, अतः कर्म कौनसे चाहता हूँ ?

१. भक्ति

२. नाम रूपात्मक जगत् के प्रति कर्त्तव्यों का ठीक-ठीक निष्काम पालन ।

३. अन्त में उसकी प्राप्ति ।

लेखक द्वारा समस्त कौटुम्बिक सम्पति का त्याग-पत्र

पूज्य पिताजी,

मैं जिस प्रधान कारण से अपनी समस्त सम्पत्ति का यह त्याग-पत्र लिख रहा हूँ वह आपका ता० २१ जुलाई का पत्र है । उस पत्र के प्रत्येक वाक्य और शब्द, एवं गत बारह वर्ष के अपने जीवन, और इस जीवन में आपका और मेरा जिस प्रकार का सम्बन्ध रहा है, उस सब पर विचार करने के उपरान्त मैं इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ । आपका पत्र यद्यपि बहुत बड़ा है तथापि उसे मैं इस त्याग-पत्र में अक्षरशः उद्धृत करना उचित समझता हूँ, क्योंकि उसका उत्तर भी मैं इसी त्याग-पत्र के द्वारा ही देना चाहता हूँ ।

पूज्य पिताजी का पत्र

चिरंजीव बाबू गोविन्ददास,

आसीस ।

तुम्हारे जेल से छूट कर आने से मुझे, तुम्हारी माँ और सौ० बींदनी को कितनी खुशी हुई इसे तुम खुद जान सकते हो । सौभाग्यवती बींदनी की सख्त बीमारी के सबब हम सब ही इस वक्त चिन्ता में हैं । भगवान जाने उसकी बीमारी किस तरह अच्छी होती है, पर ऐसी हालत में भी तुम्हारी अजीब हालत

है। तुम आये तो बीमारी में हो और इस बीमारी में तुम मन्दिर में ठहरे हो और मन्दिर में ठहर कर सुना है अपने किसानों को इसलिए बुलाया है कि उनसे पूछो कि वसूली में उनको कोई तकलीफ तो नहीं दी गयी। किसानों की फिक्र जरूर वाजिब है और तुम जानते हो कि पूज्य राजा साहब के स्वर्गवास के बाद मैंने किसानों पर जो कर्ज था उसमें से सोलह लाख रुपया छोड़ा है। लेकिन कुछ किसान इतने खुदगर्ज और मतलबी होते हैं कि रुपया रहते हुए भी नहीं देते, इसका भी मुझे गये पच्चीस बरस का अनुभव है। फिर सौ० बींदनी की इस सख्त बीमारी के वक्त किसानों को इस तरह से बुलाना यह ज्यादती की हद है। ऐसे वक्त भी तुम्हारी इन सब हरकतों के सबब मुझे रंज के साथ दिल खोलकर कुछ बातें तुमसे साफ-साफ कह देना जरूरी मालूम होता है। तुम इस बात से बुरा न मानना। मेरे और तुम्हारी माँ के इस संसार में थोड़े ही दिन बाकी हैं। हम लोग इस संसार से कब चल बसें इसका कोई भरोसा नहीं। पर हम लोग इतने विरक्त नहीं हो गये हैं कि बुढ़ापे में भी अपनी घरू बातों की तरफ खयाल न कर श्री ठाकुरजी की सेवा में बाकी उम्र बिता दें। हम लोगों की यह मंशा थी कि तुम खुद घर को सँभालते और हमारा बुढ़ापे में छुटकारा करते पर तुम घर की तरफ बिलकुल ध्यान नहीं देते। गये दस-ग्यारह सालों में जो कुछ तुम करते रहे हो, और उससे जो कुछ नुकसान पहुँचे हैं, उनकी बाबत भी मैं कुछ बातें साफ कह देना चाहता हूँ।

नान-को-आपरेशन के शुरू होते ही तुमने अपना सारा वक्त राजनैतिक कामों में लगा दिया, तुम्हें घर का कुछ खयाल नहीं। तुम्हारा कदम आगे बढ़ता ही चला जा रहा है, तुम्हारी इन हरकतों से मेरी छोटी समझ में सिवा नुकसान के कुछ फायदा नजर नहीं आता। तुम्हारी वाह-वाह जरूर हुई लेकिन वाह-वाह करने वालों को इस बात का खयाल क्योंकर हो सकता है कि इससे तुम्हारे घर को कितना नुकसान पहुँच रहा है। घर ही बिगड़ गया तो तुम कहाँ के होगे, और तुम्हारे वाह-वाह करने वाले साथी क्या तुम्हारा साथ देवेंगे ? ये सब तुम्हारे धन के साथी हैं, तुम्हारे पास जब धन न रहेगा तो ये सब तुम्हारा कब साथ देने लगे ? शहद जब तक है तभी तक मक्खियाँ भिनभिनाती हैं, खतम हो जाने पर उड़ जाती हैं, इसका अनुभव तुमको भी होगा और तभी

मेरे कहने की सत्यता मालूम होगी।

अब देखो, गये १०-११ सालों के नुकसानों को—

१. तुम्हारा नान-को-आपरेशन में शामिल होने व इस वक्त सिविल डिसो बिडियन्स आन्दोलन में शामिल होने से जिसके कारण तुम्हें दो दफे जेल में जाना पड़ा, सरकारी अफसरों की अपने घर पर नाराजी हो गयी, जो मदद हमेशा उनसे मिलती थी वह बन्द हो गयी और आगे भी अफसरों से किसी तरह की मदद और हमदर्दी की उम्मीद नहीं हो सकती।

२. इतना ही नहीं हुआ कि सरकारी अफसरों की मदद न मिले, पर नीचे लिखे नुकसान और हुए, जो तुम कहते हो कि तुम्हारे सिद्धान्तों के आगे नहीं के बराबर हैं। पर मैं तो उन्हें बहुत बड़े नुकसान समझता हूँ और साथ ही राजनीति से रोजगार-धन्धों को नुकसान पहुँचाया जावे इस उसूल के सख्त खिलाफ हूँ—

(क) तुमने सन् १९२१ में कलकत्ते की अपनी दूकान में जो विलायती कपड़े का काम गिलेंडर अरबथनाट कम्पनी सरीखी बड़ी भारी कम्पनी के बैनियनशिप की हैसियत से करीब बीस साल से हो रहा था उसे छुड़वा दिया, जिससे करीब एक लाख रुपये साल की आमदनी का नुकसान हुआ। उस वक्त कलकत्ते में किसी ने भी विलायती कपड़े का रोजगार नहीं छोड़ा था, बल्कि हमारे छोड़ने पर उसी काम को दूसरे हिन्दुस्तानियों ने ले लिया। हम लोगों को फिजूल के लिए नुकसान, और वह भी सालाना के लिए अच्छी आमदनी का नुकसान, उठाना पड़ा।

(ख) सन् १९२१ से तुमने अपने नाम के गाँवों के किसानों पर जो मुकदमे चल रहे थे उन्हें उठा लिया। सन् १९२४ तक तुमने नये मुकदमे भी दायर नहीं किये। नतीजा यह हुआ कि करीब डेढ़ लाख रुपया बेरून म्याद हो गया और किसान सिरजोर हो गये।

(ग) सन् १९२४ से १९२९ तक गनीमत रही पर सन् १९३० के शुरू से ही फिर आफत शुरू हुई। तुम दो साल को जेल तो गये ही, जिससे इस बुढ़ापे में तुम्हारे माँ-बाप कितने बेचैन रहे वह हम लोगों का जी जानता है। पर इतना ही नहीं हुआ, सन् १९३१ के मार्च में जेल से लौटते ही तुमने

किसानों से ऐसी हमदर्दी बताना शुरू किया कि सन् १९३१ की रबी की फसल की वसूली नहीं के बराबर हुई, क्योंकि बिना मुस्तैदी दिखाये वसूली हो ही नहीं सकती और मुस्तैदी दिखाना तो दूर रहा तुमने किसानों को यह कह कर कि मालगुजार किसानों के सेवक हैं, किसानों को और सिरजोर बना दिया।

(घ) बिना वसूली के घर से जमा सरकारी पटा देने के लिए कहा गया, पर उस पर भी तुम राजी न हुए, नतीजा यह हुआ कि जिस कुड़की का सपना भी राजा गोकुलदास के महल में न देखा जा सकता था वह कुड़की हुई और चाँदी की बग्घी और लेण्डोकार कुड़क हुईं जिसमें अजहद बदनामी हुई।

(ङ) सन् १९३२ की जनवरी में तुम फिर एक साल को जेल चले गये, और जेल जाते वक्त यह कह गये कि अगर ज़ुर्माना हो तो चाहे कितने ही की जायदाद नीलाम हो जाय, पर वह हर्गिज न पटाया जाय। तुम्हारी नाराजी के डर से जुर्माना नहीं पटाया गया और फिर कुड़की हुई। वह तो किसी शुभचिन्तक ने ज़ुर्माना पटा दिया नहीं तो दो हजार के जुर्माने में न जाने कितने की जायदाद नीलाम हो जाती।

(च) सन् १९३२ में जेल जाने के पहले जब तुम चार दिन तक तिलक भूमि पर लगातार बैठे थे, उस समय तुमने अपने गाँवों के एक-एक किसान को बुलाकर कहा कि कोई लगान न पटाये। यहाँ तक कि अगर हमारे पिताजी खुद जाकर माँगें तो भी न देवे। और तो सबने अपना-अपना लगान किसी सूरत से वसूल कर ही लिया, पर तुम्हारे इस कहने के सबब से मुझे वसूली में जो-जो दिक्कतें उठानी पड़ीं, मेरा जी ही जानता है। मुझे खुद जेठ की बरसती हुई आगी में वसूली के लिए गाँव-गाँव भटकना पड़ा है और तब भी अब तक न जाने कितनी वसूली बाकी है।

अब जेल से छूटकर तुम सन्दिर में ठहरे हो, और सुना है कि इसका सबब यह बताते हो कि तुमने जेल जाते हुए यह प्रण किया था कि अगर मेरे घर से पिताजी जमा पटा देंगे तो मैं घर में न रहूँगा। साथ ही जैसा ऊपर लिखा है यह भी सुना है कि तुमने किसानों को बुलाया है जिससे बहुत बड़े नुकसान हो

जाने की सम्भावना है ।

सौ० बींदनी की ऐसी सख्त बीमारी के वक्त अपने वाहियात प्रणों के सबब घर में न रहने से तुम्हारे सुधार की मेरी जो थोड़ी-बहुत उम्मीद थी वह भी मिट गयी और मुझे अपने घर का भविष्य ठीक नहीं मालूम होता । तुम अपने पक्ष को धर्म, न्याय और सत्य का पक्ष कहते हो । तुम्हारा पक्ष कैसा ही हो कम से कम मैं यह मानता हूँ कि तुम झूठ नहीं बोलते अधर्म और अन्याय से दूर रहते हो । इसीलिए मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ और मुझे यकीन है कि अपने स्वभाव के मुताबिक तुम इसका सच्चा धर्म और न्याय का जवाब दोगे । सवाल यह है कि जिस जायदाद को तुम इस तरह नुकसान पहुँचा रहे हो वह क्या तुम्हारी कमाई हुई है, या अकेली तुम्हारी है ? यह जायदाद तुम्हारे पुरखों ने कमाई है और खानदानी है, मेरे और तुम्हारी माँ के दिन अब जाने के हैं, सौभाग्यवती बींदनी की तबियत का यह हाल है, और तुम्हारी हरकतों से अब मुझे यकीन हो गया है कि जब हम लोगों के बैठे यह हाल है तब हमारे बाद यह घर चौपट हुए बिना न रहेगा । बाप-दादों की कमाई हुई जायदाद पर पानी फेरना यह मुझसे तो न हो सकेगा । तुम्हें अपने बाल-बच्चों और स्त्री का खयाल न हो, परन्तु मुझे तो करना होगा और दुनिया के सामने भी भविष्य का खयाल करते हुए मुझे तो अबोध बालकों की रक्षा के लिए कुछ न कुछ इन्तजाम भी करना ही होगा । हर तरह से नाउम्मीद होकर मुझे इसका एक ही तरीका जान पड़ता है वह यह कि खानदानी जायदाद के हमारे-तुम्हारे बीच मुनासिब बटवारा हो जाय, जिससे कम से कम मेरे हिस्से की जायदाद तो खानदान के लिए बच जावे ।

तुमसे ज्यादा प्यारा मेरे लिए कोई नहीं, एक लड़की थी वह भी चली गयी, पर मूल से ब्याज प्यारा होता है । जब तुम्हें बच्चों का खयाल नहीं तो मुझे तो करना ही होगा । उम्मीद है तुम मेरे लिखने पर बुरा न मानोगे, क्योंकि मैंने एक भी बात झूठ नहीं लिखी और कम से कम इस बटवारे के प्रस्ताव को मुनासिब समझोगे । मेरे इस आखिरी वक्त में कुछ तो शान्ति पहुँचाओ यही मेरी तुमसे आखिरी माँग है । आशा है जब तुम दुनिया को शान्ति पहुँचाने की कोशिश में हो तो अपने बूढ़े बाप की शान्ति की तरफ जरूर

ध्यान दोगे और सुपुत्र के नाते से मेरी माँग को पूरी करोगे।

सौभाग्यवती बींदनी की बीमारी के वक्त मैं यह चिट्ठी में न लिखता पर ऐसे वक्त में भी जब तुम घर में आकर नहीं रहे और मेरे और तुम्हारी माँ तथा सौभाग्यवती बींदनी तथा घर के सब शुभचिन्तकों के लगातार समझाने पर भी जब तुमने घर में रहने से साफ-साफ इंकार कर दिया तथा किसानों को बुलाना नहीं रोका तब इस चिट्ठी को लिखना ही पड़ा। अब मैं चाहता हूँ कि यह मामला बगैर देरी के तय हो जावे।

तुम्हारा दुखी और व्यथित हृदय पिता
जीवनदास

मेरा विनीत उत्तर

अपनी बहू की अत्यधिक अस्वस्थता पर भी मेरा मन्दिर में ठहरना आप अपने उपर्युक्त पत्र का तात्कालिक कारण बताते हैं, किन्तु आप यह नहीं सोचते कि मेरे मन्दिर में ठहरने का कारण क्या है। जिस समय आपने, जो यथार्थ में ही लगान दे सकने में असमर्थ थे, उन गरीब किसानों से लगान वसूल किया और सरकारी जमा पटाई उस समय क्या आप यह सोचते थे कि जो प्रतिज्ञा कर मैं जेल गया था, और जो आपको मालूम थी, उसे मैं जेल में, या जेल से निकलते ही, भूल जाऊँगा। वर्तमान सत्याग्रह आन्दोलन के आरम्भ होने के पूर्व महाकोशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने पाँच आदमियों की एक कृषि-समिति नियुक्त की थी। प्रान्तीय कमेटी के सभापति की हैसियत से मैं उस समिति का भी सभापति था, और मैंने जबलपुर, सागर और दमोह की देहातों में घूम-घूमकर देखा था कि बेचारे किसानों की कितनी दुर्दशा हो गयी है। जो किसान संसार के अन्नदाता हैं, जो संसार के लिए वस्त्रों के साधन उत्पन्न करते हैं उनकी भूख और नग्न अवस्था का मुझे ऐसा ज्ञान जैसा इस समिति के संग घूमने से हुआ, इसके पूर्व कभी नहीं हुआ था। मुझे उनके एक सेवक के नाते राजा गोकुलदासजी के आलीशान महलों में रहने और हर प्रकार के सुख भोगते रहने पर लज्जा और ग्लानि का अनुभव होता था। सत्याग्रह आन्दोलन

के आरम्भ होने के पूर्व इस कृषि-समिति की रिपोर्ट न निकल सकी, परन्तु हम लोग रिपोर्ट में जो सिफारिशें करना चाहते थे, उनका निर्णय हो चुका था और मैंने जेल जाते समय पूरी जिम्मेदारी के साथ इस बात को कहा था कि किसानों की इतनी बुरी स्थिति है कि वे लगान न दें और मालगुजार उनसे लगान वसूल न कर इसके परिणामों को भोगने के लिए तैयार हो जायँ। मैं अपने यहाँ की परिस्थिति को भी जानता था और आप क्या करेंगे इसकी भी कल्पना कर सकता था। मेरे गरीब किसानों को और दुःख न हो इसी उद्देश्य से मैंने यह बात कही थी कि यदि पिताजी किसानों से लगान वसूल कर सरकारी जमा पटा देंगे तो मैं राजा साहब के महल में न रहूँगा। यह कैसे सम्भव था कि मैं दूसरों के किसानों को तो लगान देने की मनाई करूँ एवं दूसरे मालगुजारों से कहूँ कि वे जमा न दें, परन्तु जब मेरे पिता लगान वसूल कर जमा पटा दें तब यह कहने पर भी कि यदि पिताजी ने ऐसा किया तो मैं ऐसा करूँगा, चुपचाप आकर उसी आनन्द से महल में रहने लगूँ? इन दो सप्ताहों में कई मित्रों, और विद्वान् मित्रों, ने मुझे आकर इस सम्बन्ध में समझाया। सबका तर्क एक ही था कि लगान की वसूली और जमा का पटाना मेरे अधिकार के बाहर बात थी, अतः मेरा महल को लौटना अनुचित नहीं है, परन्तु इस बात को मानते हुए भी महल में जाकर रहना और यह समझना कि मैंने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया, मैं तो अपने आपको धोखा देना समझता हूँ। महल में रहने से आपकी इस कृति से सम्पत्ति को जो लाभ पहुँचा है उसको यदि मैं ग्रहण करता तो मैं भी झूठा हो जाता उस और कृति में प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो परोक्ष रूप से मेरा भी सहयोग हो जाता। इतना ही नहीं प्रतिज्ञा का तो स्पष्ट ही भंग होता। और जहाँ तक मुझे स्मरण है मैंने अभी तक तो किसी भी प्रतिज्ञा के भंग करने का साहस नहीं किया।

मैं यह भी जानता हूँ कि यदि आप मेरे मतानुसार लगान न वसूल करते और जमा न पटाते तो सम्पत्ति पर बड़ी भारी आपत्ति आ सकती थी, परन्तु जब तक कुछ लोग अपना सर्वस्व स्वाहा करने के लिए तैयार न हो जायँ तब तक देश का क्लेश भी मिटना सम्भव नहीं। मैंने यही सोचकर उसी भाषण में *जिसमें उपर्युक्त प्रण किया था और यह भी कहा था कि हमारे पूर्वज राजपूताने*

से इस प्रान्त में लोटा-डोरी लेकर आये थे। इसी प्रान्त में व्यापार आदि उद्योगों से वे करोड़पति हुए और देश की स्वाधीनता में इस प्रान्त द्वारा किये गये युद्ध के कारण स्वयं गरीबों के सुख के लिए हम लोगों का सर्वस्व जाकर फिर हमारी पूर्व की सी स्थिति हो जावे तो इससे अधिक आनन्द मुझे और किसी बात से न होगा। आपने गत १२ वर्षों से मेरी कृतियों से घर को जो हानियाँ पहुँचीं उनका, अपने पत्र में, ब्यौरेवार दिग्दर्शन कराया है। एक प्रकार से मुझ पर ये आक्षेप किये गये हैं।

नम्बर १ की हानि के विषय में किसी प्रकार की कैफियत देना निरर्थक है, परन्तु नम्बर २ में 'क' से लेकर 'च' तक के अभियोगों को मैं स्वीकृत करता हूँ और विनीत भाव से यह भी कह देना चाहता हूँ कि ये हानियाँ तो कुटुम्ब के लिए सम्मान की सामग्री हैं। यद्यपि इनसे कुटुम्ब को आर्थिक क्षति अवश्य पहुँची तथापि इनके पवित्र उद्देश्य को देखते हुए, एवं इनके पहले जिस-जिस प्रकार की आर्थिक हानियाँ हुई हैं उनको देखते हुए, ये थोड़ी-सी हानियाँ अधिक महत्त्व नहीं रखतीं। विगत हानियों का गिनाना मेरा उद्देश्य नहीं है।

अब मेरी अवस्था ३६ वर्ष की है और गत १८ साल से मैं बालिग हूँ। जब मैंने गत १८ वर्षों ही में आपने जो कुछ किया उस पर कुछ नहीं किया, न एक शब्द ही कहा, तो आज तो यह सर्वथा ही अनुचित होगा।

आपने अपने पत्र में मेरे साथियों पर जो आक्षेप किया है उसी ने मुझे सबसे अधिक दुःख पहुँचाया है। मेरा जिनका साथ है वह या तो प्रेम के कारण, या देश-सेवा के कारण। अन्त में आपने मुझे सत्यवादी और अन्याय एवं अधर्म से दूर रहने वाला बताया है। इस संसार में मेरे अल्पमतानुसार तो यदि किसी को सबसे अधिक प्रशंसा में कोई शब्द कहे जा सकते हैं तो वे ये ही हो सकते हैं, यद्यपि मैं अपने को इन विशेषणों के सर्वथा अयोग्य पाता हूँ। फिर भी जिस प्रश्न का आपने मुझसे उत्तर माँगा है वह मैं अवश्य सचाई से देने का उद्योग करता हूँ और इसीलिए यह त्याग-पत्र लिख रहा हूँ। मैं मानता हूँ कि यह सम्पत्ति न तो मेरी कमाई हुई है और न मेरी अकेले की है, परन्तु इतना *अवश्य है कि जब तक मुझे उससे लाभ पहुँचता है तब तक जिन बेचारे गरीबों की मैं थोड़ी-बहुत सेवा करने का प्रयत्न करता हूँ, और जिनका मैं अपने को*

एक तुच्छ सेवक समझता हूँ, उनको कष्ट दिया जाय यह तो सहन करना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

आप बटवारा चाहते हैं। पिता-पुत्र का बटवारा कैसा ? मैंने अपने सार्वजनिक सेवा के पथ में जिसे मैं, अपना धर्म समझता रहा हूँ, आपकी आज्ञा का कभी पालन नहीं किया। इस सम्बन्ध में सदा श्री प्रह्लाद का आदर्श मेरे सम्मुख रहा है, परन्तु आज तो इस बटवारे में मेरे व्यक्तिगत लाभ का प्रश्न उपस्थित है, अत: आज तो मेरे सामने भगवान रामचन्द्र का उदाहरण है। उन्होंने पिताजी की आज्ञा से सारे भारतवर्ष का साम्राज्य छोड़ दिया था, फिर यह तो एक छोटी-सी सम्पत्ति का प्रश्न है।

मैंने अपने को सदा एक तुच्छ व्यक्ति माना है। पर फिर भी मेरे सम्मुख आदर्श सदा ही उच्च रहे हैं। आदर्श, आदर्श ही रहते हैं और उन तक पहुँचने में जिस साहस एवं त्याग की आवश्यकता होती है वह मेरे समान तुच्छ मनुष्य में कहाँ ? फिर भी 'महाजनो येन गत: सपन्थ:' के अनुसार उचित मार्ग तो वही रहता है जिस पर महापुरुष चले हैं।

मैं जानता हूँ इस ३६ साल की अवस्था तक मैं राजा गोकुलदासजी के महलों में रहा हूँ। जितना अधिक से अधिक आधिभौतिक सुख इस देश के किसी भी मनुष्य को प्राप्त हो सकता है उतना मुझे प्राप्त रहा है। मैं यह भी जानता हूँ कि इस त्याग-पत्र के पश्चात् का शेष जीवन कदाचित् इससे विपरीत ही होगा। पर यह सम्पत्ति मैंने तो कमाई नहीं है। इसको कायम रखने के लिए ग़रीबों पर होने वाले अत्याचारों को रोकने में भी मैं असमर्थ हूँ। अत: मैं मेरे स्वर्गवासी पितामह पूज्य राजा गोकुलदासजी के पश्चात् जो कुछ सम्पत्ति आपको या मुझे प्राप्त हुई हो उस सम्पत्ति के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र के अनुसार जो कुछ मेरे सत्त्व हों उन सत्त्वों का परित्याग कर आप घर के मुख्य कर्त्ता होने के कारण आप ही के चरणों में सारी सम्पत्ति को और मेरे सब सत्त्वों को समर्पित कर मैं इससे अलग होता हूँ। बटवारे का आधा भाग तो दूर रहा मुझे इसके किसी भी अंश की आवश्यकता नहीं है।

आपने मेरे प्रति अपने पत्र में प्रेम भी प्रदर्शित किया है और मैं भी आपको आश्वासन देना चाहता हूँ कि इस त्याग-पत्र के पश्चात् भी पुत्र के नाते

मेरे आपके प्रति जो कर्त्तव्य हैं उन्हें मैं श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से ही पालन करूँगा।

यह त्याग-पत्र मैं किसी प्रकार के आवेश में आकर या क्रोधवश नहीं लिख रहा हूँ, वरन् बड़े हर्ष के साथ लिख रहा हूँ। हाँ, इतना खेद मुझे अवश्य है कि आपने अपना पत्र आपकी बहू की इतनी अस्वस्थ अवस्था रहते हुए भी लिखा। यदि कुछ समय पश्चात् आप यह प्रश्न उठाते तो उचित होता। खैर, भगवान इस अवसर पर भी कदाचित् मेरी यह परीक्षा ही लेना चाहते हैं। आपका पत्र लगातार दस दिनों तक मेरी दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न रहा है। आपकी बहू की इस अस्वस्थता की अवस्था में भी मैं इन दिनों में अधिकतर आपके पत्र, और उस पर मुझे क्या करना चाहिए, इसी पर विचार करता रहा और बहुत सोचने-विचारने के पश्चात् मैं इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ कि इस सारी सम्पत्ति को आपके चरणों पर समर्पित करने से अधिक अच्छा मार्ग मेरे धर्म और कर्तव्य के रक्षार्थ दूसरा नहीं है।

आपका और मेरा यह मतभेद सन् १९२१ से ही चल रहा है, और इसके कारण इन ११, १२ वर्षों में एक बार नहीं, पर न जाने कितने बार घर में इस प्रकार का कलह मच चुका है, जो किसी प्रकार भी सुखप्रद नहीं हो सकता था। आशा है इसके पश्चात् हम लोगों का परस्पर सम्बन्ध अब तक की अपेक्षा कहीं अधिक प्रेमपूर्ण रहेगा।

आपका पुत्र
गोविन्ददास
ता० ४ अगस्त सन् १९३२

गवाह—वी० आर० सेन, वकील
गवाह—लक्ष्मणसिंह चौहान, वकील

लेखक द्वारा अपने कौटुम्बिक मन्दिर के ट्रस्टी पद से त्याग-पत्र

सेवा में

ट्रस्टीगण

श्री गोपाललालजी महाराज का मन्दिर, जबलपुर

महानुभाव,

मैं अत्यन्त दुःख के साथ आपकी सेवा में अपने ट्रस्टी-पद से त्याग-पत्र उपस्थित करता हूँ। आपने ता० ३ जुलाई को मन्दिर में हरिजन-प्रवेश के सम्बन्ध में अपना जो निर्णय किया है उसके कारण इस पद से त्याग-पत्र देने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग मेरे लिए नहीं रहा।

मन्दिर से मेरा जो सम्बन्ध रहा है वह आप में से किसी भी ट्रस्टी का नहीं। आज मुझे अपने इस सम्बन्ध की न जाने कितनी घटनाएँ स्मरण आ रही हैं। मुझे वह समय याद आ रहा है जब पूज्य राजा गोकुलदासजी मुझे गोद में लेकर अनेक उत्सवों में श्री गोपाललालजी की आरती उतारा करते थे। यह होने लगा था उस समय से जब मैं केवल तीन या साढ़े तीन वर्ष का बालक था। मैं गोपाल सेवा के भिन्न-भिन्न कार्यक्रमों से अनभिज्ञ न रहूँ इसका उसी समय से राजा साहब ने प्रयत्न किया और उनके देहावसान के समय यद्यपि मेरी अवस्था बारह वर्ष की ही थी तथापि मन्दिर की न कोई ऐसी नित्य की सेवा थी और न कोई उत्सव की ही, जिसका मैं सारा ज्ञान न रखता होऊँ। अनेक बार नित्य की सेवा तथा हर एक उत्सव में और वल्लभकुल सम्प्रदाय में जो 'मनोरथ' होते हैं उन 'मनोरथों' में मैं मन्दिर में स्नान करता। ग्रीष्म ऋतु की फूल मण्डलियों का एक-एक पुष्प उन मण्डलियों में मैं किस प्रकार लगाता और लगवाता, श्रावण में जो अनेक प्रकार के झूले बनते हैं उन्हें मैं किस प्रकार बनाता और बनवाता, वसन्त पंचमी से फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा तक भिन्न-भिन्न प्रकार के पत्र-पुष्प के बगीचों और कुञ्जों में जो रंग-गुलाल के खेल होते हैं उनमें मेरा कितना हाथ रहता और आश्विन कृष्ण-पक्ष की प्रतिपदा से अमावस्या तक जो रंग-बिरंगी साँझियाँ बनती हैं उनमें भी मेरा कितना भाग रहता यह मुझे आज तक जितना स्मरण आ रहा है उतना इसके पूर्व कभी न आया था। लगभग तीस वर्ष पूर्व जब पूज्य पिताजी ने श्री गोपालजी

को गोपाल बाग पधराया था और वहाँ छप्पन-भोग का उत्सव हुआ तब, तथा उसके पश्चात् हर तीसरे वर्ष जब अधिक मास आता है, उस समय वर्ष भर के सारे उत्सव मनोरथों के रूप में होते हैं तब, सारी सेवा में अब तक मेरा ही प्रधान हाथ रहा है और इन सब घटनाओं के भी आज मुझे जितने स्मरण आ रहे हैं उतने इसके पहले कभी नहीं आये।

अपनी तीन-चार वर्ष की अवस्था के अधूरे और तदुपरान्त पूरे होश में मैं सदा ही एक आस्तिक वैष्णव रहा हूँ। वैष्णवता मुझे अपने कुटुम्ब की परंपरा से प्राप्त हुई। जब मेरा नाम-संस्करण हुआ उसी दिन मुझे वल्लभकुल सम्प्रदाय की दीक्षा दे दी गयी थी और बाल्यावस्था के संस्कारों तथा मन्दिर की सेवा ने यद्यपि मेरी आस्तिकता बढ़ाने और उसे स्थित रखने में सहायता पहुँचायी, परन्तु अब मुझ में जो आस्तिकता है वह केवल संस्कारों और मन्दिर की सेवा के कारण नहीं। जटिल विषयों को समझने के लिए बुद्धि के कुछ परिपक्व होते ही मेरा ध्यान भारतीय दर्शन की ओर आकर्षित हुआ और मैंने इस विषय का थोड़ा-बहुत अध्ययन भी किया। इसी सिलसिले में मुझे श्री वल्लभाचार्यजी के शुद्धाद्वैत सिद्धान्त, उनकी साकार-बाल-सेवा-पद्धति का भी अध्ययन करने का अवसर मिला। मेरा मत है कि पुष्टि मार्ग से अधिक सुन्दर और सुगम मार्ग भगवद् प्राप्ति का अन्य कोई नहीं।

श्री वल्लभाचार्यजी की उदारता भी इतिहास प्रसिद्ध है। उनसे पहले किसी भी आचार्य ने वैश्यों, शूद्रों और स्त्रियों को ब्राह्मणों और क्षत्रियों के समान ही दीक्षा नहीं दी थी। कई मुसलमान भी वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे। श्री वल्लभाचार्यजी के समय ब्रजमण्डल के गोवर्धन पर्वत पर जब श्रीनाथजी का प्राकट्य हुआ उस समय श्रीनाथजी के दर्शन सब वर्णों को हुए होंगे इसमें सन्देह ही नहीं हो सकता, क्योंकि जिस स्थान से श्रीनाथजी का प्राकट्य हुआ वह स्थान ही ऐसा है जहाँ न कोई मन्दिर है और न दीवार। उस स्थान पर गोवर्धन पर्वत भी इतना ऊँचा नहीं कि पर्वत के नीचे खड़े होने वालों को श्रीनाथजी के दर्शन न होते। मैंने उस स्थान को देखा है और चुनौती देता हूँ उस व्यक्ति को जो यह सिद्ध कर सके कि श्रीनाथजी के प्राकट्य के समय श्रीनाथजी के दर्शन के लिए कोई भी रोका जा सकता था। मोहन भंगी

के कन्धे पर चढ़कर श्रीनाथजी घूमते थे, यह श्रीनाथजी की कथाओं में एक कथा है। ग्रहण के समय आज भी श्रीनाथजी के दर्शन मुसलमानों तक को होते हैं।

यह सारी सृष्टि ईश्वरमय है, ईश्वर का घट-घट में वास है, कुछ भी ईश्वर से रहित नहीं, यह हिन्दू धर्म मानता और कहता है। अस्पृश्यता मैं हिन्दू धर्म और समाज के लिए कलंक की वस्तु मानता हूँ। वल्लभ-कुल-सम्प्रदाय का वैष्णव होते हुए भी अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन आरम्भ होने के पश्चात् सामाजिक या व्यक्तिगत किसी भी जीवन में मैंने अस्पृश्यता को कोई भी स्थान नहीं दिया। गत वर्ष पूज्य पिताजी की मृत्यु के पश्चात् मैं अपने कुटुम्ब की दो संस्थाओं का ट्रस्टी हुआ था—श्री गोपाललालजी के मन्दिर का और खण्डवे की मेरी पूज्य माताजी के नाम की धर्मशाला का। खण्डवे की इस धर्मशाला में एक मन्दिर है। इसकी प्रतिष्ठा होना है। मेरे ट्रस्टी होने के पश्चात् इस धर्मशाला के ट्रस्टियों की जो बैठक ता० १८-१०-४६ को हुई उसमें मैंने ही तय कराया कि यह मन्दिर समस्त वर्णों के लिए खुला रहेगा। श्री गोपाललालजी का मन्दिर भी मैं सब वर्णों के लिए खुलवा सकूँगा, मन्दिर के ट्रस्टी होते समय मैंने यह आशा की थी।

ता० १८ मार्च को आपके सामने जब मैंने श्री गोपाललालजी के मन्दिर में हरिजनों को प्रवेश करने का अधिकार देने का प्रस्ताव रखा तब मुझे आशा थी कि आप उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेंगे। आपने जो प्रस्ताव उस दिन पास किया उस पर भी मेरी आशा का सर्वथा नाश नहीं हुआ था, बनारस और बम्बई के उत्तरों पर भी नहीं, क्योंकि यह मन्दिर वल्लभकुल सम्प्रदाय का अनुयायी होते हुए भी इसके ट्रस्टियों को अधिकार था कि वे इसे हरिजनों के लिए खोल देते। पर आपके गत ३ जुलाई के प्रस्ताव से मेरी आशा निराशा में परिणत हो गयी। आपने कानूनी राय लेकर जो यह तय किया कि यह मन्दिर पब्लिक मन्दिर न होकर प्राइवेट मन्दिर है, इस पर मुझे कुछ नहीं कहना है, क्योंकि मैं कानूनदाँ नहीं। मैं तो इस विषय को नैतिक और धार्मिक दृष्टि से देखता हूँ। अतः, ट्रस्टी-पद से स्तीफा देकर मन्दिर को हरिजनों के लिए खुलवाने के अन्य उचित उपायों में सहायता देने के सिवा अब मेरे लिए

अन्य कोई रास्ता नहीं।

अपने पूर्वजों में से मैंने अपने पितामह और पितामही, पिता और माता के दर्शन किये हैं, उनके साथ वर्षों रहा हूँ। प्रपितामह और वृद्ध पितामह के चरितों को पितामह के मुख से सुना है। ये सभी परमभगवदीय हुए। गत वर्ष वैशाख शुक्ल पक्ष की मोहनी एकादशी को पूज्य पिताजी ने किस प्रकार भगवद्‌भजन करते हुए भगवद्‌गति प्राप्ति की यह मैं देख चुका हूँ। जिन श्री गोपाललालजी के चरणों की भक्ति से ये सब पुण्यात्मा तर गये हैं उन्हीं के मन्दिर का ट्रस्टी होकर मैं भी तरण की आशा रखता था, परन्तु देखता हूँ कि कम से कम आज ट्रस्टी की हैसियत से मेरा वह सहारा जा रहा है।

विद्यार्थी-जीवन को समाप्त करते ही मैं कांग्रेस का अनुयायी हो गया। कांग्रेस ने अब तक जो कुछ किया उसे केवल कांग्रेस के एक सदस्य की हैसियत के कारण ही नहीं पर व्यक्तिगत रूप से भी मैं ठीक मानता रहा हूँ। कलकत्ते में जिस विलायती कपड़े के व्यापार से हमारी कलकत्ते की दूकान को लगभग एक लाख सालाना की आमदनी थी उसे सन् १९२१ में मैंने पूज्य पिताजी से छुड़वाया। सन् १९२० से १९२३ तक सरकारी अदालतों में नालिशें न करने के कारण जो गाँव मेरे नाम थे उनमें कई लाख डूब गये। सन् १९३२ में तो मुझे सारी कौटुम्बिक सम्पत्ति से त्याग-पत्र देना पड़ा। जिस पथ के अनुसरण का सन् १९२० में मैंने निर्णय किया था उस पर चलते हुए इन सत्ताइस वर्षों में मुझे न जाने क्या-क्या करना पड़ा है। पर आज मुझे जो कुछ करना पड़ रहा है उससे मेरे केवल इहलोक के जीवन से सम्बन्ध न होकर परलोक के जीवन से भी सम्बन्ध है ; ऐसे परलोक से जिसका अस्तित्त्व मैं एक आस्तिक वैष्णव होने के कारण मानता हूँ। अतः अन्यों और आप ट्रस्टियों के लिए मेरा यह स्तीफा चाहे साधारण सी घटना हो, पर मेरे लिए यह घटना अब तक के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है।

जबलपुर आपका

७ जुलाई १९४७ गोविन्ददास

राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद् के अभ्यागतों की सूची

१. श्री महाकवि बल्लातोल (मलयालय)
२. श्री वी० कामकृष्णैया (तेलगू)
३. श्री जी० वी० सुब्बाराव (तेलगू)
४. श्री आर० सुब्बाराव (तेलगू)
५. श्री आर० वी० पोदुवल (मलयालम)
६. श्री एन० नागप्पा (कन्हड़)
७. श्री एल० ईदुवगोपालसिंह (मणिपुरी)
८. श्री डॉ० अमरनाथ झा (हिन्दी)
९. श्री बलभद्रप्रसाद मिश्र (हिन्दी)
१०. श्रा भदन्त आनन्द कौसल्यायन (हिन्दी)
११. श्री क्षेमेशचन्द्र चट्टोपाध्याय (बंगला)
१२. श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या (बंगला)
१३. श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी (हिन्दी)
१४. श्री सूर्य विक्रम गेमाली (दार्जिलिंगी)
१५. श्री के० ऐ० नीलकण्ठ शास्त्री (तमिल)
१६. श्री स्वामी अमृतानन्दजी (दार्जिलिंगी)
१७. श्री नीलमणि फूकन (असमी)
१८. श्री एस० डी० सातवलेकर (संस्कृत)
१९. श्री जी० आई० सौमौयाजी (तेलगू)
२०. श्री जगद्धर जादू (काश्मीरी)
२१. श्री सर्वदानन्द शास्त्री (काश्मीरी)
२२. श्री डॉ० कुन्हनराजा (मलयालम)
२३. श्री वी० राघवन (तमिल)
२४. श्री पी० गोडावर्मा (मलयालम)
२५. श्री चन्डहासन (मलयालम)
२६. श्रीमती कमलाबाई किबे (मराठी)
२७. श्री मुहम्मद हाफिज सैयद (उर्दू)

२८. श्री सजनी कान्तदास (बंगला)
२९. श्री एन० एन० गोडबोले (मराठी)
३०. श्री आर्तवल्लभ महन्ती (उड़िया)
३१. श्री राहुलजी (संस्कृत)

राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद् के प्रस्ताव

ALL INDIA NATIONAL LANGUAGE CONVENTION

The Resolutions

I. This Convention of scholars of the chief languages of the Indian Union assembled in New Delhi resolves that Hindi with Devanagri as its character be adopted in the Constitution of India as the Rashtra Bhasha of the Union of India.

II. This Convention further resolves

1. That the dignity of the nation demands that in the international sphere the use of Hindi in place of English shall begin immediately, that for central and inter-provincial purposes Hindi shall displace English by gradual degrees but progressively and that the maximum period for this displacement shall be ten years.

2. That the States of the Union shall be free to use regional languages for all purposes within the state.

3. That in the educational system of all provinces the teaching of two Indian languages (*i.e* , the regional language and the national language or in the case of Hindi speaking provinces the national language and another provincial language) shall be made compulsory.

III. This Convention also resolves that Sanskrit shall be used by the Union for all decorative purposes, such as mottoes, titles and the like.

सन् १९५० में कामनवैल्थ पार्लियामेन्ट की परिषद् का न्यूजीलैंड देश में जो अधिवेशन हुआ उसमें भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व लेखक को सौंपा गया था। उस परिषद् में लेखक के जो भाषण हुए उनकी काफी चर्चा हुई। लेखक के भाषण किस कोटि के थे इसका आभास आस्ट्रेलिया के प्रतिनिधिमण्डल के नेता श्री हैरोल्ड होल्ट (Harold Holt) के भाषण के कुछ अंश से हो जाता है जो अंश नीचे दिया जा रहा है।

"I will deal first, therefore, with the speech so vigorously, clearly and eloquently presented by Seth Govind Das of India and I may say, sir, that it is with some surprise that I find it necessary for me to deal in so much detail with the issue which Seth Govind Das has raised. Had I known that it would exercise so much topical interest in this room I would have endeavoured to find sometime to put the Australian point of view on it earlier today—even at the cost of what appeared to be valuable material to place before the Conference—but I was misled."

परिशिष्ट ३

स्वतन्त्रता संग्राम में महाकोशल और महाकोशल के निकटवर्ती स्थानों के जिन-जिन राजनैतिक नेताओं और प्रमुख कार्यकर्त्ताओं से लेखक का सम्बन्ध रहा, उनकी नामावली—

जबलपुर—श्री नाथूरामजी मोदी, श्री ज्ञानचन्द्रजी वर्मा, श्री श्यामसुन्दरजी भार्गव, श्री ताजुद्दीन सा०, तपस्वी सुन्दरलालजी, श्री बद्रीनाथजी दुबे, श्री देवीप्रसादजी शुक्ल 'नीमपत्ती', श्री नरसिंहदासजी अग्रवाल, श्री लक्ष्मणसिंहजी चौहान, श्रीमती सुभद्राकुमारीजी चौहान, पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र, श्री महाराजदीनजी मिश्र, श्री सूरजप्रसादजी शर्मा, श्री काशीप्रसादजी पाण्डे, श्री देवीप्रसादजी श्रीवास्तव, श्री हरप्रसादजी पाण्डे, श्री हनुमन्तरावजी, श्री गोविन्दप्रसादजी खंपरिया, श्री ईश्वरीप्रसादजी खंपरिया, श्री पूरनचन्दजी शर्मा, श्री कुंजीलालजी स्वर्णकार, ठाकुर रणदमनसिंहजी, श्री ब्रजबिहारीजी पाण्डे, श्री कुंजबिहारीजी अग्निहोत्री, श्री भैय्यालालजी जैन, श्री कवठेकरजी वैद्य, श्री यदुनन्दनप्रसादजी उपाध्याय, श्री रामावतारजी तिवारी, श्री बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, श्री लक्ष्मीप्रसादजी पाठक, श्री राधिकाप्रसादजी पाठक, श्री लक्ष्मीशंकरजी भट्ट, श्री भवानीप्रसादजी तिवारी, श्री गुलाबचन्दजी गुप्त, श्री सवाईमलजी जैन, श्री गणेशप्रसादजी नायक, श्री गोविन्दप्रसादजी तिवारी, श्री बद्रीनाथजी गुप्त, श्री नर्मदाप्रसादजी सराफ, श्री हरिहरजी व्यास, श्री कुंजीलालजी दुबे, व्यौहार राजेन्द्रसिंहजी, श्री शुभचन्दजी जैन, श्री हरचरणलालजी राफ, श्री चन्द्रिकाप्रसादजी त्रिपाठी, श्री शिवप्रसादजी दुबे, श्री बद्रीप्रसादजी श्रीवास्तव, श्री द्वारकादासजी भाटिया, श्री नाथूरामजी व्यास, श्री सीतारामजी यादव, श्री बाबा हीरालालजी।

सागर—श्री केशव रामचन्द्र खाण्डेकर, श्री शंभुदयालजी मिश्र, श्री विश्वनाथ रावजी देव, श्री गोविन्दरावजी लोकरस, श्री वासुदेवरावजी सूबेदार,

मौलवी चिरागुद्दीन सा०, श्री केदारनाथजी रोहण, डा० सप्रे, मास्टर बल्देवप्रसादजी, श्री स्वामी कृष्णानन्दजी, श्री ज्वालाप्रसादजी ज्योतिषी, सेठ गिरधारीलालजी, श्री अब्दुलगनी सा०, श्री पद्मनाभजी तैलंग, श्री श्रीकृष्णजी सेलट ।

दमोह—श्री दामोदररावजी श्रीखण्डे, श्री गोकुलचन्दजी सिंघई, श्री विश्वनाथ राव आपटे, श्री लक्ष्मीशंकरजी धगट, श्री रघुवरप्रसादजी मोदी, श्री प्रेमशंकरजी धगट, श्री भैय्यालालजी चौधरी, श्री हरिश्चन्द्रजी मारोठी, श्री कुंजबिहारीलालजी गुरू ।

सिवनी—श्री प्रभाकर ढुंढीराज जटार, श्री दुर्गाशंकरजी मेहता, श्री नारायणदासजी गुप्ता, श्री बिरधीचन्दजी गोयल ।

मंडला—श्री उमेशदत्तजी पाठक, श्री हरदयालजी अग्निहोत्री, श्री शंभुप्रसादजी मिश्र, श्री गिरिजाशंकरजी अग्निहोत्री, श्री शंकरलालजी पागल ।

होशंगाबाद—लाला अर्जुनसिंहजी, श्री चन्द्रगोपालजी मिश्र, श्री बेनीमाधवजी अवस्थी, ठाकुर गुलजारसिंहजी, श्री दादाभाई नाइक, श्री बहादुरखाँ सा०, श्री महेशदत्तजी मिश्र, श्री सैय्यद अहमद सा०, श्री मगनलालजी कोठारी, श्री शुकदेवप्रसादजी तिवारी, श्री रामदयालजी चतुर्वेदी, श्री नारायणसिंहजी जयवार, श्री राधाकृष्णजी अग्रवाल, श्री हरिप्रसादजी चतुर्वेदी, श्री हीरजी भाई, श्री मूलचन्दजी बामोरिया, श्री चम्पालालजी सोकल ।

नरसिंहपुर—श्री गयादत्तजी चौधरी, चौधरी दौलतसिंहजी, श्री मणिकलालजी कोचर, श्री शंकरलालजी चौधरी, श्री निरंजनसिंहजी, श्री रुद्रप्रतापसिंहजी, श्री श्यामसुन्दर नारायणजी मुशरान, श्री पुरुषोत्तमदासजी राठी ।

निमाड़—श्री माखनलालजी चतुर्वेदी, श्री कालूरामजी गंगराडे, श्री अब्दुलकादिर सिद्दीकी, श्री बाबूलालजी तिवारी, श्री भगवन्तरावजी मंडलोई, श्री रामचन्द्र भाई नागड़ा, श्री बाबा साहब मजूमदार, श्री मेघश्यामजी ।

छिन्दवाड़ा—श्री विश्वनाथरावजी सालपेकर, श्री उमाकान्त बलवन्त घाटे, श्री माँजरेकर, श्री ब्रजमोहनलालजी वर्मा, श्री प्यारेलालजी मिश्र, श्री अप्पाजी त्र्यंबक, श्री अर्जुनसिंहजी सिसौदिया, श्री श्यामाचरणजी सोनी ।

बैतूल—श्री बिहारीलालजी पटेल, श्री दीपचन्दजी गोठी, श्री लोखंडे,

श्री भैरोलालजी तातेड़ ।

रायपुर—श्री रविशंकरजी शुक्ल, श्री वामनरावजी लाखे, श्री थैंकर, श्री नथ्थूजी जगताप, श्री सुन्दरलालजी शर्मा, श्री नारायणरावजी मेघा, यती यतनलालजी, महंत लक्ष्मीनारायणदासजी, ठाकुर प्यारेलालसिंहजी, श्री लक्ष्मणरावजी उदगीरकर, श्री शिवदासजी डागा, श्री जमनालालजी चोपड़ा, श्री अब्दुल रौफ सा०, श्री मूलचन्दजी बागड़ी, श्री डा० खूबचन्दजी बघेल ।

बिलासपुर—श्री राघवेन्द्रराव, श्री ठाकुर छेदीलालजी, श्री कुंजबिहारीलालजी अग्निहोत्री, डा० शिवदुलारेजी, श्री अमरसिंहजी सहगल, श्री रामगोपालजी तिवारी, श्री मथुराप्रसादजी दुबे, श्री मुरलीधरजी मिश्र, श्री काशीरामजी तिवारी, श्री भुवनभास्कर सिंहजी, श्री यदुनन्दनप्रसादजी श्रीवास्तव, डा० रामचरणराय ।

दुर्ग—श्री घनश्यामसिंहजी गुप्त, श्री द्वारकानाथजी तिवारी, श्री मोहनलालजी बाकलीबाल, श्री केशवलालजी गुमास्ता, श्री रत्नाकरजी झा, श्री नरसिंह प्रसादजी अग्रवाल, श्री बनछोड़जी ।

बालाघाट—श्री करामत हुसैन सा०, श्री मुन्शी कन्हैयालालजी, श्री शंकरलालजी तिवारी, श्री बद्रीनारायणजी अग्रवाल ।

नागपुर—डा० मुंजे, बैरिस्टर अभ्यंकर, महात्मा भगवानदीनजी, डा० एन० बी० खरे, श्री पूनमचन्दजी राँका, श्री छगनलालजी भारुका, श्री रामगोपालजी माहेश्वरी, श्री मदनगोपालजी अग्रवाल, श्री तुमपल्लीवालजी, श्री मगनलालजी बागड़ी, श्री कन्नमवारजी ।

वर्धा—श्री विनोबा भावे, श्री श्रीकृष्णदासजी जाजू, श्री जमनालालजी बजाज, काका सा० कालेलकर, श्री किशोरीलालजी मशरूवाला, श्री दादाधर्माधिकारी, श्री आर्यनायकम्, श्री श्रीमन्नारायणजी, श्री दामोदरदासजी मूंदड़ा ।

बांदा—श्री खुशालचन्दजी खजाञ्ची ।

अमरावती—वीर वामनरावजी जोशी, श्री शिवाजी राव पटवर्धन, श्री सम्भाजी राव गोखले, श्री पी० के० देशमुख ।

आकोला—श्री ब्रिजलालजी बीयाणी, श्री पा० बी० गोले, श्रीमती राधा देवीजी गोयनका, श्रीमती दुर्गाताई।

बुलढाना—श्री कानड़े शास्त्री।

यवतमाल—श्री बापूजी अणे।

मध्य भारत—श्री कन्हैयालालजी खादीवाला, डॉ० राधामोहनजी।

विन्ध्य प्रदेश—कप्तान अवधेशप्रतापसिंहजी, श्री शंभुनाथजी शुक्ल, श्री यादवेन्द्रसिंहजी, श्री राजभानसिंहजी तिवारी, श्री शिवानन्दजी।

भोपाल—श्री विट्ठलदासजी बजाज, श्री चतुरनारायणजी मालवीय, मास्टर लालसिंहजी।

परिशिष्ट ४

लेखक के ग्रन्थों की सूची

नाटक

ऐतिहासिक नाटक (पूरे)

१. कर्त्तव्य २. कर्ण ३. विकास ४. सिंहलद्वीप ५. विजयवेलि ६. शशि-गुप्त ७. अशोक ८. भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु ९. हर्ष १०. कुलीनता ११. शेरशाह १२. वल्लभाचार्य १३. रहीम १४. विश्वासघात १५. भारतेन्दु १६. महात्मा गान्धी।

ऐतिहासिक एकांकी

१. जावाल २ रैक्व और जान-श्रुति ३. कृषि-यज्ञ ४. बुद्ध की एक शिष्या ५. बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन ६. जालोक और भिखारिणी ७. चन्द्रापीड़ और चर्मकार ८. सहित या रहित ९. अट्ठानवे किसे १०. अपरिग्रह की पराकाष्ठा ११. चैतन्य का संन्यास १२. नानक की नमाज १३. शिवाजी का सच्चा स्वरूप १४. गुरु तेगबहादुर की भविष्यवाणी १५. पतन की पराकाष्ठा १६. निर्दोष की रक्षा १७. बाजीराव की तस्वीर १८. सच्चा धर्म १९. सच्ची पूजा २०. प्रायश्चित २१. भय का भूत २२. केरल का सुदामा २३. वे आँसू २४. कृष्णा कुमारी २५. अजीज़न २६. अजीबोग़रीब मुलाकात २७. महर्षि की महत्ता २८. परमहंस का पत्नी-प्रेम २९. सूखे संतरे।

सामाजिक नाटक (पूरे)

१. विश्व-प्रेम २. प्रकाश ३. नवरस ४. सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य ५. दलित-कुसुम ६. पतित-सुमन ७. पाकिस्तान ८. भूदान।

समस्यात्मक नाटक (पूरे)

१. सेवा-पथ २. दुःख क्यों? ३. बड़ा पापी कौन? ४. त्याग या ग्रहण?

५. हिंसा या अहिंसा ? ६. प्रेम या पाप ? ७. गरीबी या अमीरी ? ८. सन्तोष कहाँ ? ६. सुख किस में ? १०. महत्त्व किसे ?

सामाजिक समस्या-प्रधान एकांकी

१. स्पर्द्धा २. मानव-मन ३. निर्माण का आनन्द ४. मैत्री ५. सुदामा के तन्दुल ६. आई सी (I See) ७. यू नो (You Know) ८. हंगर स्ट्राइक ६. धोखेबाज १०. फाँसी ११. व्यवहार १२. अधिकार-लिप्सा १३. ईद और होली १४. आधुनिक यात्रा १५. उठाओ, खाओ खाना ! १६. बूढ़े की जीभ १७. चौबीस घण्टे १८. बन्द नोट १६. महाराज (दो भागों में)।

हास्य-व्यंग्य प्रधान प्रहसन (पूरे और एकांकी)

१. भविष्यवाणी २. जाति-उत्थान ३. विटेमिन ४. वह मरा क्यों ? ५. हार्स पावर ६. अर्द्ध जागृत।

सत्य घटनाओं के आधार पर कुछ एकांकी

१. कंगाल नहीं २. सच्चा कांग्रेसी कौन ? ३. पाप का घड़ा।

एक-पात्री नाटक

१. शाप और बर २. षट्दर्शन ३. प्रलय और सृष्टि ४. अलबेला ५. सच्चा जीवन।

कुछ वैदेशिक कथाओं पर रचित पूरे नाटक और एकांकी

१. मातासाई २. धर्मभीरु ३. सिंगपाई लान ४. मुकदेन ५. स्तारिक और बाबुश्के ६. गुलबीबी या इस्लामी दुनिया में पर्दे की खाक ७. परों वाले कारखाने ८. स्तखानोफ या छोटे से छोटे से बड़े से बड़ा ६. दो मूर्तियाँ।

उपन्यास

इन्दुमती

यात्रा-साहित्य

१. हमारा प्रधान उपनिवेश (अफ्रीका की यात्रा)

२. सुदूर दक्षिण-पूर्व (न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, फीजी, मलाया की यात्रा)

३. पृथ्वी-परिक्रमा (मिस्र, यूनान, इटली, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, कैनेडा, अमेरिका, हवाई द्वीप, जापान, चीन, स्याम, बर्मा की यात्रा)।

काव्य

१. प्रेम विजय (महाकाव्य) २. शबरी ३. स्नेह या स्वर्ग (पद्यात्मक नाटक) ४. संवादसप्तक (सात संवाद) ५. पत्र-पुष्प (स्फुट कवितायें)।

आत्म-कथा

आत्म-निरीक्षण।

कुछ रेखाचित्र और संस्मरण, निबन्ध और भाषण-संग्रह

परिशिष्ट ५

लेखक की वैदेशिक यात्राएँ

सन् १९३७-३८

पूर्वी अफ्रिका,—

कीनिया, जंजीबार, टैंगनीका, युगांडा, पोर्चुगीज ईस्ट अफ्रिका।

दक्षिणी अफ्रीका

ट्रान्सवाल, नैटाल।

सन् १९५०

न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, फीजी, मलाया।

सन् १९५२

मिश्र, यूनान, इटली, स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस, इंगलैण्ड, कनेडा, अमरीका, हवाई द्वीप, जापान, चीन, स्याम, बर्मा।